भारतीय शिक्षा का इतिहास

प्रथम भाग

प्राचीन तथा मध्य काल

लेखक

मुनेश्वर प्रसाद

एम० ए० (हिन्दी, इतिहास), एम० एड्०

असिस्टेंट एजुकेशनल लिटरेचर ऑफिसर

बिहार

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड

पटना—४

मूल्य ६)

मुद्रक

श्री राजेश्वर झा

श्रीअजन्ता प्रेस लि०, पटना-४

प्राक्कथन

हिन्दी में शिक्षा-सम्बन्धी साहित्य का निर्माण अबतक बहुत कम हुआ है। भारतीय शिक्षा के इतिहास की प्रामाणिक पुस्तकें तो हिन्दी में शायद ही उपलब्ध हैं। फलतः शिक्षा से अभिरुचि रखनेवाले बहुत-से लोग भारतीय शिक्षा के गौरवपूर्ण अतीत तथा उसके परवर्ती इतिहास के परिज्ञान से वंचित रह जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन इस अभाव की किंचित् पूर्ति के उद्देश्य से हुआ है। इस उद्देश्य की पूर्ति में मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ, यह तो सहृदय पाठक ही कह सकेंगे। मैंने भरसक अपनी रचना को वैज्ञानिक, पूर्णतया प्रमाण-संबलित बनाने की चेष्टा की है।

पुस्तक का विस्तार दो भागों में किया गया है। प्रथम भाग में भारतीय शिक्षा के प्राचीन तथा मध्यकालीन स्वरूप के उद्भव तथा विकास का विवेचन किया गया है। द्वितीय भाग में भारतीय शिक्षा के आधुनिक स्वरूप की ऐतिहासिक व्याख्या की गई है। द्वितीय भाग की छपाई में कुछ विलम्ब होने के कारण, सम्प्रति पुस्तक का प्रथम भाग ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है। आशा है, द्वितीय भाग भी शीघ्र ही उनके कर-कमलों तक पहुँचने में समर्थ हो सकेगा।

अपनी पुस्तक की रचना में, मैंने जिन ग्रंथों, पुस्तकों, रिपोर्टों तथा पत्र-पत्रिकाओं से सहायता ली है, उनके नाम पुस्तक के द्वितीय भाग के अन्त में दिए गए हैं। इनके रचयिताओं, लेखकों तथा सम्पादकों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी, डाक्टर ए० एस० अल्तेकर, श्री एन० एन० ला, श्री सैयद नुरुल्ला तथा श्री जी० पी० नायक प्रभृति कुछ विद्वानों का मैं विशेष आभारी हूँ। इनकी रचनाओं ने ही मुझे प्रेरणा तथा सम्बल दोनों ही दिए।

'प्रूफ' पढ़ने में असावधानी तथा अन्य कारणों से पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। इसके लिए मैं पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। अगले संस्करण में इन त्रुटियों को दूर करने की पूरी चेष्टा की जायगी।

पुस्तक के प्रकाशन में श्रीअजन्ता प्रेस के प्रबंध-संचालक श्री जयनाथ मिश्र ने बड़ी दिलचस्पी ली है। इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता।

आशा है, भारतीय शिक्षा के इतिहास में अभिरुचि रखनेवाले सज्जन, शिक्षक तथा छात्र मेरी इस अकिंचन कृति को अंगीकार कर मुझे कृतार्थ करेंगे।

पटना
३० अगस्त, १९५५

मुनेश्वर प्रसाद

विषय-सूची

खण्ड १

प्राचीन काल

खंड २

मध्यकाल

अपनी

बहन

और

जितू की माँ

'कमल'

को

पहला अध्याय

सामान्य परिचय

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति के सम्यक् मूल्यांकन के लिये यह आवश्यक है कि इस शिक्षा-पद्धति के आधारभूत सिद्धान्तों का एक स्पष्ट परिचय प्राप्त किया जाय। भारतीय आर्य अथवा हिन्दू-संस्कृति की यह विशेषता है कि इस संस्कृति की सारी वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ धर्म की आधार-भूमि पर ही प्रतिष्ठापित तथा पल्लवित हैं। धर्म न केवल मानव-जीवन का अन्तिम पारलौकिक लक्ष्य निर्दिष्ट करता है, बल्कि इस लक्ष्य के साधन के रूप में कर्म, उपासना तथा ज्ञान की विशद पद्धतियाँ निरूपित करता है, जिनके वृत्त में मनुष्य के सारे वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यापार सन्निविष्ट हैं। भारतीय संस्कृति के दीर्घ-कालीन इतिहास में धर्म की यह प्रधानता बरा-बर विद्यमान रही है। रहन-सहन, रस्म-रिवाज, कला-कौशल सभी का मूल-स्रोत धर्म ही रहा है। शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में तो धार्मिक प्रभाव स्पष्टतया अंकित है। भारतीय आर्यों की प्रथम साहित्यिक वाणी ऋग्वैदिक मंत्रों में ही ध्वनित हुई। ऋग्वेद की रचना के लगभग एक हजार वर्ष बाद तक भी भारतीय साहित्य को धार्मिक भावनाएँ ही सतत अनु-प्राणित करती रहीं।*

भारतीय दर्शन में मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य एक विशेष प्रकार के तात्त्विक चिन्तन-पद्धति पर निरूपित है, जिसकी स्पष्टतम अभिव्यंजना उपनिषदों में हुई है। इस पद्धति के अनुसार मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म अथवा

---

*Since the birth of the oldest Vedic poetry we find Indian literature for a period of more than a thousand years bearing an exclusively religious stamp".

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education, Prologue VVI.

अन्तिम सत्ता (Absolute) की प्राप्ति होना चाहिए, जो कि वह स्वयं है। समस्त भासमान जगत् भी उसी ब्रह्म से परिव्याप्त है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।*

तत्त्वमसि।†

जीव और ब्रह्म का लौकिक विभेद वास्तव में अज्ञान-जनित तथा मिथ्या है। अस्तु, मनुष्य को चाहिए कि उचित "कर्मोपासना में प्रवृत्त होकर अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा" परम ज्ञान प्राप्त करे, जिसके द्वारा वह ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को समझने तथा उस स्वरूप में अपने को अन्तर्भूत करने में समर्थ हो सके। जबतक जीव और ब्रह्म का एकीकरण स्थापित नहीं होता तबतक जीव का कल्याण नहीं हो सकता। फलतः ब्रह्म, जीव तथा जगत् के उपरोक्त तात्त्विक सम्बन्ध के परिज्ञान का नाम ही विद्या है, वास्तविक ज्ञान है। इस सम्बन्ध की अज्ञानकारिता अथवा उसमें अनिष्ठा होनी ही अविद्या है, अज्ञान है। अविद्या के कारण ही जीव ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी "अपने वास्तविक, अजन्मा, अविनाशी, सच्चिदानन्दमय आत्म-स्वरूप को विस्मृत कर अपने को जन्म-मरण-धर्मा, कर्त्ता, भोक्ता, सुख-दुःख-वान् मान बैठा है और मिथ्या जगत् में सत्यबुद्धि करके स्वनिर्मित कर्मपाश में फँस स्वयं बंधकर जन्म-मरण की संसृति में फैला हुआ अत्यन्त दुख भोग रहा है। जीव के सकल दुःखों के कारण इस अविद्या की निवृत्ति के लिए उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन के साथ-साथ जगत् के मिथ्यात्व का उपदेश भी हुआ है।"

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।

किन्तु "जगत् की सत्य-प्रतीति और ब्रह्म की अप्रतीति तबतक होती रहती है, जबतक अविद्या-अन्धकार की निवृत्ति नहीं होती। विद्यारूपी प्रकाश द्वारा अधिष्ठान का निश्चय होते ही स्पष्ट हो जाता है कि स्वाधिष्ठान ब्रह्म-सत्ता ही पारमार्थिक सत्य है और रज्जु में अध्यस्त सर्प के समान ब्रह्म में अध्यस्त जगत् मिथ्या है।"

यह विद्या अथवा परम ब्रह्म की प्रतीति इन्द्रिय-जनित वाह्यात्मक ज्ञान से संभव नहीं। इस प्रकार के ज्ञानार्जन से मस्तिष्क दूषित हो जाता है, जिसके

---

* छान्दोग्य उपनिषद्—३।१४।१

—३।८।७

फलस्वरूप आत्मा भी कलुषित होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाती है ।* फलतः वाह्यात्मक भौतिक ज्ञान वस्तुतः अविद्या है, जो कि जीव को ब्रह्म से पृथक् रखती है । वास्तविक विद्या अथवा परम ज्ञान की उपलब्धि चित्त-वृत्तियों के निरोध तथा अन्तर्मुखी साधना से ही संभव है । अतः शिक्षा एक साधनात्मक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा परम ज्ञान का जिज्ञासु अपनी समस्त चित्त-वृत्तियों को वाह्य-जगत् से समेट कर अन्तर्जगत् में अध्यारोपित करता है और एकनिष्ठ होकर ब्रह्म के साक्षात्कार तथा प्राप्ति की चेष्टा करता है । उपनिषद् में इस प्रक्रिया के उचित निर्वाह की रीति भी वर्णित है ।

श्रवणं तु गुरोः मननं तदनन्तरम् ।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम् ।†

इस रीति के द्वारा शिक्षार्थी सुयोग्य गुरु के उपदेश को श्रवण करता है तथा उस पर मनन करते हुए निदिध्यासन के द्वारा "स्वात्मानुभूतिमय ज्ञान-दीपक प्रदीप्त करता है और अन्ततः नित्य बोधमय निज स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सच्चिदानन्द का सर्वत्र अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्ति का परमानन्द लाभ कर ब्रह्म की अद्वितीय चिन्मय सत्ता में प्रवेश कर जाता है ।"

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ।
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।‡

जीवन का यही अन्तिम लक्ष्य है, विद्या का यही तात्पर्य और शिक्षा का यही उद्देश्य । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह विद्या लौकिक विद्या नहीं, अपितु अध्यात्म-विद्या है । कृष्ण भगवान ने स्वयं कहा है:—

'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' §

'मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या हूँ ।' मुण्डकोपनिषद् में यह विद्या 'पर विद्या' कही गयी है, जिसके द्वारा ही अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है ।

---

*The theory is that the mind seeking external knowledge contacts and is contaminated and transformed by Matter and communicates this contamination to the soul. R. K. Mookerji—Ancient Indian Education Prologue XXIV.

† शुकरहस्य —३।१३

‡ वृहदारण्यक उपनिषद्—४।४।६

§ गीता—१०।३२।

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।*

इस विद्या द्वारा जीव न केवल ब्रह्म की प्रतीति उपार्जित करता है, बल्कि वह सदा के लिए अपने को ब्रह्म में अन्तर्भूत कर देता है, अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।†

"ब्रह्म के जान लेने के पश्चात् मनुष्य सभी सांसारिक बंधनों से छूट जाता है और वह जन्म-मरण के परे हो जाता है।"

जीव के क्लेश का माध्यम उसका भौतिक शरीर ही है।

'न ह वै शरीरस्य सतः प्रियाप्रियारेपहतिरस्ति ।‡

यह निश्चित है कि 'जब तक शरीर बना हुआ है, तब तक सुख और दुःख का निवारण नहीं हो सकता।' शरीर का हेतु जन्म है, अतः जन्म ही समस्त क्लेशों का मूल कारण है। साथ ही मृत्यु जीवन का अन्त नहीं, बल्कि एक दूसरे जन्म का प्रवेश-द्वार है। मृत्यु का प्रयोजन केवल इतना है कि वह जन्म-मरण की शृंखला को अविच्छिन्न रखे। यह शृंखला तो तभी निःशेष होगी जबकि जीव अपनी वैयक्तिक इकाई को उस परम सत्ता में सर्वदा के लिए विलीन कर दे, जिससे च्युत होकर वह आवागमन की क्रिया में प्रवृत्त था। जन्म-मरण की यह परिभाषा भारतीय दर्शन की एक विशेषता है, जिसमें मृत्यु जीवन का अन्त नहीं, बल्कि एक पहलू है।

स्पष्टतः, जीवन के व्यापार मृत्युशील जीवन के समाधान तक ही केन्द्रित नहीं रह सकते। इन व्यापारों को उस जीवन का समाधान खोजना चाहिए, जिसका अन्त मृत्यु नहीं, बल्कि मोक्ष है। ये ही निर्दिष्ट व्यापार भारतीय संस्कृति में धर्म के व्यापक वृत्त में सन्निविष्ट हैं तथा कर्म, उपासना और ज्ञान की सुनिश्चित प्रणालियों में संगुम्फित हैं। अतः "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" के अनुसार प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में न केवल ज्ञानार्जन की आवश्यकता प्रतिपादित थी, बल्कि इस शिक्षा-पद्धति में उन कर्त्तव्यों तथा आचरणों की शिक्षा भी अनिवार्य थी, जो कि धर्म के द्वारा निर्धारित थे। गीता के उपदेश हैं:—

---

* मुण्डकोपनिषद्—१।५

† श्वेताश्वतरोपनिषद्—१।१२।१, दे० गीता—१८।६१।६२

‡ छान्दोग्योपनिषद्—८।१२।१ ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।*

तथा

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।†

"इस तरह कर्मक्षेत्र में शास्त्र-सम्मत कर्त्तव्य-पालन ही समस्त वेद-ज्ञान का सार और सब उन्नति का मूल है ।"

स्वभावतः प्राचीन शिक्षा-पद्धति इन शास्त्र-सम्मत कर्मों की शिक्षा से उदासीन नहीं रह सकती थी । सद्गुरु के संरक्षण में प्राचीन शिक्षार्थी इन समस्त धार्मिक कर्त्तव्यों का समुचित ज्ञान प्राप्त करता था और आश्रम के दैनिक कार्यक्रम के निर्वाह में इनकी व्यावहारिक शिक्षा को भी बहुलांश में उपलब्ध करता था । शिक्षा की समाप्ति पर वह इन कर्त्तव्यों के आजीवन पालन के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध होता था । समावर्तन-संस्कार के अवसर पर गुरु शिष्य के सम्मुख इन कर्त्तव्यों की सूची उपस्थित करते हैं, और इनके पालन का आदेश देते हैं ।

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । आदि-आदि ।‡

सत्य बोलो । धर्म का आचरण करो । स्वाध्याय में निरत रहो । माता-पिता, गुरु को देवतुल्य समझो.........आदि ।

यों तो, भारतीय शिक्षा-पद्धति में कर्म की उपेक्षा न थी, किन्तु इसकी अपेक्षा वहीं तक थी जहाँ तक कि वह मोक्ष की प्राप्ति में सहायक बन सके । कर्म जीवन को जगत् से आबद्ध करने के लिए नहीं, बल्कि इससे विमुक्त करने के लिये था ।

"तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये ।"

कर्म धर्म था, कामना नहीं; कर्त्तव्य था, स्वेच्छा नहीं; मुक्ति था, बन्धन नहीं । धर्म के द्वारा प्रतिष्ठापित कर्म जीव को नाना सांसारिक आसक्तियों से

* गीता—१८।४५

† गीता—१६।२३-२४

‡ दे०—तैत्तिरीय उपनिषद्—१।११

दूर रख कर उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के उपयुक्त बनाते थे । इस तरह भारतीय संस्कृति में जीवन का साध्य जगत् नहीं, बल्कि ब्रह्म है । जीव के आत्मोत्कर्ष की प्रक्रिया में जगत् एक साधन मात्र है और इसका उपयोग वहीं तक समीचीन है, जहाँ तक कि वह इस साध्य की प्राप्ति में बाधक न हो । यही कारण है कि भारतीय आर्य-संस्कृति के प्रतीक न मिस्री पिरामिड हैं, न अन्य भौतिक स्मारक । इसके प्रतीक हैं वेद और उपनिषद्, रामायण और महाभारत, बुद्ध और गांधी । इस संस्कृति के सुदृढ़ नैतिक आधार हैं—सादा रहन-सहन और उन्नत विचार (Plain living and high thinking), जिन पर ही भारतीय आर्य-संस्कृति आज तक पल्लवित तथा समृद्धिशाली होती आयी है ।

ब्रह्म और जीव के उपरोक्त तात्त्विक निरूपण के दो परिणाम शिक्षा के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । "अहम् ब्रह्मास्मि" के प्रतिष्ठापन के द्वारा व्यक्ति की उच्चतम मर्य्यादा प्रतिपादित की गई है । इस मर्य्यादा को अक्षुण्ण रखकर ही समाज का संगठन तथा संचरण हो सकता है । समाज व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति समाज के लिए । फलतः प्राचीन भारत की सारी सामाजिक व्यवस्थाएँ व्यक्तित्व के उत्कर्ष की परिपोषक थीं, निषेधक नहीं । व्यक्ति समाज के सुविशाल चक्र का एक महज काष्ठ अथवा एक अंग मात्र नहीं था, बल्कि वह इस चक्र का केन्द्र-बिन्दु अथवा धुरी था, जिसकी शक्ति तथा समृद्धि में ही समाज की शक्ति तथा समृद्धि सन्निहित थी । प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्थाएँ छोटे-छोटे स्वावलम्बी, स्वाश्रयी तथा स्वनिर्मित परिवारों तथा ग्रामों में विकेन्द्रित थीं, जिनमें वैयक्तिक मर्य्यादा अधिकतम अंश में सुरक्षित थी । औद्योगिक क्षेत्र में भी श्रम की प्रेरणा प्रधानतः आभ्यंतरिक थी, बाह्यात्मक नहीं । सभी श्रमजीवी अपने स्वनिर्मित व्यवसायों में स्वेच्छा से संलग्न रहते हुए सामाजिक व्यवस्था को गतिशील रखते थे । शिक्षा के द्वारा मानव-व्यवितत्व पूर्णतः परिपुष्ट होकर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त होता था । व्यक्तित्व का यह उच्चतम विकास अथवा आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है । किन्तु यह विकास वाह्यात्मक तथा भौतिक नहीं, बल्कि आभ्यंतरिक होना चाहिए । ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु को जल-कमल के समान अपने वातावरण के समस्त अधोमुखी भौतिक प्रेरणाओं से निर्लिप्त रहकर दिव्य ज्योति की खोज करनी चाहिए । परिवेष्टित जलराशि को सुरभित करते हुए भी कमल अपना लक्ष्य सुदूर जाज्वल्यमान भग-

वान भास्कर की ओर प्रेरित रखता है। ठीक उसी तरह मानव-व्यक्तित्व अपने भौतिक वातावरण को एक सौष्ठव तथा सौम्यता प्रदान करता हुआ अपने विकास की प्रेरणा उस पारलौकिक प्रकाश से ग्रहण करता है, जिसकी एक क्षीण ज्योति उसकी अन्तरात्मा में सतत उद्भासित रहती है। प्राचीन भारत की शिक्षापद्धति में व्यक्ति और समाज का यही पारस्परिक सम्बन्ध था तथा इसी सम्बन्ध की परिपुष्टि प्राचीन ऋषिकुलों में होती थी।

वैयक्तिक मर्य्यादा के उच्चतम प्रतिष्ठापन के साथ-साथ भारतीय ब्रह्म-वाद ने एक सार्वभौम विश्व-बन्धुत्व की भावना प्रतिपादित की, जो कि विश्व को भारतीय संस्कृति की सबसे मूल्यवान देन है।* "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" में धार्मिक औदार्य की पराकाष्ठा है। भारतीय ब्रह्मवाद देश, काल, वर्ण तथा जाति से परे है। वस्तुतः यह मानव-धर्म है, जाति-धर्म नहीं।† मानव-धर्म के सभी परवर्ती प्रवर्त्तकों—बुद्ध, ईसा, गांधी के उपदेशों में उपनिषदों की चिन्ताधारा ही अनुस्यूत है। सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहर (Schopenheur) ने 'उन्नीसवीं शताब्दी' के प्रथम भाग में जोरदार शब्दों में ब्रह्मवाद की सार्व-भौमता अभिव्यक्त की है। १

अस्तु, भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में विश्व-बन्धुत्व की भावना स्वभावतः सन्निहित थी। गुरुकुलों के विद्यार्थियों का सामाजिक जीवन भ्रातृ-भावना से परिपूर्ण था। उच्च-नीच के भेद-भाव से रहित होकर सभी ब्रह्म-चारी एक तरह का विद्यार्थी-जीवन व्यतीत करते थे। गुरु की सेवा, भूमि की सेवा, गो की सेवा सभी के लिए समान रूप से वांछित थी। राजपुत्र तथा सामान्य विद्यार्थी, दोनों ही होम की लकड़ियाँ एकत्र करते थे। दोनों ही भिक्षाटन करते, दोनों ही एक तरह की वेश-भूषा रखते, दोनों ही एक तरह का भोजन करते थे। प्रकृति के उत्मुक्त वातावरण में वे उस सार्व-भौम सत्ता का निरन्तर दर्शन पाते, जिसकी सार्वभौमता तथा अनन्तता की प्राप्ति ही उनके जीवन का अन्तिम लक्ष्य था। सार्वभौम बन्धुत्व की इस व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ उनके समस्त मानस-क्षितिज में एक ही दिव्य ज्योति सतत उद्भासित रहती थी। वह थी उस सत्ता की ज्योति जो

---

*This old Indian approach was not a narrow nationalistic one—J. Nehru—Discovery of India—P. 73.

†It is destined sooner or later to become the faith of the people.

Schopenheur—Nineteenth century: Part I.

अनन्त है, देश-काल की सीमा से परे है । इस तरह आभ्यन्तरिक ज्ञान तथा व्यावहारिक आचार, दोनों के द्वारा उनकी संकीर्ण जन्मजात वैयक्तिक इकाई एक सार्वभौम, समुदार तथा समुन्नत व्यक्तित्व में परिवर्तित हो जाती थी । भारत के इस सांस्कृतिक औदार्य के कारण ही विश्व की अनेक संस्कृतियाँ यहाँ की पुनीत सांस्कृतिक सरिता में घुल-मिलकर एक हो गईं ।

शिक्षा के उपरोक्त उद्देश्य तथा आदर्श प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति का स्वरूप निर्धारित करते हैं ।

१—जनपद के संघर्ष तथा कोलाहल से दूर सुरम्य वन-प्रान्त में ऋषि का आश्रम अवस्थित रहता था । प्राचीन भारत का विद्यार्थी यहीं प्रकृति के अंचल में अपना शारीरिक तथा मानसिक विकास करता था । विशुद्ध वायु, स्रोतस्विनी का स्वच्छ मीठा जल, हरे-ताजे फल, पौष्टिक कन्द-मूल, और गुरु का प्रसाद उसके शरीर को सबल और सौम्य बनाते थे । उन्मुक्त आकाश, हरी-भरी वनस्थली, सुभाषिणी निर्झरिणी, भोले-भाले मृगशावक आदि के निरन्तर सहवास से उसके हृदय में एक नैसर्गिक उल्लास उत्पन्न होता, जिसमें न किसी प्रकार की वासना होती, न किसी प्रकार का द्वन्द्व । प्रकृति के उद्दाम वैभव में वह सार्वभौम सर्वशक्तिमान मूल सत्ता का आभास पाता, जिसकी खोज तथा प्राप्ति उसके जीवन के लक्ष्य थे । जन-समूह के सांसारिक संघर्षों तथा प्रतिबन्धों से विमुक्त रहकर वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण अनुभव करता तथा उसे प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में परिपुष्ट करता था । गुरु के आदेशों के सिवा उसके व्यवितत्व को आँच पहुँचानेवाली एक उँगली भी नहीं उठ सकती थी । नगर के आधुनिक विद्यार्थी की वैयक्तिक इकाई जन-समूह के अनुशासन में सर्वथा विलुप्त हो जाती है । राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य हलचलों में उसका वैयक्तिक अस्तित्व नगण्य-सा दीख पड़ता है । प्राचीन विद्यार्थी का गुरुकुल समाज को नेतृत्व देता था । आज के विद्यार्थी का विद्यालय अधिकतर समाज से नेतृत्व ग्रहण करता है । छात्रों के वन-प्रान्तीय गुरुकुलों से ही प्राचीन भारत की सांस्कृतिक रश्मियाँ विकीर्ण होती थीं । प्रकाश का स्रोत नगर या राजपरिवार नहीं, बल्कि ऋषियों का आश्रम था । कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुसार भारतीय संस्कृति का निर्माण नगरों में नहीं, अपितु, वन-प्रान्तीय आश्रमों में ही हुआ था ।*

---

*A most wonderful thing we notice in India is that here the forest not the town is the fountain-head of all its civilization.—Rabindra Nath Thakur in R. K. Mookerji's Ancient Indian Education—Prologue XXXV.

२—भारत के प्राचीन विद्यालय स्वतन्त्र वैयक्तिक संस्थाएँ थे जिनपर वाह्यात्मक राजकीय अथवा सामाजिक प्रभुत्व न था। इन विद्यालयों के स्वरूप, पाठ्य-विषय, पाठन-प्रणाली आदि के निर्धारण स्वयं शिक्षकों के द्वारा उन आध्यात्मिक आदर्शों पर किये जाते थे, जिनके स्रष्टा तथा संरक्षक ऋषि थे। विद्यालय के कार्य-कलापों में किसी वाह्य शक्ति को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था। फलतः प्राचीन भारत के विद्यालय अथवा गुरुकुल अपने लक्ष्य की प्राप्ति की ओर निर्विघ्न संलग्न रहते थे। इनके स्वाभाविक कार्यक्रम में किसी तरह का वाह्यात्मक अवरोध उपस्थित नहीं होता था। आधुनिक विद्यालयों की प्रेरणा अधिकांशतः वाह्यात्मक हुआ करती है और फलतः शिक्षा का सृजनात्मक स्वरूप प्रायः विनष्ट-सा हो गया है। शिक्षा भौतिक सत्ता की परिचारिका मात्र रह गई है, जिसके संरक्षण तथा समृद्धि में ही इसकी सारी चेष्टाएँ लग्नशील रहती हैं। जीवन से दूर होकर यह जगत् में नितान्त अन्तर्भूत हो गई है, जिसके फलस्वरूप वैयक्तिक तथा सामाजिक विशृंखलता सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है। भौतिकवाद की प्रधानता के कारण आत्मवाद सर्वथा गौण हो गया है। प्राचीन शिक्षा-पद्धति में जीवन और जगत् का एक सुन्दर समन्वय था, जिससे एक सन्तुलित व्यक्तित्व (integrated personality) का अभ्युदय होता था। यह व्यक्तित्व भौतिक समृद्धियों का उपयोग करते हुए भी मानवीय आदर्शों के संरक्षण तथा समृद्धि में प्रयत्नशील रहता था, और अन्ततः ईश्वरत्व को प्राप्त होता था, जो कि उसका लक्ष्य था।

३—ब्रह्म की प्राप्ति अथवा मोक्ष की समस्या वैयक्तिक थी। फलतः प्राचीन शिक्षा-पद्धति का केन्द्र-विन्दु व्यक्ति (Individual) ही था। प्राचीन भारत का शिक्षक किसी वर्ग अथवा विद्यालय का शिक्षक नहीं, अपितु छात्र-विशेष अथवा शिष्य का गुरु था, जिसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के ऊपर उसकी पूरी देख-रेख रहती थी तथा जिसके वांछित विकास के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता था। गुरु के वैयक्तिक संरक्षण के विना शिष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव नहीं। फलतः प्राचीन भारत का छात्र अपने माता-पिता तथा गृह-वातावरण से दूर होकर अपने को गुरु के चरणों में समर्पित करता था। उपनयन के द्वारा उसका दूसरा जन्म होता था तथा वह द्विज की संज्ञा प्राप्त करता था। माता-पिता ने उसे भौतिक जन्म दिया था, आध्यात्मिक जन्म उसका तब होता था, जब वह उपनयन-संस्कार के सम्पादन के द्वारा गुरु का शिष्यत्व ग्रहण करता था। दूरस्थ वन-प्रान्त में उसके सारे दैहि

एवं मानसिक व्यापार एक निर्दिष्ट उद्देश्य की ओर नियमित गति से प्रचालित होते रहते थे। प्रातःकाल से निद्रा-पर्यन्त वह गुरु के पर्यवेक्षण में, उनके नियमों के पालन में, निरत रहता था। गुरु-शिष्य का यह निकटतम वैयक्तिक सम्बन्ध प्राचीन भारत की व्यावसायिक शिक्षा में भी अनिवार्य था। व्यावसायिक विद्या का शिक्षार्थी अपने विषय के विशेषज्ञ गुरु के यहाँ लगभग उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करता था, जिस प्रकार का जीवन ऋषियों के आश्रम में ब्रह्मचारी व्यतीत करते थे। अपने गुरु के निरन्तर सहवास से वह न केवल कारीगरी-सम्बन्धी यांत्रिक ज्ञान प्राप्त करता था, बल्कि इस कारीगरी के आधारभूत प्रेरणा का स्वरूप भी समझता था, जिससे अनुप्राणित होकर कलाकार की कला मूर्त्त हो उठती थी। इस तरह भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की तरह न यांत्रिक थी, न निष्प्राण। छात्रों के दैनिक कार्यक्रम के पीछे एक सजीव प्रेरणा सतत क्रियाशील रहती थी, जिसका सर्वथा अभाव आधुनिक शिक्षण-पद्धति में है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्री यांत्रिक शिक्षण-प्रणाली के विरुद्ध पूर्ण मतैक्य रखते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध वैयक्तिक हो। इस वैयक्तिक स्नेहात्मक सम्बन्ध से न केवल व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं की पूर्ण परख तथा देख-रेख होगी, बल्कि छात्र के हृदय को एक सहानुभूति तथा स्नेह प्राप्त होगा, जिसके अभाव में न वह अपने व्यक्तित्व की पहचान ही कर पाता है, न विकास ही।

४—प्राचीन भारत का शिष्य गुरु का न केवल विद्यार्थी था, अपितु गुरु के परिवार का एक सदस्य था। इस परिवार के दैनिक कार्यक्रम में वह भाग लेता था तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रथम पाठ ग्रहण करता था। गुरु की सेवा-शुश्रूषा, उनकी पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति तथा अन्य आश्रम-वासियों की देख-रेख आदि सभी बातें उसके दैनिक कार्यक्रम में सम्मिलित थीं। प्रातः-काल उठकर वह जंगल जाता, होम के लिये लकड़ियाँ इकट्ठा करता, अग्नि प्रज्वलित करता तथा अपने वातावरण के साथ-साथ अपने मानस जगत् को भी आलोकित करता। गौ माता के लिए वह हरी-हरी घास लाता तथा अन्य प्रकार से उनकी सेवा में निरत रहता। नियमानुसार वह समीपस्थ ग्रामों में भिक्षाटन के लिए जाता और प्राप्त अन्न को गुरु की अन्नशाला में संगृहीत करता। उपयुक्त समय में वह एकाग्रचित होकर गुरु की वाणी सुनता तथा उसे हृदयंगम करने की चेष्टा करता। सायंकाल संध्या आदि के

आयोजन तथा सम्पादन में वह गुरु की सहायता करता। गुरु के भोजन तथा शयन के उपरान्त वह रात्रि का विश्राम ग्रहण करता। यह था ब्रह्मचारी छात्र का दैनिक कार्यक्रम।

५—छात्र की शिक्षा कोरी मानसिक नहीं, अपितु व्यावहारिक थी। वाह्य जगत् के क्रिया-कलापों, वैयक्तिक आचरण तथा सामाजिक रीति-नीतियों की वह पूर्णतः व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करता था। अन्तर्जगत् की शिक्षा भी अनुभवात्मक थी। उसे गुरु की वाणी कोरे व्याख्यान के रूप में न सुननी थी, बल्कि उस वाणी की आत्मा को साधनात्मक स्वाध्याय के द्वारा पहचाननी थी। परम ज्ञान की प्राप्ति मंत्रों के श्रवण मात्र से संभव नहीं था। इसके लिये चिन्तन तथा साधना की आवश्यकता थी, ताकि वह परम सत्य की ज्योति का स्वयं साक्षात्कार कर सके।

श्रवणं तु गुरोः मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम्॥

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, ये तीन प्रक्रियाएँ उसकी मानसिक शिक्षा में सन्निहित थीं। श्रवण के द्वारा वह गुरु की वाणी का वाह्यात्मक स्वरूप ग्रहण करता, मनन के द्वारा इस स्वरूप की आत्मा को पहचानता तथा निदिध्यासन के द्वारा इसे आत्मा तक पहुँचाने की चेष्टा करता। इस तरह उसका उपार्जित ज्ञान 'गट्ठे का बोझ' न था, जिसे आधुनिक विद्यार्थी परीक्षाभवन में फेंककर अपनी पीठ हलका कर लेता है। प्राचीन शिष्य का मानसिक भार उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता था, जिसे न कभी वह फेंक सकता था और न फेंकने की इच्छा रखता था।

इस तरह प्राचीन भारत का शिष्य एक आदर्श वातावरण में अपने गुरु के निरन्तर साहचर्य्य, संरक्षण तथा उपदेश के द्वारा सर्वांगीण शिक्षा प्राप्त करता था तथा एक उत्कृष्ट व्यक्ति बनकर धर्म के पालन में आजीवन संलग्न रहता था।

दूसरा अध्याय

ऋग्वैदिक शिक्षा

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति अथवा ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति का मूल-स्रोत ऋग्वेद है। ऋग्वेद का रचना-काल अभी तक निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सका है। जैकोबी तथा बालगंगाधर तिलक, ज्योतिष-गणना के आधार पर, ऋग्वेद का समय ई० पूर्व. ४५००–६००० वर्ष मानते हैं। किन्तु सामान्यत: ऋग्वैदिक मंत्र ई० पू० २००० से पहले विरचित नहीं कहे जाते। * ऋग्वैदिक मंत्रों का आविर्भाव चाहे जब भी हुआ हो, इतना निश्चित है कि ऋग्वेद संहिता में भारतीय संस्कृति के कई शताब्दियों का इतिहास सन्निविष्ट है। † ऋग्वेद भारतीय आर्यों का सांस्कृतिक प्रभात नहीं, अपितु मध्याह्न द्योतित करता है। ‡ भारतीय सांस्कृतिक सूर्य को उन्मुक्त गगन के मध्य-विन्दु पर पहुँचने में न केवल सैकड़ों वर्ष लगे, बल्कि उन्हें अगणित आलोक-रश्मियाँ भी विकीर्ण करनी पड़ीं। ऋग्वैदिक संस्कृति के निर्माण के पीछे उन अनेक ऋषि-मुनियों की कठोर तपस्याएँ छिपी हैं, जिन्होंने सत्य की खोज में अपने जीवन उत्सर्ग कर दिये थे। वस्तुत: ऋग्वैदिक मंत्र उच्चतम साधनात्मक चिन्तन के ही प्रतिफल हैं। इस प्रकार के चिन्तन में अनवरत संलग्न ऋषि-मुनियों द्वारा ऋग्वैदिक मंत्र 'अपौरु-

---

*Advanced History of India—Mazumdar, Rai-chowdhury & Dutta—P. 22.

† Centuries must have elapsed between the composition of the earliest hymns and the completion of the Sanhita of the Rig Veda—Winternitz.

‡It does not mark the dawn of its culture but rather its meridian.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education P. 17.

षेय' रूप में भरतभूमि पर अवतीर्ण हुए थे। ये ऋषि-मुनि द्रष्टा थे, जिन्होंने ऋग्वैदिक ज्ञान का स्वयं साक्षात्कार किया था।

इस तरह, स्वयं ऋग्वैदिक मंत्र एक विशिष्ट शिक्षा-पद्धति द्योतित करते हैं। इस शिक्षा-पद्धति के दो रूप थे। पहले के द्वारा, ऋग्वैदिक मंत्रों का सृजन हुआ तथा दूसरे के द्वारा इनका संरक्षण। एक का सम्बन्ध अन्तर्मुखी साधनात्मक चिन्तन से था; दूसरे का सम्बन्ध विशेषतः स्मरण की वाह्यात्मक यांत्रिक रीतियों से। एक के द्वारा नये ज्ञान का अन्वेषण तथा निर्धारण हुआ, दूसरे के द्वारा इनका संरक्षण, संवर्द्धन तथा प्रसार। जिन ऋषि-मुनियों ने ऋग्वैदिक मंत्रों को अवतीर्ण किया, वे अनेक जिज्ञासु ऋषि-मुनियों के प्रतिनिधि-स्वरूप थे। ऋग्वेद में सात ऐसे ऋषियों का विवरण मिलता है, जो उच्चतम ज्ञान के साक्षात्कार के लिये 'तपस्' में अनवरत संलग्न हैं।

तपसे ये निषेदुः। *

ऋग्वेद १०, १३६, २ में मुनि शब्द उन साधकों के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो वृक्षों के छाल पहनते थे तथा निरन्तर समाधि में संलग्न रहते थे। सायणाचार्य के अनुसार ये मुनि आन्तरिक तेज अथवा दिव्य ज्योति से सतत उद्भासित रहते थे। ऐसे ही ऋषि-मुनियों के द्वारा ऋग्वैदिक ज्ञान अवतरित हुआ, ऋग्वेद-संहिता ने जिसका प्रतिनिधित्व मात्र किया।

अपने आविर्भाव के बहुत दिनों वाद तक ऋग्वैदिक मंत्र उन ऋषि-कुलों की पैतृक सम्पत्ति रहे जिनमें इनकी सृष्टि हुई थी। वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वसिष्ठ आदि कुछ प्रमुख ऋषि-परिवारों में ही ये मंत्र मौखिक (श्रुति) रूप में संरक्षित होते आये। लगभग १००० ई० पू० इन मंत्रों को एकत्र कर एक ग्रन्थ में संगृहीत किया गया, जिसे ऋग्वेद-संहिता कहते हैं। ऋग्वैदिक मंत्रों के मौखिक संरक्षण के सम्वन्ध में कई धारणाएँ हैं। बहुत-से विद्वानों का मत है कि लेखन-कला की जानकारी ऋग्वैदिक आर्यों को नहीं थी।† अन्य विद्वानों की धारणा है कि ऋग्वेद के समय में भी भारतीय आर्य इस कला के अभिज्ञ थे। ऋग्वैदिक मंत्र श्रुति अवश्य थे; किन्तु इसका कारण लेखन-कला की अज्ञानता नहीं, अपितु इन मंत्रों को लिपिबद्ध करने की अनिच्छा थी। वैदिक मंत्रों के सम्बन्ध में यह

---

* ऋग्वेद—१०।१०९।४

† Advanced History of India—P. 37.

धारणा बहुत दिनों तक प्रचलित रही। महाभारत में ऐसे प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति नरक के भागी कहे गये हैं।* कुमारिल भट्ट (८ वीं सदी) ने भी इन मंत्रों को लिपिबद्ध करना अधर्म माना है। ‡ इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ऋग्वैदिक आर्यों को लेखनकला की जानकारी न थी। स्वयं ऋग्वेद में अक्षर शब्द का प्रयोग मिलता है, मैक्समूलर ने जिसका अर्थ "अविनाशी स्वतन्त्र तत्त्व" माना है (Ancient Sanskrit Literature—P. 507)। सायणाचार्य के ऋग्वैदिक भाष्य के आधार पर इस शब्द का अर्थ लेखन-कला में प्रयुक्त अक्षर ही है। ऋग्वैदिक मंत्र ६।५३।५:८ में 'आरा' लेखन-यंत्र का भी संकेत है। सायणाचार्य के अनुसार इसका अर्थ लोहे की नुकीली पेन्सिल है (सूक्ष्मलौहाग्रदण्ड:)। अत: श्री राधाकुमुद मुकर्जी की सम्मति में भारतीय आर्य लेखन-कला से ऋग्वैदिक युग से ही परिचित थे तथा इस कला का उपयोग भौतिक विषयों—वैदिक मंत्रों के अतिरिक्त अन्य विषयों—के शिक्षण-कार्य में भी होता था।†

ऋग्वैदिक विद्यालय—कारण चाहे जो भी हो, इतना निर्विवाद है कि वैदिक मंत्र शताब्दियों तक श्रुतिरूप में ही संरक्षित होते आये। वैदिक मंत्रों के इस मौखिक संरक्षण के हेतु प्रत्येक वैदिक ऋषि अपने पुत्रों को मौखिक शिक्षा दिया करते थे।§ फलत: प्रारम्भिक वैदिक विद्यालय पारिवारिक विद्यालय थे, जिनमें ऋषि-पुत्र मौखिक ज्ञान प्राप्त किया करते थे। कालान्तर में धार्मिक यज्ञों के स्वरूप पेंचीले होने लगे और मंत्रों के अर्थ दुरूह हो गये। फलत: ऋग्वैदिक विद्यालय में ऋषि-पुत्रों के अतिरिक्त अन्य छात्र भी प्रवेश पाने लगे और गुरुकुल का वृत्त क्रमश: विस्तृत होने लगा।£ किन्तु वैदिक विद्यालय सर्वदा ही वैयक्तिक गुरुकुल रहा, अवैयक्तिक

---

*Altekar—Education in Ancient India—P. 50.

‡तंत्र-वार्त्तिक—१।३

†The evolution of letters, alphabets and writing may therefore, be assumed as an aid to learning for an age which has paid so much attention to the purity and rules of pronunciation of the texts taught.
R. K. Mookerji—Ancient Indian Education.

§ History of Education in Ancient India.
—N. N. Mazumder—P. 68.

£ History of Indian Literature—Weber P. 21.

संस्था (Impersonal institution) का स्वरूप इसने कभी ग्रहण न किया। गुरु का आश्रम ही विद्यालय था, जहाँ शिष्य गुरु के परिवार के एक अभिन्न सदस्य के रूप में लौकिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करता था। यह शिक्षा जीवन से असंबद्ध न थी। जीवन के सभी आवश्यक कार्यों को करते हुए प्राचीन छात्र उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए लग्नशील रहता था। सामाजिक दायित्व की प्राथमिक शिक्षा भी उसे गुरु के आश्रम में प्राप्त होती थी। फलत: उच्चतम ज्ञान सामान्य व्यावहारिक ज्ञान का निषेधक नहीं, बल्कि परिपोषक था। अन्तर केवल तुलनात्मक बल पर था। भारतीय दृष्टिकोण में जीवन का प्रयोजन धर्माचरण है। इसलिए मनुष्य के सभी दैहिक एवं मानसिक व्यापार धर्म के आश्रित रहने चाहिये। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि आध्यात्मिक शिक्षा में व्यावहारिक शिक्षा का स्थान ही न था। अपितु, आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा व्यावहारिक ज्ञान की आदर्श पृष्ठभूमि पर ही होती थी। गुरु के आश्रम में व्यावहारिक जगत् के सभी उपकरण आदर्शरूप में प्रस्तुत थे। माता-पिता के रूप में गुरु-पत्नी तथा गुरु, भाई-बहनों के रूप में गुरु-सन्तान तथा आश्रम के अन्य छात्र, समाज के रूप में आश्रम का सामूहिक जीवन, हरे-भरे पेड़-पौधे, भोले-भाले वनजन्तु, समादृत अतिथि आदि प्राचीन भारत के छात्र के वातावरण थे, जिससे वह व्यावहारिक जगत् की प्रेरणा तथा प्रकाश पाता था। आर्थिक समृद्धि की दो माताएँ भूमि तथा गौ उसके समक्ष पूज्या के रूप में सतत प्रस्तुत थीं। इनकी सेवा-शुश्रूषा में तथा आश्रम के अन्य कार्यों में वह 'हाथ के काम' के महत्त्व तथा उपयोग को स्वाभाविक रूप में ग्रहण करता था, जिसके लिए आजकल बहुधा कृत्रिम विधि-विधान आयोजित किये जाते हैं।

शिक्षण-पद्धति—ऋग्वैदिक मंत्रों के मौखिक संरक्षण के लिये एक विशेष शिक्षण-पद्धति व्यवहृत होती थी, जिसके बल पर ही ये मंत्र शताब्दियों तक श्रुतिरूप में ही ज्यों-के-त्यों संरक्षित होते चले आये थे। *

---

* A unique degree of verbal authenticity has been maintained up to this time in the form, the utterance and the mantras of the sacred text. K. M. kar—A Survey of Indian History—P. 13.

इस पद्धति के दो स्वरूप थे। एक के द्वारा मंत्रों के वाह्य स्वरूप को कण्ठाग्र कराया जाता था तथा दूसरे के द्वारा इन मंत्रों के अर्थ अथवा आत्मा का परिग्रहण होता था। पहली पद्धति स्वभावत: रटन्त थी। शिष्य गुरु की वाणी को ध्यान-पूर्वक श्रवण करता था। ज्योंही गुरु का उच्चारण समाप्त होता था, शिष्य ठीक उन्हीं के अनुकरण पर उच्चरित शब्दों को दोहराता था। इस पद्धति का संकेत ऋग्वेद की एक ऋचा में मिलता है* जिसकी प्रतिध्वनि गोस्वामी तुलसीदास की इन पंक्तियों में है।

दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई।
वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।।

गुरु के द्वारा उच्चरित मंत्रों को शिष्य दादुर की तरह तन्मय होकर एक ही लय में दोहराता रहता था। निरन्तर अभ्यास से न वह केवल मंत्रों को कण्ठस्थ कर लेता था, बल्कि इनके उच्चारण की सही रीतियों को भी हृदयङ्गम कर लेता था। मौखिक आवृत्ति की यह शिक्षा एक निश्चित पद्धति पर संचालित होती थी, ताकि ध्वनियों, शब्दों अथवा छंदों के उच्चारण उनके मौलिक रूप में ही हों। वैदिक भाषा में ५२ मूल ध्वनियाँ हैं, जिनमें १३ स्वर तथा ३९ व्यंजन हैं।† इन सभी ध्वनियों के शुद्ध स्वरूप पर पूरा बल दिया जाता था। गायत्री, पंक्ति, अनुष्टुप् आदि सात छंदों में वैदिक मंत्र संगुम्फित थे, जिनमें विभिन्न मात्राएँ रहती थीं। छंदों का संगठन 'पादस्' से होता था तथा पादस् का अक्षरों से। मंत्रों की रटन्त शिक्षा में छन्द के इन सभी अंगों पर पूरा ध्यान दिया जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में ऋग्वेद के उच्चारण की तीन रीतियाँ वर्णित हैं—शब्दों के स्वतंत्र उच्चारण, युग्म उच्चारण तथा क्रम-बद्ध उच्चारण।‡ 'पद'-पाठ तथा क्रम-पाठ में ये ही विधियाँ नियमानुकूल व्यवहृत होती थीं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ध्वनियाँ घोष, ऊष्म तथा व्यञ्जन में विभक्त हैं।

* ऋग्वेद—७।१०३

When the frog moistened by the rain springs forward,
and Green and Spotty both combine their voices
When one of these repeats the other's language,
as he who learns the lesson of the teacher

—Griffith's translation.
Quoted in Keay—P. 3.

† धीरेंद्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास—पृष्ठ ६१.

‡ ऐतरेय ब्राह्मण—४

दंत्य एवं मूर्धन्य न, ण तथा श, ष, स का ध्वन्यात्मक भेद भी स्पष्ट था। तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदोच्चारण के लिये वर्ण, स्वर, बल, सम तथा सन्तानु (सन्धि) पर उचित ध्यान देने का आदेश दिया गया है।

वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानुः। इत्युक्तः
शिक्षाध्यायः *

शुद्धोच्चारण का महत्त्व परवर्ती साहित्यों में भी प्रतिपादित है।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र-शत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥†

"स्वर या वर्ण की अशुद्धि से दूषित शब्द ठीक-ठीक प्रयोग न होने के कारण अभीष्ट अर्थ का वाचक नहीं होता। इतना ही नहीं, वह वचन-रूपी वज्र यजमान को भी हानि पहुँचाता है, जैसे स्वर की अशुद्धि होने के कारण वृत्रासुर स्वयं ही इन्द्र के हाथ से मारा गया।"

इस तरह वैदिक शिक्षण-पद्धति में ध्वनियों तथा शब्दों के शुद्ध स्वरूप पर बड़ा महत्त्व दिया जाता था। मौखिक शिक्षा के उपरोक्त सुव्यवस्थित नियमों के कारण ही आज भी श्रुतियाँ बहुलांश में अपने मौलिक रूप में ही उपलब्ध हैं।

मनन—किंतु मंत्रों को कण्ठस्थ कर लेने से ही शिष्य का दायित्व पूरा नहीं हो जाता था। रटने की प्रक्रिया तो केवल यांत्रिक थी। इसकी आवश्यकता इसलिए थी कि मंत्रों को श्रुति के रूप में ही ग्रहण करना था तथा इसी रूप में संरक्षित भी रखना था। मंत्रों के आन्तरिक स्वरूप के ग्रहण के लिए शिष्य को एक दूसरी प्रक्रिया की साधना करनी पड़ती थी। यह प्रक्रिया थी मनन। मनन के द्वारा शिष्य प्रत्येक शब्द, मंत्र तथा छंद के तात्पर्य समझने की चेष्टा करता था। गुरु की सहायता से वह उन आध्यात्मिक तत्त्वों की अनुभूति प्राप्त करता था, जिनकी आत्मा मंत्रों में ध्वनित थी। यह अनुभूति गुरु के उपदेश मात्र से सम्भव न थी। इसके लिये शिष्य को 'स्वाध्याय' का अभ्यास करना होता था। 'व्रतचारी'

Macdonel—Vedic Grammar—Chapt. 4.

* तैत्तिरीयोपनिषद्—१।२

† पाणिनि-शिक्षा—५।५२
पतञ्जलि-महाभाष्य

बनकर वह एक कठोर साधना में प्रवृत्त होता था। अपनी समस्त चित्त-वृत्तियों को वाह्य-जगत् से समेट कर वह परम ज्ञान की ओर केन्द्रस्थ कर देता था और तभी उसके हृदय में वास्तविक ज्ञान का प्रादुर्भाव होता था। शिष्य के इस साधनात्मक स्वाध्याय की तुलना दादुर की घोर निद्रा से की गई है, जिसमें वह वाह्य-जगत् से सर्वथा अचेत-सा रहता है। वर्षा ऋतु के आरम्भ होते ही दादुर की निद्रा भंग होती है और वह अपना घोष शुरू कर देता है। ठीक इसी तरह वैदिक विद्यार्थी अपनी साधना की समाप्ति पर एक नये आलोक से आह्लादित होकर शिक्षक के रूप में मंत्रों की शिक्षा में प्रवृत्त देखा जाता था।* यह ज्ञान नितान्ततः स्वार्जित था। गुरु के उपदेश ज्ञान-प्राप्ति के संकेत मात्र थे। मंत्रों को रट लेने मात्र से शिष्य का काम नहीं चल सकता था। वैदिक-साहित्य में अर्थ-विहीन वाह्यात्मक ज्ञान निन्दनीय समझा गया है।† जिन छात्रों ने केवल मंत्रों का दुहराना सीखा हो, वे ऋग्वेद में 'अरवाक्' कहे गये हैं।§

शिक्षण की उपर्युक्त पद्धति के उचित निर्वाह के लिए यह आवश्यक था कि छात्रों की अवस्था तथा वैयक्तिक विशेषताओं पर वांछित ध्यान दिया जाता। अल्पावस्था में शिष्य स्वभावतः साधनात्मक ज्ञान के उपयुक्त नहीं हो सकता था। फलतः, उसकी प्रारम्भिक शिक्षा प्रधानतः रटन्त थी और बहुधा समूहात्मक होती थी। उचित अवस्था प्राप्त होने पर शिक्षा का द्वितीय चरण प्रारम्भ होता था, जो प्रधानतः चिन्तनात्मक तथा साधनात्मक था। इसके सम्पादन में वैयक्तिक प्रणाली का अनुसरण आवश्यक था। अपनी मानसिक क्षमताओं के अनुपात में शिष्य मंत्रों के आंतरिक स्वरूप के परिग्रहण में अग्रसर होते थे। स्वाध्याय की प्रणाली में वैयक्तिक विशेषताएँ स्पष्टतः परिलक्षित होने लगती थीं। गुरु इन विशेषताओं के अनुकूल ही छात्र-विशेष के लिये स्वाध्याय का उचित विषय निर्धारित करते थे। बहुधा ऐसे छात्र भी होते थे, जिनकी मानसिक क्षमता

---

* R. K. Mookerji—Pages 36.

† स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
—निरुक्त १।१८।९

§ The mere crammer of Vedic texts is condemned as Arvak by the Rigveda—Ancient Indian Education.
R. K. Mookerji—P. 36.

गंभीर विषयों के ग्रहण में असमर्थ रहती थी। इन छात्रों को आगे बढ़ने की अनुमति न थी। ये छात्र साधारणतया प्रथम चरण के बाद ही घर लौट जाते थे।

पाठ्य-विषय—ऋग्वैदिक युग में भी छात्रों के पाठ्य-विषय केवल मंत्रों तक सीमित न थे। यास्क के अनुसार वेद के विद्यार्थी को व्याकरण की पूरी जानकारी रहनी चाहिए थी।* शिक्षक को ऐसे छात्रों को आध्यात्मिक शिक्षा न देनी चाहिए "जो शिक्षक के साथ रहने के लिये प्रस्तुत न हों तथा जो व्याकरण में दक्ष न हों।" इससे स्पष्ट है कि व्याकरण का अध्ययन ऋग्वेद के समय में भी प्रचलित था।† कुछ विद्वानों की सम्मति में शिक्षा आदि अन्य वेदांगों के अध्ययन भी ऋग्वैदिक काल में ही प्रचलित हो गये थे। शिक्षा शिक्ष् धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ 'देना' होता है। शिक्षा के द्वारा गुरु शिष्य को वेद उच्चरित कर देते थे। इस शिक्षा के उचित सम्पादन के लिए उच्चारण तथा गायन पर वांछित ध्यान देना अत्यावश्यक था। शिक्षा के विषय भी ये ही हैं। द्वितीय वेदांग कल्प के द्वारा वैदिक मंत्रों के यज्ञ-संबंधी व्यावहारिक विधियों का ज्ञान होता था। मंत्र ७।१०३ में एक ऐसे यज्ञ का उल्लेख है जो कि एक वर्ष तक चलता रहता था। ऐसे यज्ञों के लिए कल्प की विधियाँ आवश्यक थीं। वैदिक मंत्रों के अर्थ के सम्यक् परिग्रहण के लिए व्याकरण के साथ-साथ निरुक्त की जानकारी पूर्णतः प्रतिष्ठापित थी। अर्थ-विहीन वैदिक मंत्र निरर्थक शब्द (निगदेनैव शब्द्यते) के समान थे। वैदिक मंत्रों का अर्थ-हीन ज्ञाता एक गदहे के समान था, जो अपनी पीठ पर लदे चन्दन का केवल भार महसूस करता हो, सुगन्ध नहीं।§ 'छन्दस्' की शिक्षा भी ऋग्वैदिक युग में ही प्रचलित मानी जानी चाहिए, जिसके बिना मंत्रों के विभिन्न अवयवों तथा उसके संगुफन या गठन का ज्ञान असम्भव था। ज्योतिष के अध्ययन से प्रकृति के उन नियमों तथा तथ्यों का वोध होता था, जिनसे

---

* निरुक्त—२।३।४

† Grammar as a subject was evolved as early as the Veda itself—R. K. Mookerji—P. 37.

‡ A study of Grammar must have been taken up in India from very early times—F. E. Keay—Indian Education in Ancient and Later times—P. 36.

§ R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 19.

अधिकांश वैदिक मंत्र अनुप्राणित रहते थे। यह भी अनुमान युक्तिसंगत है कि वेदांगों के आधारभूत विज्ञान तर्क की शिक्षा भी ऋग्वैदिक युग में प्रचलित रही होगी। ऋग्वेद—३।८६।६ में "वक्तवानामं मेलिम्" का आभास मिलता है, जिसका प्रयोग पूर्व-पक्ष तथा सिद्धान्तिन् के परस्पर-विरोधी विचारों के समाधान करनेवालों के लिए ही हुआ जान पड़ता है। धाता, सत्य, ऋत, धर्म तथा व्रत शब्द भी उन प्राकृतिक नियमों को द्योतित करते हैं, जिनसे ही समस्त सृष्टि संचालित होती रहती थी।

ब्राह्मण-संघ—उच्च ज्ञान के अनुसंधान तथा प्रसार के लिए ऋग्वैदिक युग में विद्वानों ने ब्राह्मण-संघ-नामक संस्था आयोजित की थी। वैदिक विद्यालयों के सुयोग्यतम छात्र अपने स्वाध्याय की समाप्ति के उपरान्त इन संघों में एकत्र होते थे। यहाँ पारस्परिक विचार-विनिमय तथा तर्क-वितर्क के द्वारा गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों का रहस्योद्घाटन होता था तथा नये-नये तथ्य निर्धारित होते थे। संघ के द्वारा ज्ञानार्जन तथा ज्ञान-प्रसार की पद्धति भारतवर्ष में ही आविष्कृत हुई थी।* ये संघ आधुनिक सेमिनार (Seminar) की सभी विशेषताओं से परिपूर्ण थे। इस तरह भारतीय शिक्षा-जगत् 'सेमिनार' के महत्त्व से वैदिक युग से ही परिचित था।

अन्य वर्णों की शिक्षा—ऋग्वेद के समय में उच्चतम शिक्षा के अधिकारी केवल ब्राह्मण न थे। अन्य वर्ण के लोग भी उच्च आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। ऋग्वेद में एक ऐसे परिवार का वर्णन मिलता है जिसमें पिता वैद्य, पुत्र वैदिक-कवि तथा माता अन्न पीसनेवाली श्रमिक थी।† इससे स्पष्ट है कि एक ही परिवार के सदस्य वैदिक-शिक्षा प्राप्त कर सकते थे तथा उद्योग-धन्धों में भी लग सकते थे। इसका भी प्रमाण है कि अनेक ऋग्वैदिक ऋषि क्षत्रिय अथवा राजन्य थे। अम्बरीष, त्रसदस्यु, अश्वमेध आदि उदाहरणस्वरूप हैं। (ऋग्वेद—१।१००। १७।) । ऐतरेय

---

* Thus the conference method for the promotion and diffusion of learning, the method of discourse in seminars and academics, was first evolved in India—R. K. Mookerji —P. 37.

† 'I am' says the author of a hymn "a poet, my father is a doctor, and my mother a grinder of corn"—Advanced History of India Page 33. Also Radhakrishnan—Indian Philosophy Vol. I—P. 112.

ब्राह्मण के लेखक महिदास शूद्रा माता के पुत्र थे । ऋषि कवष ऐलुष एक दासी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । स्वयं बादरायण वेदव्यास, जिन्होंने वेदों को संकलित तथा सम्पादित किया था, किसी मछुए की कन्या से समुत्पन्न एक आर्य ऋषि के पुत्र थे ।* वाजसनेयि-संहिता में वैदिक शिक्षा के अधिकारी चारों वर्ण कहे गये हैं ।† इन चार वर्णों के अतिरिक्त निषाद जाति को भी यज्ञ करने का अधिकार था जो कि निश्चय ही अनार्य थे ।‡ ऋग्वेद १०,४५,६ के अनुसार पाँच वर्ण के लोगों ने अग्निहोत्र में भाग लिया था (जना यदाग्निम् अयजन्त पञ्च) । यास्क के निरुक्त में इन पाँच वर्णों में निषाद जाति के अनार्य सम्मिलित हैं । § ऋग्वेद (८,६५,२३) में पाँच लोगों के सोम-यज्ञ में सम्मिलित होने का उल्लेख है (जनेषु पञ्चषु) । इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था ठोस न हो पायी थी । ऋग्वेद की प्रारम्भिक ऋचाओं में वर्णों का संकेत अवश्य है । किन्तु वर्णों के कर्म-गत स्वरूप का स्पष्ट परिचय परवर्ती पुरुष-सूक्त में मिलता है, "जिसमें ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, राजन्य बाहुओं से, वैश्य जघनों से और शूद्र पदों से प्रादुर्भूत माने गये हैं ।"£ राजाओं तथा पुरोहितों के दो विभिन्न वर्ग लगभग शुरू से ही थे—यह निश्चित है । सांसारिक तथा धार्मिक (Secular and temporal) क्षेत्र के दो प्रतिनिधि लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं में वर्त्तमान रहे हैं । भारत में इन्हीं के वंशज क्रमशः क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वर्णों में विकसित हुए । इन दो श्रेणी के लोगों के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी के लोग भी अनिवार्यतः थे, जो कि जीवन के सामान्य कार्यों, जैसे खेती-बारी आदि में

---

* Panikkar—A Survey of Indian History—Page 12.

† वाजसनेयि-संहिता—२६।२।

यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्म-राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ।

‡ The Nishadas were clearly a non-Aryan people. Advanced History of India—Page 47.

§ निरुक्त—६।७

£ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत— —ऋग्वेद–१०।९०।१२ यजूः वाज ३१, १७

लगे रहते थे। विश् (वैश्य) शब्द इन्हीं स्वतंत्र व्यावसायिक लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। दास, दस्यु तथा शूद्र शब्द उन काले वर्ण (रंग) के लोगों के लिए व्यवहृत होता था जो प्रोटोआस्ट्रालाइड (Proto Australoids) परिवार के भारत के आदिम निवासी थे तथा जिन्हें आर्यों की सामरिक शक्ति के सामने हार खानी पड़ी थी। कालान्तर में विजेताओं को इन शूद्रों को भी आर्य-संस्कृति में आबद्ध करना पड़ा। राजनीतिक मेल-जोल, वैवाहिक संबंध, व्यावसायिक समझौते आदि इस संमिश्रण के प्रमुख कारण। थे वस्तुतः शूद्र वर्ण का आविष्कार इन विजित देश-वासियों को आर्य-संस्कृति में सम्मिलित करने के लिये ही हुआ था।* आर्यों के राजनीतिक विस्तार के साथ-साथ इन शूद्रों की संख्या भी बढ़ती गई।

अस्तु, ऋग्वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था जातिगत नहीं, अपितु कर्मगत थी। एक ही परिवार के लोग विभिन्न व्यवसायों में लग सकते थे—इसका उल्लेख अभी हो चुका है। एक वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ वैवाहिक संबंध भी प्रचलित था।† वर्णगत सामाजिक प्रतिबंध उत्तर वैदिक-काल में विकसित हुए। इन प्रतिबन्धों की प्रेरणा पूर्ववती अनार्य भारतीय सामाजिक व्यवस्था में थी, जिसमें मंत्र-तंत्र की प्रधानता थी।‡ भारतीय आर्य इस देशी प्रभाव से वंचित न रह सके और वर्णों का व्यावसायिक एवं सामाजिक विभेद रूढ़िबद्ध हो गया। इस तरह यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के समय में वैदिक शिक्षा का द्वार सभी वर्णों के लिये खुला हुआ था। शिक्षार्थी का चुनाव उसके वर्ण के आधार पर न होता था, बल्कि उसकी मानसिक क्षमता के आधार पर। डाक्टर अलतेकर की सम्मति में शूद्रों के लिए वैदिक शिक्षा का द्वार सर्वदा ही बन्द था।£ शूद्र वर्ण के लोग विभाषीय

---

* The Sudra caste was evolved in Aryan Society to receive him—R. K. Mookerji—Page 52.

† We have instances of marriages of Brahaman with Rajanya women and of the Arayas and Sudras. . Advanced History of India—Page 33.

‡ The Rigid restrictions with regard to occupation, commensality etc. originated according to recent writers not with the Aryans but with the Totemistic proto—Australoid and the Austro-Asiatic inhabitants—Advanced History of India—Page—33.

£ Education in Ancient India—Dr. A. S. Altekar—Page 45.

थे और उनके द्वारा वैदिक मंत्रों का स्वरूप विकृत हो सकता था। सम्भवतः इसलिये भी शूद्रों के लिये वैदिक शिक्षा वर्जित थी। किन्तु, वैदिक मन्त्रों के मौलिक संरक्षण की आवश्यकता वस्तुतः बाद में प्रतीत होने लगी, जबकि इनके स्वरूप में कुछ-न-कुछ रूपान्तर यत्र-तत्र होता दीख पड़ने लगा था। पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य शूद्रों के प्रति किसी तरह का प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं करते थे। इससे यही युक्तिसंगत मालूम होता है कि ऋग्वैदिक युग में वैदिक शिक्षा के अधिकारी शूद्र वर्ण के लोग भी थे।§

स्त्री-शिक्षा—भारतीय संस्कृति में स्त्रियों का लौकिक स्थान एक विशिष्ट दार्शनिक पद्धति पर निरूपित है, जिसके अनुसार परम शक्तिमान् परमब्रह्म का स्वत्व उसकी आदि शक्तियों पर ही अवलम्बित है। इन आदि शक्तियों के कारण ही वह सृष्टि-मूलक अंतिम सत्ता अथवा परम शक्तिमान के रूप में भारतीय दर्शन में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म गुणी है तथा आदि शक्तियाँ उसके गुण, जिनसे वह तत्त्वतः आच्छादित रहता है।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम् *

गुण-रूपी यही महाशक्ति "ज्ञान, बल, क्रिया आदि अनेक रूपों में उस महाशक्तिमान की सहकारिणी एवं सहधर्मिणी बनी रहती है।" वही शक्ति परा एवं अपरा प्रकृति भी कहलाती है और अंशी का अंश भी।"

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।†
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।‡

इस आदि-शक्ति का संकेत तंत्रग्रन्थों में तो बाहुल्य से हुआ है—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् आसीच्छक्तिः।

इसी शक्ति ने ब्रह्मादि सभी जीवों को जन्म दिया। इसकी ही सन्निधि से ब्रह्मत्व, विष्णुत्व तथा इन्द्रत्व की प्राप्ति होती है।

---

§ The non-Aryans and depressed classes of these days must have had considerable access to Vedic learning to be able to take part in these sacrifices—R. K. Mookerji--Ancient Indian Education, Pages 52-53.

* श्वेताश्वरोपनिषद्— ६।८

† " — "

‡ गीता — ७।५

यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।*

"जिस पर प्रसन्न होती हूँ उसको उग्र, उसको ब्रह्मा, उसको ऋषि, उसको सुमेधा बना देती हूँ ।"

अस्तु, सृष्टि का अन्तिम मूल तत्त्व शक्ति-संपन्न शक्तिमान है। "शक्ति के बिना शक्तिमान नहीं रह सकता तथा शक्तिमान के बिना शक्ति का अलग अस्तित्व संभव नहीं । दोनों ही अन्योन्यापेक्ष हैं । तत्त्वतः ब्रह्म का स्फुरण इन्हीं दो रूपों में हुआ जिसके लौकिक प्रतीक हैं नर और नारी, पति और पत्नी ।"

स इममेवात्मानं द्विधापातयत् । पतिश्च पत्नी चाभवताम् ।†

इस तरह "लौकिक नर-नारी के संबंध की तह में नर-नारी का आध्यात्मिक स्वरूप है तथा आदि नर-नारी के पारस्परिक संबंध की छाया का भौतिक नर-नारी में निक्षेप है ।" इसी छाया के कारण भारतीय नारी नर की अर्द्धाङ्गिनी एवं सहधर्मिणी के रूप में सतत प्रतिष्ठित है ।

अर्धो ह वा एषा जाया आत्मनो यज्जायेति ।१

अथवा

यावन्न विन्दते जायां तावत् अर्द्धो भवेत् पुमान् ।२

भारतीय संस्कृति के सुदीर्घ इतिहास में स्त्रियों का यह आधारभूत आध्यात्मिक महत्त्व सर्वदा अक्षुण्ण रहा है। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उनके भौतिक स्वत्व में समय-समय पर परिवर्त्तन अवश्य हुए हैं; किन्तु इन परिवर्त्तनों के कारण स्त्रियों का मूलाधार आध्यात्मिक स्वरूप किसी भाँति विकृत नहीं हुआ है। आज भी वे हिन्दू समाज में अर्द्धाङ्गिनी तथा गृहस्वामिनी के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। ऋग्वैदिक युग में उनकी वैयक्तिक मर्यादा स्वभावतः अधिकतम मात्रा में सुरक्षित थी। लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में ऋग्वेद स्त्रियों को कल्याणकारिणी के रूप में ही अंकित करता है। परवर्तिनी धन की देवी लक्ष्मी, शक्ति की देवी दुर्गा आदि की तरह वैदिक

---

* ऋग्वेद— १०। देवी सूक्त

† बृहदारण्यक— १।४।३

साहित्य में "अदिति, उषा, इन्द्राणी, इला, भारती, होला, सिनीवाली, श्रद्धा, पृश्नि आदि वैदिक देवियाँ अनेक तत्त्वों की अधिष्ठात्री कही गई हैं।" इनमें अदिति सबसे अधिक शक्तिशालिनी मानी गई हैं। अदिति ही आकाश, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र और समस्त देवता है। "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता सा पिता सा पुत्रः।" अन्य कई देवियों को ऋग्वेद ऋषिका के रूप में प्रतिष्ठित करता है। सूर्या, शची, वाक् आदि ऋषिकाएँ वैदिक मंत्र की द्रष्टा थीं।

लौकिक क्षेत्र में पुरुषों की आश्रिता रहने पर भी इनकी वैयक्तिक मर्यादा उनसे कम न थी। यदि पुरुष गृहस्वामी था तो वे गृहस्वामिनी थीं। दम्पत्ति शब्द का प्रयोग पत्नी के लिए भी ऋग्वेद में हुआ है।* सभी धार्मिक यज्ञों में पति के साथ पत्नी का भाग लेना अनिवार्य था। पशु-रक्षिणी तथा वीर-प्रसविनी नारी का उस समय विशेष आदर था। परदा तथा अन्य सामाजिक प्रतिबन्ध स्त्रियों के विरुद्ध बहुत दिन पीछे तक प्रचलित न हुए थे। यज्ञानुष्ठान तथा अन्य उत्सवों में वे खुलकर भाग लिया करती थीं।† "ऐसे अवसरों पर वे अच्छे-से-अच्छे वस्त्राभरण धारण करती थीं।" पारिवारिक आधार पैतृक था, फिर भी कन्याएँ समादृत थीं। लोग 'पूषा' की प्रार्थना 'कमनीय कन्या' के लिये करते थे। उनके लालन-पालन तथा शिक्षा में किसी तरह की उपेक्षा न होती थी। अनेक स्त्रियाँ उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर ब्रह्मवादिनी तथा ऋषिका की संज्ञा प्राप्त करती थीं। वैदिक साहित्य में कई ऋषिकाएँ देवी के रूप में प्रतिष्ठित थीं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। कुछ अन्य ऋषिकाओं का विवरण भी मिलता है, जिनके द्वारा मंत्रों की रचना हुई थी।‡ महर्षि अत्रि के वंश में समुत्पन्न विशवारा परम विदुषी थीं। "ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के द्वितीय अनुवाक् के अठाइसवें सूक्त की रचना उन्हीं के द्वारा हुई थी। अपाला भी अत्रिकुल में ही उत्पन्न हुई थीं। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ९१ वें सूक्त की १ से ७ तक की ऋचाएँ उनके द्वारा ही संकलित

---

* Adcaice History of India—Page 31.

† Ladies trooped to festal gatherings "decked shining forth with sunbeams." Do—Page 31.

‡ Their education was not neglected, and some of them lived to compose hymns and rise to the rank of seers —Do. Page 31.

हुई थीं। वृहस्पति की पुत्री होमशा भावभव्य की धर्मपत्नी थीं। ऋग्वेद-संहिता के प्रथम मण्डल (१२६ सूक्त) की कुछ ऋचाओं का संकलन इनके द्वारा हुआ था। शाश्वती अंगिरा ऋषि की कन्या थीं तथा राजा आसंग की पत्नी। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के प्रथम सूक्त की ३४ वीं ऋचा का संकलन इनके द्वारा हुआ था। ब्रह्मवादिनी घोषा के द्वारा दशम मण्डल के ३९ वें तथा ४० वें सूक्त विरचित हुए थे।" ममता, उशिज, लोपा-मुद्रा प्रभृति अन्य विदुषी नारियाँ भी ऋग्वैदिक युग में वर्तमान थीं।

इस तरह ऋग्वेद के समय में स्त्रीशिक्षा पूर्णतः प्रचलित थी। पुरुषों की भाँति वे भी ब्रह्मचारिणी रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। इसकी अनुमति ऋग्वेद की कई ऋचाओं में है।* यह भी कहा गया है कि विदुषी कन्याओं का विवाह विद्वान वर से होना चाहिए।† अन्य वेदों में भी स्त्रीशिक्षा की अनुमति है। यजुर्वेद के अनुसार ब्रह्मचारिणी स्त्रियों का विवाह सुयोग्य तथा सुशिक्षित पुरुष से होना चाहिये।‡ अथर्ववेद में भी कुमारियों के ब्रह्मचर्य-जीवन का परिचय मिलता है, जिसके पश्चात् ही वे तरुण पति को प्राप्त करती थीं।§

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

वाजसनेयि-संहिता में भी स्त्री-शिक्षा का संकेत है।£

धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त सामान्य स्त्रियाँ गृह-उद्योग-धन्धों की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करती थीं। इसका संकेत यत्र-तत्र ऋग्वेद में मिलता है। "कन्याएँ तथा स्त्रियाँ रुई धुनतीं, सूत काततीं, वस्त्र बुनतीं कसीदा भी काढ़ती थीं।" इन बातों के समर्थक अनेक मंत्र उपलब्ध हैं। अथर्ववेद के अनुसार भी "सूत कातना, बुनना आदि स्त्रियों के कर्तव्य हैं।" ¶ स्पष्टतः इन कार्यों के उचित सम्पादन के लिये उन्हें पारिवारिक अथवा विद्यालय की व्यावसायिक शिक्षा दी जाती होगी। कन्या के लिये

---

* ऋग्वेद—५।७।९

† " —७।५५।१६

‡ यजुर्वेद—८।१

§ अथर्ववेद—११।५।१८

£ वाजसनेयि-संहिता —१२।३।१७–१८

¶ अथर्ववेद—१४।१।४५

दुहिता शब्द का प्रयोग भी बहुधा हुआ है। यह शब्द दुह् धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ "दूहना" है। "सम्भवतः दूध दूहने का उत्तरदायित्व कन्याओं को ही था। घर में गो-रक्षा का प्रधान कार्य इन्हीं के हाथ में था। दूध, दही, घी आदि की व्यवस्था भी ये ही करती थीं।" इन व्यवसायों से संबंधित उनकी शिक्षा किसी-न-किसी रूप में संचालित होती थी—यह अनुमान युक्ति-संगत है।

तृतीय अध्याय

उत्तरवैदिक शिक्षा

उत्तरवैदिक काल का विस्तार ऋग्वैदिक काल के अन्त और बौद्ध तथा जैन धर्म-ग्रन्थों के आरम्भ काल के बीच है। इस काल की अवधि सामान्यतः १४०० इसवी पूर्व से ६०० इसवी पूर्व मानी जाती है।*

ऋग्वैदिक काल में ईश्वर-प्राप्ति के दो साधन थे—तप तथा यज्ञ। पहले का संबंध अन्तर्मुखी साधनात्मक चिन्तन से था तथा दूसरे का बाह्यात्मक यज्ञानुष्ठान से। एक ज्ञानकाण्ड तथा दूसरा कर्मकाण्ड। "किन्तु यज्ञों का महत्त्व तप की अपेक्षा कम था। ऋग्वैदिक यज्ञों के स्वरूप भी सरल थे। आर्य-संस्कृति के विस्तार-क्रम में याज्ञिक कर्मकाण्ड को अधिक प्रश्रय मिलने लगा। फलतः पुरोहितों का महत्त्व भारतीय समाज में अधिकाधिक बढ़ने लगा। ऋग्वैदिक युग में पुरोहितों के यज्ञ-संबंधी कार्यों का वर्गीकरण न हुआ था। सामान्यतः एक ही वर्ग के पुरोहित यज्ञ-सम्पादन के लिए पर्याप्त थे। उत्तरवैदिक काल में पुरोहितों की विभिन्न श्रेणियाँ हो गईं, जोकि यज्ञ की विभिन्न प्रक्रियाओं को अलग-अलग सम्पादित करती थीं। यज्ञ की चार मुख्य प्रक्रियाओं के सम्पादन के लिए पुरोहितों की निम्नलिखित ४ श्रेणियाँ हुईं।

(१) होतृ
(२) उद्गातृ
(३) अध्वर्यु
(४) ब्राह्मण

होतृ (होता) यज्ञानुष्ठान के प्रमुख पुरोहित थे, जोकि यज्ञ के निर्दिष्ट देवताओं (इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि) के आवाहन तथा उपलक्ष में उपयुक्त

---

* भगवत शरण उपाध्याय——प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ—२६

स्तुतियाँ गाया करते थे। उद्गाता पुरोहित केवल 'सोम' यज्ञ के मंत्रों का गायन करते थे। अध्वर्यु पुरोहितों के जिम्मे यज्ञ के विभिन्न व्यावहारिक कार्य थे। ब्राह्मण पुरोहित यज्ञ के समस्त व्यापारों की देख-भाल किया करते थे। पुरोहितों के इस वर्गीकरण के कारण उनके कार्य-संबंधी विशेषीकरण की प्रवृत्ति जागृत हुई। उद्गातृ पुरोहितों के लिए सोम-यज्ञ-संबंधी सभी मंत्रों का विशेष अध्ययन आवश्यक हो गया। फलतः इस यज्ञ से संबंधित सभी मंत्र सामवेद में संगृहीत हुए। ७५ मंत्रों को छोड़कर सामवेद के सभी मंत्र ऋग्वेद से ही संकलित हैं।* उद्गाताओं की सुविधा के लिए सामवेद के मंत्र दो भागों में संयोजित हैं, जिन्हें 'पूर्वार्चिक' तथा 'उत्तरार्चिक' कहते हैं। पूर्वार्चिक में कम-से-कम ५८५ प्रकार के लय संगुफित हैं। अध्वर्यु पुरोहित से संबंध रखनेवाले मंत्र यजुर्वेद में संकलित हुए। इन पुरोहितों के व्यावहारिक कार्यों के अनुरूप ही यजुर्वेद के अधिकांश मंत्र गद्य में हैं। पद्यात्मक मंत्र अधिकतर ऋग्वेद से ही संगृहीत हैं।† होतृ पुरोहितों का संबंध विशेषतः ऋग्वेद से ही रहा। इस तरह तीन प्रकार के पुरोहितों के तीन स्वतन्त्र वेद थे, जिनमें से एक-एक के विशेष अध्ययन के लिए वैदिक पुरोहित संलग्न रहने लगे। फलतः ऋग्वैदिक विद्यालय तीन प्रमुख शाखाओं में विभक्त हुआ। प्रत्येक शाखा अपने विद्यार्थियों को किसी एक वेद की विशेष शिक्षा दिया करती थी। होतृ विद्यार्थी ऋग्वेद का विशेष अध्ययन करते थे, उद्गातृ सामवेद का तथा अध्वर्यु यजुर्वेद का। ब्राह्मण विद्यार्थी को तीनों वेदों की जानकारी आवश्यक थी, ताकि वे यज्ञ के समस्त क्रियाओं की देख-भाल कर सकें। अथर्ववेद का प्रादुर्भाव कुछ दिन पीछे हुआ और वेद-वृत में सम्मिलित होने के लिए इन्हें काफी प्रयास करना पड़ा। कालान्तर में इस वेद से संबंधित स्वतंत्र शाखा भी उत्पन्न हुई।

कर्मकाण्ड की उपरोक्त प्रधानता के कारण उत्तरवैदिक काल के पूर्वार्द्ध में भारतीय शिक्षा यज्ञानुष्ठान से ही विशेष संबंधित हो गई। आत्म-चिंतन तथा साधनात्मक स्वानुभूति के बदले यज्ञ की वाह्यात्मक यांत्रिक रीतियाँ

---

* Keay—Indian Education in Ancient and Later Times —Page 6.

† Keay— Do Do

ही शिक्षा के प्रमुख विषय बन गईं ।* इन रीतियों की जानकारी तथा इनके व्यावहारिक प्रयोग ही वैदिक-विद्यार्थियों के अध्ययन के प्रधान उद्देश्य हो गये थे। शिक्षा के इस स्थूल मार्गीकरण से उच्च आध्यात्मिक चिन्तन को कुछ आघात अवश्य पहुँचा। किन्तु इस यांत्रिक वाह्यात्मक शिक्षा-पद्धति से भी कई तरह के नये ज्ञान आविष्कृत हुए। होता पुरोहितों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये शिक्षा (phonetics) तथा छन्द, वेदांगों के रूप में, पूर्णतः विकसित हुए। प्रातिशाख्य साहित्य भी इन्हीं होता पुरोहितों की देन है। यज्ञ-सम्पादन की रीतियों के सम्बन्ध में मत-मतान्तर होना स्वाभाविक था। फलतः इन रीतियों से संबंधित अनेक धाराएँ कालान्तर में प्रस्फुटित हुईं। यजुर्वेद के विषय में पतञ्जलि के समय तक १०१ मत विकसित हुए। अध्वर्यु पुरोहितों के यज्ञ-सम्बन्धी उपकरणों के स्वरूप आदि के संबंध में गहरी छानबीन हुई। यज्ञ के उपयुक्त स्थान का निर्णय, वेदी-निर्धारण, उसकी नाप-जोख तथा समानुपातिक स्वरूप की समीक्षा, यज्ञ के लिये उपयुक्त ऋतु तथा समय आदि पर भी काफी चिन्तन हुआ, जिसके फलस्वरूप कई भौतिक विज्ञानों तथा हस्तकलाओं की सृष्टि हुई। ज्यामिति, ज्योतिष, गणित आदि भौतिक विज्ञानों की प्रेरणा इन्हीं अध्वर्यु पुरोहितों से प्राप्त हुई। यज्ञ के पशु के शरीर की जाँच तथा नाप-जोख आदि के प्रसंग में शरीर-विज्ञान का अभ्युदय हुआ। इस तरह वैदिक-कर्मकाण्ड की शिक्षा-पद्धति से कई तरह के उपयोगी भौतिक विषय आविष्कृत तथा विकसित हुए। धार्मिक क्षेत्र में उत्तर-वैदिक कर्मकाण्ड ने ब्राह्मण-साहित्य का जन्म दिया, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में थोड़े ही दिन बाद उपनिषद् साहित्य का आविर्भाव हुआ। वस्तुतः उत्तरवैदिक काल कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनों ही क्षेत्रों में सूक्ष्म अन्वेषण का काल था। इस काल में ही एक विशद धार्मिक साहित्य की सृष्टि हुई, जिसके स्पर्श से भारतीय अध्यात्म का कुछ भी अछूता न रहा। उत्तरवैदिक शिक्षा-पद्धति की पृष्ठभूमि के रूप में इस साहित्य का एक संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

ब्राह्मण-साहित्य—वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान वेदों के बाद ही है। ये ग्रन्थ अधिकांशतः गद्य में ही हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के दो

---

* The external, material and mechanical aspects of worships and sacrifice became now the principal subjects of study—R. K. Mookerji—Ancient Indian Education Pages—61-62.

विभाग किये जा सकते हैं—'विधि' तथा 'अर्थवाद'। विधि में यज्ञ-सम्पादन की रीतियों का विवरण है तथा अर्थवाद में मंत्रों की व्याख्या है। व्याख्या की आवश्यकता स्पष्ट है। ऋग्वैदिक मंत्रों की भाषा बोलचाल की भाषा से बहुत दूर हट चुकी थी और फलतः इन मंत्रों के अर्थ भी 'लुप्त या दुरूह' हो गये थे। व्याख्या के प्रसंग में कथा-कहानी, राजाओं के शौर्य-विवरण आदि भी प्रयुक्त हुए हैं। अधिकांश ब्राह्मण-ग्रन्थ अप्राप्य हैं। प्राप्त ग्रन्थों में प्रमुख ये हैं:—

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ऐतरेय और कौषीतकी।
सामवेद का ताण्ड्य।
यजुर्वेद के तैत्तिरीय तथा शतपथ।
अथर्ववेद का गोपथ।

वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ पुरोहितों के ग्रन्थ हैं, जिनमें यज्ञानुष्ठान के बहुत ही विस्तृत तथा पेचीले विधि-विधान निरूपित किये गये हैं। वैदिक कर्मकाण्ड की पराकाष्ठा इन ग्रन्थों में अभिव्यक्त हुई है। इस सुविस्तृत कर्मकाण्ड के द्वारा धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों ने अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया।

आरण्यक—प्रत्येक ब्राह्मण के अन्त में "आरण्यक" संयोजित हैं। जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, आरण्यक उन ब्राह्मण-संन्यासियों के लिये था, जो जंगलों में रहकर आत्म-चिन्तन में निरत रहते थे। ऐसे व्यक्तियों के लिए यज्ञानुष्ठान की आवश्यकता न थी। भाषा तथा शैली में ये 'आरण्यक' ब्राह्मण-ग्रन्थों के समान ही हैं; किन्तु इनमें यज्ञ की रीतियों का वर्णन नहीं है, बल्कि इनमें सैद्धांतिक तथा दार्शनिक विवेचन की प्रधानता है। इस दृष्टिकोण से ये परवर्ती उपनिषदों के अग्रदूत कहे जा सकते हैं, जिनमें आध्यात्मिक चिन्तन पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ।

उपनिषद्—उपनिषद् साहित्य में भारतीय अध्यात्म अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। उपनिषदों के ब्रह्मवाद से उच्चतर दार्शनिक विवेचन की कल्पना नहीं की जा सकती।* शौपेनहर, मैक्समूलर, मैकडोनेल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान भी उपनिषदों के सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण तथा उनके अन्तिम तत्त्व-निरूपण से स्तब्ध रह गये हैं। ब्रह्म तथा अन्तिम सत्ता (Absolute) की इतनी गहरी परख

* Philosophical conceptions unequalled in India, or perhaps anywhere else in the world—Paul Deussen Philosophy of the Upanishad.

तथा इतनी स्पष्ट अभिव्यंजना मानव-संस्कृति के इतिहास में पहले कभी न हुई थी।* लौकिक क्षेत्र में, उपनिषदों ने न केवल मानव-व्यक्तित्व की उच्चतम मर्य्यादा प्रतिपादित की, बल्कि एक सार्वभौम मानव-धर्म का सुदृढ़ आधार प्रस्तुत कया, जिसपर एक विश्व-संस्कृति का निर्माण किया जा सकता है। शोपेनहर के अनुसार, उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित धर्म, आज न कल, विश्व-धर्म अवश्य होगा।†

उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ है "समीप बैठा हुआ" (उप-नि-सद्)। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् साहित्य का निर्माण विशेष प्रकार की शिक्षा-पद्धति में ही हुआ था, जिसमें कुछ चुने हुए प्रतिभा-सम्पन्न तथा लग्नशील विद्यार्थियों को, उनकी सामान्य शिक्षा की समाप्ति के बाद, गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों की शिक्षा गुप्त ढंग से दी जाती थी।‡ सामान्य वैदिक गुरुकुलों में शिक्षा समाप्त कर लेने पर भी कुछ विद्यार्थियों को आत्मतुष्टि न होती थी और वे सुविख्यात ब्रह्मज्ञानियों के चरणों में बैठकर परम ज्ञान की उपलब्धि किया करते थे। श्वेतकेतु तीनों वेदों का अध्ययन समाप्त कर २४ वर्ष की आयु में घर लौटा। उसे अपनी विद्वत्ता पर अभिमान था। उसके पिता ने 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे। श्वेतकेतु इनका उत्तर न दे सका। तत्पश्चात् उसके पिता ने स्वयं उसे अन्तिम तत्त्व की शिक्षा देनी प्रारम्भ की। इस दृष्टान्त तथा अन्य ऐसे ही दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि उपनिषदों का आविर्भाव कुछ उच्च श्रेणी के आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिये हुआ, जिनकी ज्ञान-पिपासा ब्राह्मण-वैदिक विद्यालयों के अध्ययन से शांत न हो सकी थी। उपनिषदों में वैदिक शिक्षा-पद्धति पुनः साधनात्मक चिन्तन की ओर मुड़ी।

---

* Brahman or Absolute is grasped and definitely expressed for the first time in the history of the human thought in the Brihadaranyak Upanishad—Macdonel.

† It is destined sooner or later to become the faith of the people. Schopenhuer—Nineteenth century Part—I.

‡ The expression Upa-ni-sad literally means "sitting down near" and indicates confidential sessions at which the secret or esteoric doctrines were taught to the selected pupils towards the close of their studentship.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 73.

The word Upanisad comes from Upa ni sad "sitting down near". It means "sitting down near" the teacher to receive instruction. It gradually came to mean what we received from the teacher, a sort of secret doctrine or 'rahasya'. Radhakrishnan--Indian Philosophy Vol. I--P. 141.

उपनिषदों ने स्पष्टत: घोषित किया कि ब्रह्म की प्राप्ति याज्ञिक कर्मकाण्ड से नहीं, अपितु अन्तर्मुखी साधना से ही सुलभ है। "मुण्डक उपनिषद् में क्रियात्मक यज्ञ-कर्त्ताओं को मूर्ख तक कहा गया है।* वृहदारण्यक तो यज्ञ करनेवालों को देवताओं के पशु कहता है।"† उपनिषदों में सत्य-ज्ञान ही मोक्ष का साधन माना गया है, और आत्मा का परमात्मा अथवा ब्रह्म में लय हो जाना ही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप है। ऋग्वैदिक ज्ञान-काण्ड की परिणति उपनिषदों में परिलक्षित हुई। काल-क्रम के अतिरिक्त इस विचार से भी उपनिषद् वेदों के अन्त अथवा वेदान्त हैं। उपनिषदों के "बौद्धिक आन्दोलन" की प्रेरणा से व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष वेदांग के रूप में पल्लवित तथा प्रतिष्ठित हुए। इनका उद्देश्य वेदों के वास्तविक अर्थ का उद्घाटन करना था, ताकि विद्यार्थियों को सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सके। "इनमें यास्क का निरुक्त बड़ा ही विशिष्ट ग्रंथ है, जिसमें लगभग छठी-सातवीं शताब्दी ई० पू० के शब्दार्थ पर गवेषण और गद्यात्मक विचार है। इसी काल में व्याकरण के उन सूत्र-ग्रंथों का आरम्भ भी हुआ। उदाहरण स्वरूप पाँचवीं सदी ई० पू० के वैयाकरण पाणिनि ने व्याकरण के अंकुश से शिष्टभाषित संस्कृत को एक विशेष मर्य्यादा और रूप दिया।"‡

इस तरह, उत्तरवैदिक काल में भारतीय शिक्षा की दो प्रवृत्तियाँ क्रमश: परिलक्षित हुईं। इस काल के पूर्वार्ध में भारतीय शिक्षा प्रधानत: कर्मकाण्ड से सम्बन्धित रही, जिसके फलस्वरूप सामवेद तथा यजुर्वेद की रचना हुई। इस शिक्षा-पद्धति का सुविस्तृत रूप ब्राह्मण-साहित्य में अभिव्यक्त हुआ। उत्तर-वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में भारतीय शिक्षा कर्म-काण्ड से विरत होकर ज्ञान-काण्ड की ओर पुन: आकृष्ट हुई, जिसके कारण ही भारतीय आध्यात्मिक क्षेत्र में उपनिषदों का ब्रह्मवाद प्रतिष्ठित हुआ। नीचे उत्तर-वैदिक शिक्षा-पद्धति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जाता है। यह विवरण उपनिषद्-साहित्य के द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति से अधिक सम्बद्ध है। उपनिषदों ने मानव-जीवन का एक स्पष्ट लक्ष्य निर्दिष्ट किया तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति की एक सुव्यवस्थित पद्धति निरूपित की।

---

* मुण्डकोपनिषद् – १।२।७

† वृहदारण्यक उपनिषद्–१।४।१०

‡ भगवतशरण उपाध्याय– प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ५९

फलतः उपनिषद्-साहित्य में भारतीय शिक्षा का आदर्श तथा प्रौढ़ स्वरूप प्रकट हुआ, जिसके आधारभूत सिद्धान्तों का कायल आधुनिक शिक्षा-शास्त्र भी बहुलांश में है ।

शिक्षा का उद्देश्य—* उप द् साहित्य में वहीनिषशिक्षा शिक्षा मानी गयी है, जिसके द्वारा मनुष्य को परम ज्ञान अथवा ब्रह्म की उपलब्धि हो सके । वही ज्ञान ज्ञान है जो ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान दे । अन्य सभी प्रकार के ज्ञान वस्तुतः अज्ञान अथवा अविद्या हैं । इसी अविद्या के कारण मनुष्य सांसारिक उलझनों में निरत रहकर अपने जीवन के मूल उद्देश्य से विमुख हो जाता है और आवागमन के चक्र में फँसकर निरन्तर दुःख भोगता रहता है । सच्चे ज्ञान की उपलब्धि तभी हो सकती है जबकि जिज्ञासु मिथ्या सांसारिक ज्ञान से अपने को विमुक्त कर ले तथा अन्तर्मुखी साधना के द्वारा अपनी आत्मा के प्रकाश में ब्रह्म का साक्षात्कार कर ले। उसी ज्ञान के द्वारा वह अपने को ब्रह्म में विलीन करने में समर्थ हो सकता है, जो कि उसके जीवन का मूल उद्देश्य है ।

शिक्षक का स्थान—स्वाध्याय की प्रधानता होते हुए भी प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में शिक्षक का महत्त्व पूर्णतः प्रतिपादित था । "बिनु गुरु होंहि न ज्ञान"—इस तथ्य से भारतीय शिक्षा-जगत् प्रारम्भ से ही भलीभाँति परिचित रहा है ।

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम् ।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णंबोधस्य कारणम् ।।†

मनन तथा निदिध्यासन की स्वाध्यायात्मक प्रक्रियाओं के पहले गुरु के उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुनना अत्यावश्यक माना गया है । औपनिषदिक शिक्षा-पद्धति में शिक्षक को लोकोत्तर गौरव प्राप्त है ।

न नरेणावरेण प्रोक्तं एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।।‡

आत्मतत्त्व का विषय इतना गहन है कि जब तक इसे यथार्थ रूप से समझानेवाला शिक्षक न मिले, तब तक इसमें किसी शिक्षार्थी का प्रवेश पाना

---

* विस्तृत विवेचन के लिए देखिए प्रस्तुत पुस्तक, सामान्य परिचय-पहला अध्याय

† शुक-रहस्य ०– ३।१३

‡ कठोपनिषद् –१।२।८

असम्भव है। साथ ही गुरु के उपदेश ग्रहण किये बिना अपनी विद्या-बुद्धि पर अभिमान करनेवाला व्यक्ति वैसा ही है, जैसा एक अंधा किसी दूसरे अंधे के द्वारा प्रचालित होता है।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥*

अतः परम ज्ञान की प्राप्ति के लिये जिज्ञासु को ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये।

तद्धि ज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् †

मैत्रायण उपनिषद् में परम ज्ञान का अधिकारी पुत्र अथवा शिष्य के अतिरिक्त अन्य नहीं माना गया है। यह भी कहा गया है कि उच्चतम ज्ञान की शिक्षा उसी व्यक्ति को दी जानी चाहिये जो सत्पात्र हो तथा शिक्षक में पूर्ण श्रद्धा रखता हो।‡

उपयुक्त सद्गुरु की खोज में विद्यार्थी दूर-दूर स्थानों का परिभ्रमण करते थे और अनेक कष्टों को झेलते हुए भी वे प्रख्यात गुरु से ही शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे। तैत्तिरीयोपनिषद् में इसका संकेत मिलता है।

यथाऽऽपः प्रवहता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा।§

"जिस प्रकार समस्त जल-प्रवाह नीचे की ओर बहते हुए समुद्र में मिल जाते हैं तथा जिस प्रकार महीने दिनों का अन्त करनेवाले संवत्सर-रूप काल में जा रहे हैं, हे विधाता, उसी प्रकार मेरे पास सब ओर से ब्रह्मचारी लोग आयें।"

गुरु की आवश्यकता के साथ-साथ उसकी मर्य्यादा का उच्चतम प्रतिष्ठापन भी उपनिषद्-साहित्य में हुआ है।

"गुरु साहब दोनों खड़े, काके लागूं पाइ।
वलिहारी गुरुदेव की, जिन साहव दियो दिखाइ॥"

---

* मुण्डकोपनिषद् –१।२।८

† ,, –१।२।१२

‡ मैत्रायण-उपनिषद्–६।२९

§ तैत्तिरीयोपनिष –१।४।२

कबीर की इस उक्ति में औपनिषदिक गुरु का गौरव प्रतिध्वनित है। साधक के लिए गुरु [का स्थान 'साहब' से किसी अंश में कम नहीं है, इसका निर्देश भारतीय साहित्य में बहुत पहले हो चुका था।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।*

"जिस साधक की परमदेव परमेश्वर में भक्ति होती है और जिस प्रकार परमेश्वर में होती है, उसी प्रकार अपने गुरु में भी होती है, उस महात्मा-मनस्वी पुरुष के हृदय में ही ये बताए हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं।"

तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११) में भी शिक्षक देव-तुल्य (आचार्यदेवो भव) ही माने गये हैं। वस्तुतः गुरु-कृपा से ही आत्म-ज्ञान सुलभ है। "प्रभु परमेश्वर की कृपा का आधार भी गुरु-कृपा ही है। बिना गुरु की कृपा के परम प्रभु की कृपा नहीं होती, और बिना प्रभु की कृपा से तत्त्व-ज्ञान नहीं मिलता।" गुरु की प्रतिष्ठा का इससे अधिक मूल्यांकन संभव नहीं। "उपनिषद् का स्पष्ट प्रवचन है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।†

यह परमात्मा जिसके ऊपर कृपा करता है, वही इसे प्राप्त करता है।"

किन्तु देव-तुल्य गुरु की परिभाषा भी उपनिषदों में बड़ी कड़ी रखी गयी है। वही व्यक्ति गुरु होने का अधिकारी है, जिसे ब्रह्म-ज्ञान पूर्णरूप से प्राप्त हो चुका है। गुरु के लक्षणों का स्पष्ट निर्देश करते हुए उपनिषद् का यह उपदेश है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ‡

"श्रोत्रिय अर्थात् वेदार्थ के ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी तत्त्व-दर्शी गुरु" द्वारा ही तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। फलतः ऐसे तत्त्व-दर्शी गुरु को प्रसन्न कर उनसे उपदेश ग्रहण करने का आदेश भगवद्गीता में भी दिया गया है।

---

* श्वेताश्वतरोपनिषद्—६।२३

† कठोपनिषद्—१।२।२३

‡ मुण्डकोपनिषद्—१।२।१२

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।*

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध:—गुरु के संरक्षण में प्रविष्ट होने के लिये शिष्य हाथ में अग्नि लेकर उनके समक्ष उपस्थित होता था । इस प्रथा का आशय यह था कि वह गुरु की यज्ञशाला की अग्नि को सतत प्रज्वलित रखने तथा गुरु की सेवा-शुश्रूषा के लिए प्रण-वद्ध होता था । उपनिषद्-ग्रंथों में इस प्रथा का उल्लेख कई जगह है । मुण्डकोपनिषद् के उपरोक्त उपदेश (१।२।१२) में कहा है कि जिज्ञासु को ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास "समित्पाणिः"—हाथ में समिधा लेकर उपस्थित होना चाहिये । छान्दोग्य-उपनिषद् में आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन दोनों ही हाथ में समिधा लिये प्रजापति की शरण में उपस्थित होते हैं ।† तीन वार और इन्द्र 'समित्पाणि' होकर प्रजापति के पास आये थे । कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् में आरुणि मुनि हाथ में समिधा ले, जिज्ञासु के वेष में, गर्ग के प्रपौत्र चित्र के यहाँ जाते हैं ।‡ इसी उपनिषद् में गार्ग्य बालाकि क्षत्रिय राजा अजातशत्रु से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के निमित्त "हाथ में समिधा लेकर उनके पास गये और शिष्यत्व याचना की" ।§ शतपथ ब्राह्मण में भी शिष्य को समिधा के साथ ही गुरु के सामने उपस्थित होने का उल्लेख है ।£ अतः प्राचीन भारत में शिष्य न केवल गुरु का शिक्षार्थी था, बल्कि यह उनका सेवक भी था । गुरु की सेवाओं में संलग्न रहना उसका छात्र-धर्म था, जिसकी उपेक्षा वह नहीं कर सकता था । भगवद्गीता के उपरोक्त (४।३४) में भी गुरु की सेवा का स्पष्ट आदेश, "परिप्रश्नेन सेवया" में, दिया गया है । उपकोशल ने भी अपने गुरु सत्य-काम जावाल की यज्ञशाला की अग्नि की सेवा १२ साल तक की थी ।+ इन सेवाओं को सम्पादित करते हुए ही वह मानसिक अध्ययन का अवकाश प्राप्त करता था तथा उसका पूर्ण उपयोग भी करता था ।×

---

* गीता — ४।३४
† छान्दोग्य-उप०—८।७।१-३
‡ कौषीतकी ब्रा०—१।१
§ ,, —४।१९
£ शतपथ-ब्राह्मण—१०।६।५-९
\+ छान्दोग्य-उपनिषद्—४।१०।१-३
× ,, ४।७।१-४

गुरु के कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व भी स्पष्टतः निर्धारित थे। अपने शिष्य को उन्हें पुत्र के समान ही समझना होता था। शिष्य की सारी सुविधाओं का प्रबन्ध करना उनका धर्म था। उसके रहन-सहन, भोजन-वस्त्र आदि की व्यवस्था उन्हीं के जिम्मे थी। शिष्य की बीमारी आदि में उसकी सेवा-शुश्रूषा का प्रबन्ध वे करते थे, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं भी शिष्य की सेवा करते थे। शिष्य उनके परिवार का एक अंग था। वस्तुतः वह उनका पुत्र ही था। फलतः प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अत्यन्त स्नेहपूर्ण होता था। इसका भी प्रमाण है कि अनेक शिष्य गुरु के स्नेह तथा सद्व्यवहार से अपने घर तक को भी भूल जाते थे तथा आजीवन गुरु के साथ ही रहते थे। ऐसे शिष्यों को "अन्तेवासिन्" कहा जाता था।

स्नेहपूर्ण व्यवहार के साथ-साथ गुरु का यह भी कर्त्तव्य था कि वह अपने शिष्य को सच्चे ज्ञान की शिक्षा दे, ताकि वह शिष्य ब्रह्म की प्राप्ति कर सके।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।‡

श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ महात्मा को चाहिये कि "अपनी शरण में आये हुए शिष्य को—जिसका चित्त पूर्णतया शान्त है, जिसने अपने मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को भलीभाँति वश में कर लिया है, उसे ब्रह्मविद्या का तत्त्वपूर्ण विवेचन भलीभाँति समझाकर करे, जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम का ज्ञान प्राप्त कर सके।"

इसके अतिरिक्त, गुरु को किसी भी आध्यात्मिक तत्त्व को शिष्य से गुप्त न रखना चाहिये। ब्रह्म के सत्य-स्वरूप को सत्यरूप में ही शिष्य के समक्ष रखना गुरु का कर्त्तव्य था।

---

‡ मुण्डकोपनिषद्—१।२।१३

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि ।......* इन मंत्रों में ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञान तथा उनके यथार्थ स्पष्टीकरण का उपदेश है ।

किन्तु, गुरु को यह स्वतन्त्रता थी कि अयोग्य शिष्य को ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा न दे । शिक्षा प्रारम्भ करने के पहले शिष्य की कड़ी जाँच होती थी । इस जाँच में अनुत्तीर्ण होने पर शिक्षक को यह स्वतन्त्रता थी कि वे उसे ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा न दें ।‡ "जिस प्रकार मलिन वस्त्र पर रंग ठीक नहीं चढ़ता, और जिस प्रकार बंजर भूमि में जहाँ लम्बी-लम्बी जड़ोंवाली घास पहले से जमी हुई है, धान्य-बीज अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार अनधिकारी के वासनापूर्ण अन्तःकरण में ब्रह्म-विद्या का उपदेश-बीज अंकुरित नहीं होता और कुछ अंकुरित भी हो जाय तो वृद्धिङ्गत होकर फलित नहीं होता, उसी प्रकार अनधिकारी के वासनापूर्ण हृदय में ब्रह्म-विद्या का उपदेश-बीज अंकुरित नहीं होता और यदि कुछ अंकुरित हो भी जाय तो उसमें आत्मनिष्ठा की वृद्धि और जीवन्मुक्तिरूपी फल की प्राप्ति नहीं होती । इसीलिये शास्त्रों में सर्वत्र अधिकारीरूपी क्षेत्र की सम्यक् परीक्षा का विधान है ।" ब्रह्मविद्या का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता था जो कि सत्पात्र हो ।

नापुत्राय दातव्यं नाशिष्याय दातव्यम् ।
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यं मासं षण्मासवत्सरम् ।

अयोग्य पुत्र और शिष्य भी इस शिक्षा से वंचित रखे जा सकते थे । मैत्रायण-ब्राह्मण-उपनिषद् (६,२९) में भी स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान उसी शिष्य को दिया जाना चाहिये जो गुरु में पूर्ण निष्ठा रखे तथा जो आवश्यक गुणों से सम्पन्न हो ।

उत्तरवैदिक काल में भी आध्यात्मिक शिक्षा बहुधा पिता के द्वारा ही सम्पादित होती थी । श्वेतकेतु ने, गुरु के अतिरिक्त, अपने पिता आरुणि से भी शिक्षा प्राप्त की थी । ब्रह्मज्ञान पिता ही से उन्हें प्राप्त हुआ था ।† भृगु ने अपने पिता वरुण से ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा ग्रहण की थी ।

---

* तैत्तिरीयोपनिषद्—१।१

‡In ancient times the greatest care used to be taken to discover the aptitude and fitness (अधिकतर) of an individual to receive any particular kind of education—Education in Ancient India:—
N. N. Mazumder—P. 36.

† छान्दोग्य—७।१।७

भृगुर्वै वारुणि: वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।*

उत्तरवैदिक काल में भी ब्राह्मणों के लिये ब्रह्मचर्य अनिवार्य नहीं था ।‡ श्वेतकेतु के पिता ने स्वेच्छा से अपने पुत्र को विद्याध्ययन के लिये भेजा था ।† जाबाल के पुत्र सत्यकाम ने भी स्वेच्छा से ही विद्याध्ययन प्रारम्भ किया था ।§ प्राचीनशाला आदि महागृहस्थ श्रोत्रियों को वैश्वानर आत्मा का ज्ञान अश्वपति कैकय ने उनका "उपनयन न करके ही" दिया था ।£ छान्दोग्य उपनिषद् के इन दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि उत्तरवैदिक काल में ब्रह्मचर्य-आश्रम का पालन अनिवार्य न हुआ था । चार आश्रमों की धार्मिक अनिवार्यता बाद में प्रतिपादित हुई । उपनिषद्-काल में इन आश्रमों का संगठन प्रारम्भ हो गया था । किन्तु वे धर्म के रूप में प्रतिष्ठित न हो सके थे ।*

उपनयन—सामान्यत: वैदिक शिक्षा उपनयन-संस्कार के सम्पादन के पश्चात् प्रारम्भ होती थी ।X यह प्रथा बहुत प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में प्रचलित थी । ऋग्वेद में कई स्थलों पर इसका संकेत है ।❀ किन्तु, प्रारम्भ में उपनयन का सम्पादन अनिवार्य न था । बहुधा लोग बिना उपनयन के ही विद्याध्ययन शुरू कर देते थे ।¶ उत्तरवैदिक काल में उपनयन का महत्त्व पूर्णत: प्रतिष्ठापित हो गया था तथा सूत्र-काल में तो द्विजों के लिये उपनयन अनिवार्य हो गया था । अथर्ववेद में उपनयन-संस्कार का विस्तृत

---

* तैत्तिरीयोपनिषद्—३।१

‡....The entrance upon the life of a Brahmin student, while a commendable custom was not yet universally enjoined upon the Brahmins—
R. K. Mookerji—Education in Ancient India—P. 91.

† छान्दोग्य—६।१।७

§ " —४।६।३

£ " —५।११।७

*The Upanishads show us the theory of the four Ashramas in process of formation—
Keay—Indian Education in Ancient and Later Times —P. 26.

X Altekar—Education in Ancient India—P. 271.

❀ ऋग्वेद—१०।१०६।५

¶ Not obligatory till 400 B.C.—Altekar P. 269.

विवरण मिलता है। इस संस्कार के सम्पादन के बाद ही शिष्य का आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता था तथा उसे 'द्विज' की संज्ञा प्राप्त होती थी। माता-पिता ने उसे केवल भौतिक जन्म दिया था, उसका आध्यात्मिक जन्म गुरु के द्वारा ही संपन्न होता था, जब वह उपनयन के पश्चात् ब्रह्मचारी के रूप में नवीन जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ करता था।

उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

यह संस्कार तीन रात में सम्पादित होता था। इसकी विधि तथा इसका महत्त्व शतपथ-ब्राह्मण तथा उपनिषदों में भी वर्णित है।§ उपनयन की आकांक्षा में शिष्य परम विनीत भाव से गुरु के सम्मुख हाथ में समिधा लेकर उपस्थित होता था और याचना करता था—"भगवन्! मुझे ब्रह्मचारी बनावें।"‡ गुरु उसका नाम तथा उसके वंश के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछते थे। उत्तर से संतुष्ट होने के पश्चात् वे आगन्तुक को शिष्य के रूप में ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत होते थे। भावी शिष्य के मस्तक पर हाथ रख वे अपना संरक्षण प्रदान करते थे। उपनयन की अवधि तीन दिन की होती थी। प्रथम दिवस शिष्य का गुरु के द्वारा आध्यात्मिक गर्भाधान होता था, (तेन गर्भी भवति)। तीसरी रात्रि को शिष्य का पुनर्जन्म होता था। सावित्री की शिक्षा के साथ वह ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रवेश करता था।

उपनयन के सम्पादन की रीति से यह स्पष्ट है कि यह संस्कार नितान्त आध्यात्मिक था। विद्यालय-प्रवेश की आधुनिक यांत्रिक रीतियों से वह सर्वथा भिन्न था।† प्रवेश-शुल्क के अतिरिक्त विद्यालय से संबद्ध करनेवाला कोई भी नैतिक सूत्र आधुनिक शिक्षा-पद्धति में नहीं है। शिक्षक का तो स्थान ही इसमें गौण है।

उपनयन के विधिवत् सम्पादन के बाद शिष्य गुरु के साथ ब्रह्मचर्य-वास करता हुआ विद्याध्ययन करता था। ब्रह्मचारी के बाह्य चिह्न थे

§ शतपथ-ब्राह्मण—११।५।४

‡ कौषितकी उप०—४।१६, छांदोग्य उप०—४।४।५, ५।१३।७।८।७।२
मुण्डक उप०—१।२।१२.
प्रश्नोपनिषद्—१।१

† ....The details of which disclose the essentially spiritual character of the process as distinguished from the mechanicals character of the modern substitutes......Altekar....Pages 270.

कुश-मेखला, मृगछाल, लम्बे केश, दण्ड तथा कमण्डल। इसके आभ्यन्तरिक चिह्न थे--श्रम, तपस् और दीक्षा। ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुत है। अथर्ववेद में परमब्रह्म ही परमब्रह्मचारी के नाम से वर्णित है। समस्त सृष्टि ब्रह्मचर्य ही के तप का फल है।

स दाधार पृथिवीं दिवं च।*

ब्रह्मचर्य ही के प्रताप से राजा राज्य की रक्षा करते हैं तथा इसी के प्रताप से देवताओं ने मृत्यु को जीता।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।†

उपनिषदों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि शिष्यत्व के लिये उत्तर-वैदिक काल में किसी तरह का वंश-गत प्रतिबन्ध न था। भावी शिष्य से उसके पूर्वज-संबंधी प्रश्न कुछ ऐसे अन्यमनस्क ढंग से होते थे, जिससे पता चलता है कि गुरु उनके उत्तर को अधिक महत्त्व न देते थे।‡ कभी-कभी तो ऐसे प्रश्नों के बिना ही गुरु शिष्य को स्वीकार कर लेते थे। केवल उसका नाम आवश्यक था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उत्तर-वैदिक काल में छात्रत्व के लिए उपनयन अनिवार्य न था। अश्वपति कैकय ने संभ्रान्त ब्राह्मण शिष्यों को उपनयन के बिना ही शिक्षा देनी प्रारम्भ कर दी थी। ऐसे अन्य दृष्टान्त भी हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

शिष्य का दैनिक कार्यक्रम--गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य-व्रत को पालन करते हुए शिष्य विद्याध्ययन में संलग्न रहता था। उसके दैनिक कार्यक्रम में तीन तरह की शिक्षाएँ सम्मिलित थीं--व्यावहारिक, मानसिक तथा नैतिक।

व्यावहारिक शिक्षा के तीन अंग थे--भिक्षाटन, होम की अग्नि तैयार करना, पशुओं की परिचर्या, भूमि-सेवा आदि।

ब्राह्मण तथा उपनिषद्-साहित्य में इन तीनों प्रकार के व्यावहारिक कार्यों का महत्त्व वर्णित है। भिक्षाटन से शिष्य के हृदय में विनम्रता

---

* अथर्ववेद--११।५।१

† अथर्ववेद--११।५।१७

‡ R. K. Mookerji--Pages 92.

का भाव उत्पन्न होता था। होम की अग्नि प्रज्वलित करने से उसके मस्तिष्क में आध्यात्मिक तेज का अभ्युदय होता था। पशुओं की परिचर्या एवं भूमि-सम्बन्धी कार्यों से उसका शरीर सबल एवं आचरण शुद्ध होता था। शतपथ-ब्राह्मण में शिष्य गुरु तथा उनके पशुओं की रक्षा करते कहे गये हैं।* उपकोशल ने अपने गुरु सत्यकाम जाबाल की अग्नि १२ वर्षों तक प्रज्वलित की थी।† स्वयं सत्यकाम जाबाल ने अधिक वर्षों तक सुदूर प्रदेश में गुरु की गौओं की सेवा की थी, जबकि ४०० गौएँ बढ़कर १००० हो गयी थीं।‡ अथर्ववेद तथा शतपथ-ब्राह्मण में ब्रह्मचारी भिक्षा माँगते वर्णित हैं।§ सांखायन आरण्यक में शिष्य गुरु की गौओं की रक्षा करते वर्णित हैं। ऐतरेय आरण्यक में 'तारुक्ष्य' गुरु की सेवा सालों भर करता है।£ वस्तुतः प्राचीन भारत में भूमि और गौ—आर्थिक समृद्धि की ये दो माताएँ पूज्या के रूप में प्रतिष्ठित थीं। इनकी सेवा-शुश्रूषा ब्रह्मचारी का प्रथम कर्त्तव्य था। याज्ञवल्क्य को राजर्षि जनक ने एक हजार गौएँ, जिनके सींग सोना से मढ़े हुए थे, दान की थीं। -

मानसिक—उपरोक्त व्यावहारिक कार्यों को करते हुए शिष्य मानसिक अध्ययन का अवसर प्राप्त करता था तथा इसका पूर्ण उपयोग करता था।¶ मानसिक अध्ययन के तीन अंग थे—इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के समुचित सम्पादन से ही ज्ञानार्जन संभव था। यह भी कहा जा चुका है कि शिष्य की मानसिक शिक्षा भी अनुभवात्मक अथवा अनुभूति-जन्य थी। गुरु के उपदेशों का श्रवणमात्र पर्याप्त न था। उत्तरवैदिक काल में अध्ययन-अध्यापन की व्यावहारिक पद्धति के कई नियम प्रचलित थे, जिनकी अवहेलना न गुरु कर सकते थे, न शिष्य ही कर सकता था। ऐतरेय आरण्यक में यह आदेश दिया गया है कि 'महा-

---

* शतपथ ब्राह्मण—११।५।४।५

† शतपथ ब्राह्मण—४।१।६

‡ छांदोग्य उप०—(४।१०।१-२) ऐतरेय आरण्यक

§ ,, —४।४५

£ अथर्ववेद—६।१३३।३

\- शतपथ ब्राह्मण—११।३।३।५

¶ सांखायन आरण्यक—७।१६

व्रत' के उच्चारण के समय गुरु तथा शिष्य "न खड़े रहें, न चलें-फिरें, न पड़ें, न आरामपूर्वक गद्दा आदि पर बैठें। दोनों ही एकाग्रचित्त कुशासन पर बैठे रहें।"

बैठने की विधि तथा शिष्य के वस्त्रादि के सम्बन्ध में भी नियम निर्धारित थे।

नैतिक शिक्षा—नैतिक शिक्षा प्रधानतः अभ्यासात्मक तथा व्यावहारिक थी। आचरण-सम्बन्धी ज्ञान कोरा व्याख्यान अथवा उपदेश के रूप में न दिया जाता था, बल्कि शिष्य के दैनिक जीवन में अभ्यास के रूप में यह ज्ञान प्रस्फुटित तथा विकसित होता था। ब्रह्मचर्य के कठोर अनुशासन में छात्रों का नैतिक जीवन स्वतः समुन्नत तथा सुदृढ़ होता रहता था। गोपथ-ब्राह्मण में ब्रह्मचारी के दैनिक आचरण की व्याख्या की गयी है।* ब्रह्मचारी के लिये काम, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार सर्वथा त्याज्य हैं। वृहदारण्यक-उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु को "शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित" होकर आत्म-दर्शन की चेष्टा करनी चाहिए।† शुद्ध आचरण के लिये शुद्ध तथा सात्त्विक भोजन अनिवार्य था। अतः ब्रह्मचारियों के भोजन तथा वस्त्रादि के सम्बन्ध में भी नियम निर्धारित थे। गर्म तथा उत्तेजक भोजन सर्वथा वर्जित थे, मांस भी त्याज्य था। वस्त्र अत्यन्त सामान्य थे। साथ ही ब्रह्मचारी को अपने शारीरिक सौन्दर्य से सर्वथा विमुख रहना पड़ता था। तैल आदि सुगंधित द्रव्यों का व्यवहार एकदम वर्जित था। 'शिरोव्रतम्' के अनुसार उसे अपना मस्तक मुड़ाए रखना पड़ता था।‡ यह व्रत सिर पर समिधा ढोने के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ माना जाता है।§

ब्रह्मचारी के शुद्ध आचरण के लिये प्रत्येक गुरु सतत प्रयत्नशील रहते थे। तैत्तिरीयोपनिषद् में वे शिष्य के हित के लिये निम्नलिखित मंत्रों के साथ हवन करते थे।

आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विशयन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।£

---

* गोपथ ब्राह्मण—१।२।१–६

† वृहदारण्यक उपनिषद्—४।४२३

‡ छांदोग्य ६।२६।२, मुण्डक उप०—३।८।६

§ Deussen—Philosophy of the Upanishads—P. 73.

£ तैत्तिरीयोपनिषद्—१।४

ब्रह्मचारी न केवल प्रामाणिक ज्ञान ग्रहण करनेवाले हों, बल्कि वे कपट-शून्य हों, इन्द्रियों को दमन करनेवाले हों तथा मन को वश में रखने-वाले हों—ऐसी थी गुरु की कामना !

पाठ्य विषय—ऋग्वैदिक काल में वैदिक-विद्यालयों के पाठ्य-विषय प्रधा-नतः ऋग्वैदिक मंत्रों से सम्बन्धित थे। ध्वनि, छन्द तथा व्याकरण की शिक्षा भी प्रारम्भ हो गयी थी। उत्तर-वैदिक काल में वैदिक विद्यालय के पाठ्य विषय बहुत विस्तृत हो गये थे। चार वेदों के अतिरिक्त इन वेदों से सम्ब-न्धित एक विशाल साहित्य का प्रादुर्भाव हो गया था, जिसका संक्षिप्त परि-चय पहले दिया जा चुका है। हम यह भी देख चुके हैं कि इस काल में धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त कई तरह के भौतिक साहित्य भी निर्मित हो चुके थे। फलतः छात्रों की पाठ्य-सामग्री पहले से कहीं अधिक बढ़ गयी थी। इसका संकेत छांदोग्य उपनिषद् में वर्णित नारद-सनत्कुमार-संवाद में मिलता है।† नारद सनत्कुमार से आग्रह करते हैं—"भगवन् ! मुझे उपदेश दें।" सनत्कुमार उत्तर देते हैं—"नारद, तुम जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुए मेरे प्रति उपसन्न होओ, तब मैं तुम्हें उससे आगे बतलाऊँगा।" विनीत स्वर में नारद ने कहा—"भगवन्, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। इनके सिवा इतिहास-पुराणरूपी पाँचवाँ वेद जानता हूँ। वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्ध-कल्प, राशि (गणित), दैव-विद्या, निधिशास्त्र, वाकोवाक्य, एकायन, देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्पविद्या, देव-जन-विद्या (नृत्य-संगीत आदि) भी मैं जानता हूँ।"† याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में भी लगभग ये ही विषय वर्णित हैं। "जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्नि से पृथक् धुंआ निकलता है, हे, मैत्रेयि ! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इति-हास-पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मंत्र-विवरण और अर्थवाद हैं—वे सब इस परमात्मा के ही निःश्वास हैं।‡

इन विद्याओं से भिन्न उपनिषद्-साहित्य में एक विशिष्ट विद्या की चर्चा है, जिसे पर-विद्या कहा जाता था। पर-विद्या से ब्रह्म-विद्या का तात्पर्य

---

† छांदोग्य-उप०—७।१ छांदोग्य—३।१०

‡ बृहदारण्यक उप०—२।४।१० बृहदारण्यक—६।१

है, जो कि सब विद्याओं में श्रेष्ठ है । इसी विद्या के उपार्जन से उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती थी, अन्यथा नहीं । अन्य विद्याएँ वस्तुतः अविद्या हैं जो कि आत्मा को परमात्मा से पृथक् रखती हैं । कठोपनिषद् के अनुसार वेद-वेदान्तों का ज्ञान (अपरा-विद्या) ** भी अविद्या माना गया है ।†† वृहदारण्यक उपनिषद् में पुस्तकों का ज्ञान जिह्वा-भार के रूप में ही गृहीत है ।£ १२ वर्षों के निरन्तर अध्ययन के उपरान्त भी श्वेतकेतु आत्म-ज्ञान से वंचित था । प्रवाहण के प्रश्नों का उत्तर वह न दे सकता था ।

स्पष्टतः सभी वैदिक छात्रों के लिए उपरोक्त विषयों का अध्ययन संभव न था । सामान्यतः छात्र का पाठ्य-विषय किसी एक वेद तथा उससे सम्बन्धित साहित्य तक सीमित रहता था । ब्राह्मण-ग्रंथों में तीन वेद के ज्ञाता श्रोत्रिय कहे गये हैं, त्रयी विद्या से ही वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है ।* काठक-संहिता में तीन वेद के विद्यार्थी को त्रि-शुक्रिय कहा गया है ।† किन्तु तीन वेदों के अध्ययन कुछ ही विद्यार्थी कर सकते थे । सामान्य वैदिक विद्यार्थी अपने आवश्यकतानुसार किसी एक वेद का ही पूर्ण अध्ययन करता था । बहुधा एक वेद का अध्ययन भी कई शाखाओं में विभक्त रहता था । ये शाखाएँ भी विभिन्न चरणों में विभाजित रहती थीं । उत्तरवैदिक काल में विशेषीकृत अध्ययन (Specialised study) की प्रगति बहुत आगे बढ़ चुकी थी । फलतः एक वेद से सम्बन्धित कई तरह के विद्यालय प्रचलित थे ।

शिक्षा की अवधि—साधारणतया छात्र-जीवन की अवधि १२ वर्षों की होती थी । श्वेतकेतु ने गुरु के साथ १२ वर्ष तक विद्याध्ययन किया था ।‡ उपकोशल ने सत्यकाम जाबाल की अग्नि १२ वर्ष तक प्रज्वलित की थी । किन्तु स्वयं जाबाल ने और अधिक वर्षों तक गुरु की गौओं की सेवा की थी ।§ कोई-कोई विद्यार्थी ३२ वर्ष तक विद्याध्ययन करते थे । ऐतरेय ब्राह्मण में एक ऐसे विद्यार्थी का विवरण है, जो अपने शिक्षक के यहाँ अत्यधिक दिनों

** मुण्डक उप०—१।१।५

†† कठोपनिषद्—१।२।४–५, १।२।२३

£ वृहदारण्यक उप०—४।४।२१

* शतपथ-ब्राह्मण—२।६।४–२–७, ४।६।७।१।२

† काठक-संहिता—३७।१।७

‡ छांदोग्य उप०—६।१।२

§ „ —४।१०।१

तक रह गया था। उसके आगमन का कोई लक्षण न देखकर उसके पिता ने अपनी सम्पत्ति अपने अन्य पुत्रों में बाँट दी थी।* परम ज्ञान की प्राप्ति के लिये एक जन्म मुश्किल से पर्याप्त था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित भरद्वाज-इन्द्र-संवाद इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। वृद्ध तथा अस्वस्थ भरद्वाज से इन्द्र ने पूछा—"महात्मन्! आपने तीन जीवन ज्ञानार्जन में व्यतीत किया। यदि मैं आपको चौथा जीवन दूँ, तो आप इसे किस भाँति व्यतीत करेंगे?" भरद्वाज ने उत्तर दिया—"मैं इस जीवन को भी ज्ञानार्जन में ही व्यतीत करूँगा।" † उपनिषदों में भी परम-ज्ञान की प्राप्ति के लिये लम्बी अवधि की आवश्यकता प्रतिपादित है। स्वयं इन्द्र ने प्रजापति के यहाँ १०१ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-वास किया था।‡ इतनी लम्बी अवधि तक स्वभावतः बहुत कम ही छात्र विद्याध्ययन कर सकते हैं। सामान्यतः, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १२ वर्ष की अवधि व्यावहारिक थी। परवर्ती सूत्र-साहित्य में भी एक वेद के अध्ययन के लिये १२ वर्ष की अवधि निर्धारित है। यदि इस अवधि में कोई छात्र अपना अध्ययन पूरा नहीं कर सका, तो उसे अधिक समय तक गुरु के साथ रहना आवश्यक था। सूत्रकाल में भी, अनेक छात्र लम्बी अवधि तक विद्याध्ययन करते थे। मेगास्थनीज (ईसवी पूर्व ३००) के समय में भी कुछ भारतीय विद्यार्थी ३७ वर्ष तक विद्याध्ययन करते पाये गये थे।

शिक्षण-पद्धति—ऋग्वैदिक काल की तीन प्रचलित रीतियाँ उत्तरवैदिक शिक्षण-पद्धति में भी वर्त्तमान थीं। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन—आध्यात्मिक शिक्षा के ये तीन चरण विधिवत् संपन्न होते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में अध्ययन की इन तीन प्रक्रियाओं की व्याख्या है। श्रवण के द्वारा शिष्य गुरु के वचन को ध्यानपूर्वक सुनता था, मनन के द्वारा उनके वचन का बौद्धिक परिग्रहण करता था तथा निदिध्यासन के द्वारा इसकी साधनात्मक अनुभूति प्राप्त करता था। शुकरहस्योपनिषद् में भी "सद्गुण के द्वारा उपनिषद्-तत्त्व का उपदेश श्रवण कर धार्मिक युक्तियों द्वारा उसपर प्रगाढ़ मनन करते हुए

---

* ऐतरेय ब्राह्मण—२२।१

† तैत्तिरीय ब्राह्मण—३।१०।११।३

‡ छांदोग्य उप०—८।७।११।३

ध्यानादि द्वारा निदिध्यासनपूर्वक 'अहं ब्रह्मास्मि' के चिन्तन का आदेश है ।" इस तरह ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में शिक्षक की अपेक्षा शिष्य की चेष्टा ही प्रधान रहती थी ।

अपने स्वाध्याय के द्वारा ही वह गुरु के उपदेशों को हृदयंगम करता था। गुरु केवल उसे मार्ग-प्रदर्शन करते थे । उच्चतम तात्त्विक तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिये भी छात्रों की स्वानुभूति आवश्यक समझी जाती थी । उत्तरवैदिक साहित्य में इस प्रणाली के अनेक दृष्टान्त हैं । ब्रह्मा अपने पुत्र भृगु को ब्रह्मज्ञान की संक्षिप्त रूपरेखा बतलाते हैं तथा आदेश देते हैं कि वे इसे साधनात्मक स्वाध्याय के द्वारा पल्लवित कर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें । यह प्रणाली लगातार चार बार व्यवहृत की जाती है और अन्त में भृगु को स्वार्जित ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है ।* छांदोग्य-उपनिषद् में "मन अन्नमय है, प्राण जलमय है तथा वाक् तेजोमय है"—इस तथ्य को समझाने के लिये श्वेतुकेतु के पिता आरुणि उन्हें १५ दिन तक केवल जल पीकर रहने का आदेश देते हैं ताकि इस अवधि में वे इस तथ्य का अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करें ।† इसी प्रकार आत्मा तथा शरीर का सम्बन्ध बतलाने के लिये आरुणि श्वेतकेतु को वट-वृक्ष का एक फल तोड़कर लाने कहते हैं । श्वेतकेतु इस फल के बीज का निरीक्षण करता है। पिता इसके द्वारा आत्मा अथवा सत्य की व्यापकता बतलाते हैं ।

उपनिषद्-साहित्य में शिक्षण की एक विशिष्ट शैली का परिचय भी हमें मिलता है । प्रश्नोत्तर (Catechetical) -प्रणाली की उद्भावना सर्वप्रथम उपनिषद्-साहित्य ने की । इस प्रणाली के द्वारा गूढ़ आध्यात्मिक तथ्यों का स्पष्टीकरण बड़े ही रोचक तथा हृदयग्राही ढंग से किया गया है । इस प्रणाली में मौखिक शिक्षा के सभी उपादेय उपादानों, जैसे दृष्टान्त, कथा-कहानी, जीवन-वृत्त आदि का प्रयोग होता था । ग्रीस देश के सुप्रसिद्ध विद्वान सुकरात की शिक्षण-शैली भी यही थी ।

उत्तरवैदिक काल में शिक्षा-प्रसार की कई संस्थाएँ विकसित हुईं, जो कि शाखा, चरण, परिषद्, कुल तथा गोत्र के नाम से प्रसिद्ध हुईं । इनका संक्षिप्त परिचय आवश्यक है ।

---

* तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली—६।१–६

† छांदोग्य—६।७; ४–६

शाखा—अपने मूल अर्थ में 'शाखा' शब्द, उन तीन वेदों के लिये प्रयुक्त होता था जो कि एक ही वेद (मूल वृक्ष) से प्रस्फुटित हुए थे। सायणाचार्य वेद की तीन शाखाओं में भाष्य लिखते कहे गये हैं। किन्तु बाद में शाखा शब्द से तीन वेदों के विभिन्न रूपों का बोध होने लगा, जो कि विभिन्न ऋषिकुलों में मूल रूप के परिवर्तित रूप हो गये थे। मौखिक संरक्षण के कारण वेदों के मूल रूप में कुछ परिवर्त्तन अवश्यम्भावी थे। कहीं उच्चारण बदल गया, कहीं पुराने मंत्र छूट गये, कहीं नये मंत्र आ जुटे, कहीं सभी बातें एक ही साथ हुईं। इस तरह सभी वेदों की विभिन्न अनुकृतियाँ विभिन्न कुलों में संरक्षित हुईं। प्रत्येक कुल स्वतन्त्र शाखा के रूप में अपनी ही अनुकृति के संरक्षण तथा प्रसार में संलग्न रहने लगा। ये शाखाएँ वेदों तक ही सीमित न रहीं, बल्कि इनसे सम्बन्धित ब्राह्मणों की भी कई शाखाएँ हुईं।

चरण—शाखा और चरण बहुधा पर्यायवाची समझे गये हैं। किन्तु वास्तव में ये दोनों भिन्न थे। पाणिनि के अनुसार चरण शाखा में पढ़नेवाले अथवा इसके अनुयायियों का एक समूह था।* जगधर के मालतीमाधव-भाष्य में भी लगभग यही परिभाषा चरण का है। "वे व्यक्ति जो कि एक वेद के किसी निर्दिष्ट शाखा को पढ़ते हैं तथा ऐसे पढ़नेवालों का समूह बनाते हैं, वे ही चरण हैं।" इस तरह 'शाखा' शब्द वेद तथा ब्राह्मणों के किसी खास रूप का द्योतक था। चरण शब्द इसी शाखा-विशेष के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त होता था।

चरणों की संख्याएँ विभिन्न काल में विभिन्न थीं। सूत्रकाल के 'चरण-व्यूह' नामक ग्रंथ में ऋग्वेद के पाँच चरण कहे गये हैं—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और मांडूकेय। इस सूची में कई पुराने चरणों के नाम छूटे हुए हैं। पाणिनि के समय में वेद के २४ चरण प्रसिद्ध थे, जिनके नाम भी पाणिनि ने अपने सूत्र में यत्र-तत्र दिये हैं। †

परिषद्—परिषद् का शाब्दिक अर्थ है "चारों ओर बैठा हुआ।" उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग विद्वानों की उस सभा के अर्थ में हुआ है जो कि दार्शनिक प्रश्नों पर विचार-विनिमय के लिये एकत्र होती थी। कालान्तर में परिषद् की स्थापना उन स्थानों में स्वभावतः होने लगी जहाँ कि विद्वान

---

* वार्त्तिक—४।१।६३

† R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 87.

ब्राह्मण अधिक संख्या में रहा करते थे। तात्कालिक सांस्कृतिक सभाएँ स्थायी संस्थाओं के रूप में परिवर्तित हो गईं, जो कि उच्चतम दार्शनिक तथ्यों का निर्धारण करती तथा उच्च ज्ञान की शिक्षा भी प्रदान करती थीं। इस परिषद् के सदस्य किसी भी चरण के लोग हो सकते थे। वस्तुतः परिषद् विभिन्न चरणों का एक समूह था जो कि उच्च आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार-विनिमय तथा नये-नये तथ्यों का निर्धारण करता था। परिषद् का दृष्टिकोण व्यापक था और यह किसी शाखा-विशेष तक ही अपने को सीमित न रखता था। एक ही परिषद् के लोग विभिन्न चरणों के अनुयायी हो सकते थे तथा एक ही चरणों के लोग विभिन्न परिषदों के सदस्य हो सकते थे। प्राचीन साहित्य में परिषद् शब्द का प्रयोग परिषद्-विशेष की रचनाओं के सम्बन्ध में हुआ है। प्रातिशाख्य-साहित्य के लिये भी बहुधा परिषद् शब्द प्रयुक्त हुआ है। किन्तु सूत्र-काल में परिषद् का प्रयोग अधिकतर इसके मूल अर्थ में हुआ है---विद्वानों की सभा जो कि धार्मिक प्रश्नों, न्याय-सम्बन्धी बातों तथा नीति आदि पर अपना परामर्श देती थी। आधुनिक शब्दों में हम परिषद् को विश्व-विद्यालय का प्रतीक मान सकते हैं, जिसमें कि विभिन्न कालेजों (चरणों) के विद्यार्थी उच्चतम ज्ञान प्राप्त करते हैं। † उत्तरवैदिक काल में परिषदों के द्वारा शिक्षा की बड़ी प्रगति हुई। उत्तरापथ की पांचाल-परिषद् अत्यन्त प्रसिद्ध सभा थी। प्रवाहण जैबलि परिषद् में नित्य भाग लिया करते थे। इन्हीं जैबलि के प्रश्नों के उत्तर श्वेतकेतु न दे सका था। ‡

गोत्र अथवा कुल---चरणों के मूल में वेद की विभिन्न शाखाएँ थीं, और चरण केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित थे। किन्तु गोत्र का निर्माण वंश--परम्परा के आधार पर था, जो कि वास्तविक अथवा कल्पित भी हो सकता था। प्राचीन द्रष्टा ऋषियों से सम्बन्धित विभिन्न कुल अथवा गोत्र थे। प्रत्येक गोत्र के सदस्य अपने को किसी विशेष ऋषि के वंशज ही समझते थे और इन गोत्र-विशेषों में ऋषिविशेष की शिक्षा-पद्धति तथा रीति-नीतियाँ प्रचलित थीं। तीनों वर्णों के लोग अपने को गोत्र के सदस्य मानते थे, अर्थात् तीनों वर्ण के लोग किसी-

---

† We may say in modern phraseology that a Parishad corresponds to a University comprising students belonging to different colleges called Charanas.
R. K. Mookerji—Ancient Indian Edn.—P. 83.

‡ बृहदारण्यक उप०--६।२।१।७

† R. K. Mookerji—P. 84.

न-किसी ऋषिकुल से अपने को समुत्पन्न मानते थे। आज भी गोत्र ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों के लिये भी परम सम्मानित निधि है और इसका विचार विवाह-शादी तथा धार्मिक अवसरों पर होता है। सभी ब्राह्मण सात ऋषियों के वंशज कहे जाते हैं,—भृगु, अंगिरस्, विश्वामित्र, वशिष्ठ, काश्यप, अत्रि, अगस्त्य। किन्तु वास्तविक पूर्वज आठ हैं—जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, वसिष्ठ, अत्रि, काश्यप, अगस्त्य। ये ८ गोत्र ४९ उपगोत्रों में उपविभाजित हुए, जिनके भी कई उपविभाजन पुनः हुए, जो कि वास्तव में परिवार कहे जा सकते हैं।*

समावर्त्तन-उपदेश—ब्रह्मचर्य की समाप्ति के पश्चात् प्राचीन भारत के छात्र स्नातक होकर घर लौटते थे। इस अवसर पर गुरु उन्हें समावर्त्तन-उपदेश देते थे। ये उपदेश इतने हृदयग्राही हैं कि इनका प्रत्येक शब्द विचारणीय है। उपदेशों का मूल रूप नीचे उपस्थित किया जाता है।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्येम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसने न प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया मा देयम्। ह्रिया देयम्। श्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्म-कामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्याते ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। यत्तत्र आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एवमनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवं चैतदुपास्यम्।†

(पुत्र!) तुम सदा सत्य बोलना। शास्त्र-सम्मत धर्म का अनुष्ठान (कर्त्तव्य-पालन) करना। स्वाध्याय में सदा प्रवृत्त रहना। गुरु को उनकी रुचि के

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 84.

† तैत्तिरीयोपनिषद्–शिक्षावल्ली–११

अनुकूल दक्षिणा देना । तत्पश्चात् गार्हस्थ्य धर्म में प्रवेश कर वंश-परम्परा को सुरक्षित रखना । सत्य से कभी न डिगना । धर्म से कभी न डिगना । शुभ कर्मों से कभी न मुँह मोड़ना । उपयोगी वस्तुओं की उपेक्षा न करना । अग्निहोत्र तथा यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त रहना ।"

"माता, पिता, गुरु तथा अतिथि को देवतुल्य समझना । जो कर्म निर्दोष हों उन्हीं को करना, अन्य को कभी नहीं । हमारे गुरुजनों के जो-जो अच्छे आचरण हों, उन्हीं का तुम्हें अनुकरण करना चाहिये, अन्य का नहीं । जो कोई हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण (तथा पूज्य पुरुष) तुम्हारे घर पर पधारें, उनको तुम्हें आसन देना चाहिये, विश्राम देना चाहिये, श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक दान नहीं देना चाहिये । अपनी शक्ति के अनुसार दान देना चाहिये । लज्जा से दान देना चाहिये, अर्थात् सारा धन भगवान का है, मैंने इसे अपना मानकर अपराध किया है । मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह कम है । भय से दान देना चाहिये कि दान अस्वीकृत न हो जाय । परन्तु विवेकपूर्वक दान देना चाहिये ।"

"(यह सब करते हुए भी) यदि तुमको किसी अवसर पर अपना कर्त्तव्य निश्चित करने में अथवा आचरण निश्चित करने में किसी तरह की दुबिधा हो तो वहाँ जो उत्तम विचारवाले, परामर्श देने में कुशल, कर्म और सदाचार में प्रवृत्त स्निग्ध स्वभाववाले, पूर्णतया धर्मपरायण ब्राह्मण हों, वे जिस प्रकार उन कर्मों अथवा आचरणों में व्यवहार करते हों वैसा ही तुम्हें भी करना चाहिये । इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति किसी दोष से लांछित हो जाय उसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस विषय में यदि शंका उपस्थित हो जाय तो विचारशील, परामर्श देने में कुशल, सत्कर्म तथा सदाचार में संलग्न एवं धर्म में निरत ब्राह्मण जैसा व्यवहार उस अपराधी के प्रति करें वैसा ही व्यवहार तुमको भी करना चाहिये ।"

"यही वेद की आज्ञा है । यही आदेश है । यही वेद और उपनिषद् का सार है । यही अनुशासन है । इस तरह इनका पालन करना चाहिये ।"

इन उपदेशों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें शिष्य के गार्हस्थ्य-जीवन के सभी कर्त्तव्यों के सम्यक् निर्वाह का उपदेश है । शिष्य को

न केवल धर्मपरायण व्यक्ति बनना है, बल्कि उसे एक कर्त्तव्य-परायण नागरिक भी बनना है। माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा तथा सम्मान गृहस्थ के लिये अनिवार्य है। वंश की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये गृहस्थ को सन्तानोत्पत्ति की ओर से विमुख न होना चाहिये। फलतः गुरु उसे एक सुखमय वैवाहिक जीवन व्यतीत करने का आदेश देते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य तथा भौतिक समृद्धि गार्हस्थ्य-जीवन के उचित निर्वाह के लिये अत्यावश्यक हैं। अतः उनकी ओर भी शिष्य को पर्याप्त ध्यान देना चाहिये। समाज की सांस्कृतिक उन्नति के लिये वेदों के अध्ययन-अध्यापन आवश्यक हैं, जिनकी उपेक्षा कभी भी शिष्य को न करनी चाहिये। वस्तुतः शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार उसी को था जो शिक्षित होने पर शिक्षा प्रदान के लिये प्रस्तुत रहता था। ‡

सामाजिक सम्बन्ध पारस्परिक आदान-प्रदान से सुगठित तथा सुदृढ़ होता है। देने की क्रिया में आन्तरिक सहानुभूति आवश्यक है ताकि दाता तथा प्रापक दोनों ही सुखी हों।* फलतः शिष्य को यह उपदेश दिया गया है कि वह दानादि को धार्मिक कार्य समझे।

इस तरह आधुनिक विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त भाषण से ये उपदेश किसी तरह कम उपादेय नहीं हैं।§ वैयक्तिक तथा नागरिक जीवन के कर्त्तव्यों का स्पष्ट निर्देश तथा उनके पालन का आदेश इनमें है।

---

‡ ऐतरेय आरण्यक—३।८।६

* देखिये—यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

गीता—१७–२७

§ These words read almost like Chancellor's Convocation Address of modern Universities.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 100.

अन्य वर्णों की शिक्षा–

ऋग्वैदिक काल में बहुधा एक ही वर्ण के लोग विभिन्न व्यापारों में संलग्न रहते थे। ऋग्वेद के उस परिवार का परिचय हमें मिल चुका है, जिसमें पुत्र वैदिक विद्यार्थी, पिता वैद्य तथा माता श्रमिक थीं।§ विभिन्न वर्णों की कर्म-सम्बन्धी यह स्वतन्त्रता उत्तरवैदिक काल में लगभग लुप्त हो गयी थी। वर्ण-व्यवस्था स्पष्ट हो गयी थी और उसके अंग लगभग रूढ़ात्मक हो गये थे। ऋग्वैदिक आर्य अब केवल कर्मानुसार वर्णों में विभक्त न थे। अब उनके अनेक सामाजिक वर्ग हो गये थे। ब्राह्मणों का प्रभुत्व बहुत बढ़ गया था, किन्तु क्षत्रियों के अधिकारों का ह्रास नहीं हुआ था और बहुधा उनके द्वारा ब्राह्मणों के प्रभुत्व का विरोध भी होता था। वैश्यों तथा शूद्रों का सामाजिक ह्रास प्रारम्भ हो चुका था। ऋग्वेद का स्वतन्त्र तथा महान कृषकवर्ग अथवा वैश्य छोटे-छोटे व्यावसायिक समूहों (functional groups) में विभक्त हो गया था तथा रथकार, बढ़ई, लोहार आदि जातियों का जन्म हो चुका था।* इनमें से कुछ सामाजिक सम्मान में गिरते जा रहे थे। रथकार धार्मिक कार्यों में बहुधा अस्पृश्य समझा जाता था। शूद्र वर्ण के लोग सामूहिक रूप में अस्पृश्य समझे जाने लगे थे। यज्ञ के दूध को शूद्र वर्ण स्पर्श नहीं कर सकता था। "ऐतरेय ब्राह्मण तो एक स्थल पर यहाँ तक कहता है—शूद्र अन्यों के भृत्य हैं और यथेच्छा से रखे तथा निकाले जा सकते हैं। उनका बध तक संभव है। फिर भी परवर्तिनी द्वेषात्मक तथा रूढ़िवादी वर्ण-व्यवस्था अनजानी-सी थी। अभी तक एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आवागमन जारी था और परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी साधारण बात थी। महर्षि च्यवन ने क्षत्रिय शर्याति की सुपुत्री का पाणिग्रहण किया था।

शान्तनु के भाई देवापि ने सिंहासन से वंचित होने पर पौरोहित्य में दक्षता प्राप्त की और शान्तनु के यहाँ यज्ञ कराये।‡ राजसूय यज्ञ के रत्न-हवीपि (jewel offerings) में वैश्यों तथा शूद्रों का स्थान था।†

---

§ देखिये, प्रस्तुत पुस्तक पृष्ठ—२०

* Advanced History of India—P. 46.

‡ भगवतशरण उपाध्याय—प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ ५४

† R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 154.

इन सामाजिक स्थितियों का प्रभाव विभिन्न वर्णों की शिक्षा पर पड़ना स्वाभाविक था। वैदिक विद्या के अधिकारी विशेषतः ब्राह्मण ही होते थे। किन्तु क्षत्रियों को भी यह शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। कई क्षत्रिय राजा तो ब्रह्मविद्या में ब्राह्मणों से भी बढ़े-चढ़े थे। राजा जनक की विद्वत्ता तथा उनके आध्यात्मिक ज्ञान की ख्याति सर्वत्र थी। काशी के क्षत्रिय राजा अजातशत्रु के पांडित्य की धाक गार्ग्य बालाकि-जैसे ब्राह्मण विद्वानों को भी माननी पड़ी थी। * पांचाल के प्रवाहण जैबाल तथा केकय के अश्वपति भी दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। पाञ्चालदेशीय सभा में क्षत्रिय राजा प्रवाहण के एक भी प्रश्न का उत्तर श्वेतकेतु न दे सका था। श्वेतकेतु के पिता आरुणि भी इनके उत्तर न जानते थे। अतः उन्हें जैबाल के यहाँ जाकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करना पड़ा।† गर्ग के प्रपौत्र चित्र भी एक क्षत्रिय महात्मा थे, जिनका ब्रह्म-ज्ञान उच्च-कोटि का था।‡ आरुणि ने इनका भी शिष्यत्व ग्रहण किया था। उपनिषदों के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि ब्रह्म-ज्ञान के प्रथम अधिकारी क्षत्रिय राजा ही थे। प्रवाहण जैबाल ने आरुणि को शिष्य बनाते हुए कहा था—"इसके पूर्व यह विद्या (ब्रह्म-विद्या) किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं थी।" वस्तुतः औपनिषदिक ब्रह्मज्ञान के प्रवर्त्तक क्षत्रिय ही थे तथा "जैसे ब्राह्मण ब्राह्मणों के अपने ग्रन्थ थे, उपनिषद् क्षत्रियों के अपने थे।" किन्तु, ऐसे विद्वान क्षत्रियों तथा राजर्षियों की संख्या सीमित थी। क्षत्रियों के अध्ययन के विषय सामान्यतः राज-काज, युद्ध-नीति तथा धनुर्विद्या से सम्बन्धित रहते थे। इन विषयों की शिक्षा भी वे अधिकतर ब्राह्मण शिक्षकों से ही प्राप्त करते थे।

वैश्यों तथा शूद्रों की शिक्षा के सम्बन्ध में उत्तरवैदिक साहित्य प्रायः मौन है। वैश्यों का प्रधान कर्म भूमि से सम्बन्धित था। हल ही उनके "जीवन तथा मृत्यु का लक्ष्य" था।§ अन्न-उत्पादन तथा इसका वितरण वैश्यों के दो

---

* वृहदारण्यक उपनिषद्—२।१।१–२०

† छान्दोग्य-उपनिषद्—५।३।१–७
वृहदारण्यक—६।२।१–८

‡ कौषीतकी ब्राह्मण-उप०–१।१

§ काठक-संहिता—३७।१
कौशिक सूत्र—३०

मुख्य कार्य थे, जिनमें इन्हें पूरी कुशलता प्राप्त थी। वणिज् शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी हुआ है।§ स्पष्टतः ये वैश्य ही थे। आवश्यकता पड़ने पर वैश्य भी शस्त्र धारण के लिए प्रस्तुत रहते थे। किन्तु इनका प्रधान कार्य कृषि तथा ग्रामोद्योग से ही सम्बन्धित था। वैश्य की उच्चतम आकांक्षा थी ग्रामीण अथवा मुखिया का पद प्राप्त करना। फलतः इनकी शिक्षा अधिकांशतः इन विषयों से ही सम्बन्धित रहती थी। देश के बौद्धिक बातों में ये सम्भवतः भाग नहीं लेते थे।†

शूद्रों का स्थान, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, पहले से नीचे गिर चुका था। किन्तु जमीन जोतना-कोड़ना, पशु-पालन, हाथ की कारीगरी आदि कार्यों में उनका श्रम व्यवहृत होता था। संगीत, नृत्य, वाद्य (देवजन-विद्या) आदि में शूद्र वर्ण के लोग अधिक दिलचस्पी लेते थे। शूद्रों की व्यावसायिक शिक्षा भी बहुधा ब्राह्मण शिक्षक के द्वारा ही सम्पादित होती थी। महर्षि नारद संगीत तथा बाँसुरी में दक्ष थे। शतपथ-ब्राह्मण में ब्राह्मण शिक्षक भौतिक विषयों की शिक्षा देते कहे गये हैं। इन शिक्षकों के शिष्यों में वैश्य, मछुआ, सँपेरा, बहेलिया आदि व्यावसायिक लोग भी थे।‡ रत्न-हवींषि यज्ञ के रत्निनों में ग्रामणी तथा गो-निकेतन, वैश्य ग्रामणी तथा तक्ष-रथकार थे। स्पष्टतः इस प्रतिष्ठा के लिये उनकी सांस्कृतिक योग्यता अपेक्षित थी।*

स्त्रीशिक्षा——

उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों का ऋग्वैदिक स्थान सुरक्षित न रह सका। सामाजिक उत्सवों में भाग लेने से वे बहुधा वंचित कर दी जाती थीं। पारिवारिक सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी भी वे न हो सकती थीं।£ ब्राह्मण-

---

§ ऋग्वेद—१।११२-१२, ५।४५।६

†There is no evidence to show that he played any part in the intellectual life of the times.

‡ R. K. Mookerji—Ancient Indian Education Page 154.

* R. K. Mookerji— Do. P. 154.

† R. K. Mookerji— Do. P. 154.

£ Women could not go to the tribal council or assembly (Sabha), neither could they take an inheritence.
Advanced History of India—P. 45.

काल में "कन्या का जन्म अभाग्य का लक्षण माना गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुत्र ज्योतिस्वरूप तथा कन्या दुःखमयी समझी गई हैं।"

कृपणं ही दुहिता ज्योतिर्हि पुत्रः ।

यास्क ने दुहिता की व्युत्पत्ति "दुहिता, दुर्हिता दूरे हिता" से मानी है।* दुर्गाचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है "सा हि यत्रैव दीयते तत्रैव दुर्हिता भवति"। किन्तु धार्मिक यज्ञों में इनका अधिकार सुरक्षित रहा और फलतः उच्च वैदिक शिक्षा की अधिकारिणी ये पूर्ववत् बनी रहीं। उपनिषद्-साहित्य में महिलाओं का गौरवपूर्ण स्थान है। इनका ज्ञान बहुत ही उच्चकोटि का था। ये महिलाएँ धार्मिक सम्मेलनों में भाग लेती थीं तथा अपनी विद्वत्ता का परिचय देती थीं। मिथिलेश जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा वाचक्नी गार्गी का प्रश्नोत्तर इतिहास-प्रसिद्ध है।‡ अपनी प्रतिभा तथा अपने तर्क से गार्गी ने समस्त सभा को आश्चर्य में डाल दिया था। उसके प्रश्नों से याज्ञवल्क्य खींझ-से गये थे। "अनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छति" में गार्गी ने गूढ़ातिगूढ़ दार्शनिक प्रश्न की व्याख्या चाही थी। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों में एक परम विदुषी थी। बहुमूल्य आभूषणों की अपेक्षा मैत्रेयी के लिये दर्शन-ज्ञान कहीं अधिक रुचिकर था। गूढ़ आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में वह अपने पति से शंका-समाधान करती है।

सा होवाच मैत्रेयी। येनाहं नामृता स्याम् किं तेनाऽहं कुर्यामिति ॥ £

अध्यापिका के रूप में भी उपनिषदों में महिलाएँ वर्णित हैं। कौषीतकी ब्राह्मण (७।६) में पथ्यास्वस्ति नामक एक आर्य-महिला का उल्लेख है, जो विद्यार्जन के लिये उत्तरापथ की यात्रा करती है तथा सुशिक्षिता होकर वाक् (सरस्वती) की संज्ञा प्राप्त करती है। इसका भी प्रमाण है कि स्त्रियों को संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी, जिनके लिये पुरुष अनुपयुक्त समझे जाते थे।† बृहदारण्यक उपनिषद् में पूर्ण आयुवाली

---

* निरुक्त —३।४।४

‡ बृहदारण्यक उप०—३।६।१।८

£ ,, —२–४।१–१४

† Women were taught some of the fine arts like dancing and singing, which were regarded as accomplishments unfit for men.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 105.

विदुषी कन्या के जन्म के लिये "तिल-चावल की खिचड़ी बनाकर पति-पत्नी को खाने का विधान है।" .

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पंडिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम् ।‡

इससे स्पष्ट है कि लोग अपनी कन्याओं को शिक्षा देकर विदुषी बनाना चाहते थे ।

---

‡ वृहदारण्यक उप०—६।४।१७

चौथा अध्याय

सूत्रकाल

सामान्यतः सूत्रकाल ईसा से ७०० वर्ष पूर्व आरम्भ होकर ईसा की दूसरी शती में समाप्त हुआ माना जाता है।* जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, सूत्र-साहित्य में भारतीय संस्कृति की प्रायः सभी बातें संक्षिप्त नियमों के रूप में कलित हैं। हम देख चुके हैं कि उत्तरवैदिक काल में धार्मिक साहित्य की बड़ी अभिवृद्धि हो गई थी। इतने बड़े साहित्य का मौखिक संरक्षण असम्भव-सा दीख पड़ने लगा था। इसका भी भय था कि वैदिक साहित्य की मौलिक बातें ही न विकृत कर दी जायँ। अतः यह आवश्यक प्रतीत होने लगा था कि भारतीय संस्कृति की सभी प्रमुख प्रचलित बातों को संक्षिप्त रूप में संयोजित तथा संगठित कर दिया जाय ताकि इन बातों का संरक्षण सुगमता से हो सके और इनका वास्तविक रूप भी बिगड़ने न पाये। आत्म-रक्षा के इन आन्तरिक कारणों के अतिरिक्त बौद्धधर्म के आविर्भाव ने ब्राह्मण-धर्म के समक्ष एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसमें इसका अस्तित्व ही संकटमय दीख पड़ने लगा था। वैदिक कर्मकाण्ड तथा सैद्धान्तिक वाग्जाल से ऊबी हुई जनता बौद्धधर्म के सीधे समाधान की ओर जोर से आकृष्ट हो रही थी। इस जोरदार वाह्य आक्रमण से सुरक्षित रखने के प्रयास में हिन्दू-धर्म को अपने को पुनर्गठित करना आवश्यक हो गया था। जन-सामान्य की दृष्टि में उसे अधिक सरल, ठोस तथा व्यावहारिक बनना आवश्यक था। सूत्र-साहित्य के सृजन की प्रेरणा इन्हीं

---

* Cambridge History of India—Vol. I. P. 227.

आभ्यन्तरिक तथा वाह्यात्मक परिस्थितियों ने प्रादुर्भूत की।‡ फलतः सूत्र-साहित्य का युग नवीन उद्भावना का युग नहीं, अपितु, संयोजन, संगठन तथा संरक्षण का युग था। भारतीय संस्कृति की अनेक बातें, जो अब तक केवल परम्परा के रूप में बिखरी चली आ रही थीं, नियम के रूप में निर्धारित तथा निर्दिष्ट कर दी गयीं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था, जो अब तक परिवर्तनशील तथा अनिश्चित-सी थी, एक निश्चित परिधि में आबद्ध कर दी गयी, जिसकी सीमा को वह पार न कर सकती थी। विधि-विधान, रीति-नीति, रहन-सहन आदि सभी बातों को संयोजित तथा सुव्यवस्थित कर सूत्र-साहित्य ने एक प्रौढ़ तथा समुन्नत समाज का स्वरूप अंकित किया। धर्म के व्यापक वृत्त में इसने सभी सामाजिक रीतियों एवं मान्यताओं को वैधानिक स्वरूप देकर लीक-बद्ध कर दिया।*

शिक्षा के क्षेत्र में भी सूत्र-काल ने किसी तरह की नयी बात उपस्थित नहीं की। प्रचलित शिक्षा-पद्धति का ही सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित रूप सूत्र-साहित्य में परिलक्षित होता है।† इस समय की शिक्षा-पद्धति के सम्यक् अवलोकन से यह स्पष्ट है कि भारतीय शिक्षा-पद्धति न केवल पूर्णतः विकसित हो गयी थी, बल्कि यह पूर्णतः संगठित भी थी।§ शिक्षा-पद्धति की बातें अधिकतर धर्मसूत्रों में ही संगृहीत हैं। धर्मसूत्रों में, शिक्षा की दृष्टि से, गौतम-धर्मसूत्र अधिक महत्त्वपूर्ण है। आपस्तम्ब, वाशिष्ठ तथा बौधायन धर्मसूत्रों में भी शिक्षा-संबंधी बातें हैं। सूत्र-साहित्य की शृंखला मनुस्मृति के साथ समाप्त हुई समझी जाती है, जिसमें लगभग सभी सूत्र-ग्रन्थों का सार-तत्त्व सन्निविष्ट है। सूत्र-साहित्य में भारतीय शिक्षा का जो स्वरूप चित्रित मिलता है, उसका संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जाता है।

---

‡ The rise of the Sutra literature is connected with the necessities of self-defence and self-preservation of the old Vedic religion.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 162.

* The composition of the Sutras helped to fix the Dharma and so to stereotype a great deal of social system,, including the educational theory and practice of the schools

Pannikar....Survey of Indian History

† F. E. Keay—Indian Education in Ancient and Later Times—P. 13.

§ F. E. Keay— Do. Do.

विद्यारम्भ—सूत्रकाल में विद्यारम्भ-संस्कार का परिचय मिलता है। इसे "अक्षर-स्वीकरण" भी कहा जाता था। इस प्रथा के अनुसार पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चों का विद्यारम्भ एक विशेष समारोह के साथ किया जाता था। यह संस्कार चूड़ाकरण के पश्चात् तथा उपनयन के पहले होता था। यदि किसी कारण से यह संस्कार उचित समय पर सम्पादित न हो सकता था, तो इसे उपनयन के साथ ही सम्पादित किया जाता था। स्मृति-चन्द्रिका के अनुसार इस अवसर पर हरि, लक्ष्मी, सरस्वती आदि की वन्दना होती थी।* गृह-देवता, कुल-देवता तथा शिक्षक की पूजाएँ भी आवश्यक थीं। तत्पश्चात् बिछे चावल पर शिक्षक बालक से अक्षर लिखवाते थे। सोने अथवा चाँदी की लेखनी बहुधा प्रयुक्त होती थी। शिक्षक को उचित दक्षिणा देने के साथ समारोह समाप्त होता था। तत्पश्चात् बालक शिक्षक के चरणों में विद्याध्ययन के लिये अर्पित कर दिया जाता था। बच्चों की, इतनी छोटी अवस्था में, नियमित मानसिक शिक्षा असम्भव थी। सम्भवतः विद्यारम्भ के पश्चात् उन्हें वर्णमाला की यांत्रिक शिक्षा दी जाती होगी। अर्थशास्त्र के अनुसार राजकुमारों की शिक्षा भी लिपि तथा संख्या से ही प्रारम्भ होती थी। "वृत्तचौलकर्मा—लिपिसंख्यानं चोपयुञ्जीत।"†

विद्यारम्भ के सम्बन्ध में सम्पूर्ण उत्तरवैदिक साहित्य मौन है। परवर्ती गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में भी इसका नाम नहीं आया है; यद्यपि गृह-निष्क्रमण तथा अन्नप्राशन आदि सामान्य प्रथाओं का उल्लेख है। सम्भवतः उस समय तक विद्यारम्भ को स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त न हो सका था। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनयन के पश्चात् ही शिक्षा आरम्भ की जाती थी; क्योंकि लिपि के अभाव में विद्यारम्भ की आवश्यकता ही न होती होगी।‡ मौखिक स्मरण की शिक्षण-पद्धति में अक्षरों का पूर्व-परिचय आवश्यक न समझा जाता था। सूत्र-साहित्य के आविर्भाव के समय वैदिक संस्कृत बोल-चाल की भाषा से बिलकुल अलग हो चुकी थी। फलतः इस साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिये अक्षरों का ज्ञान आवश्यक हो गया था। इसी कारण वीर-मित्रोदय, संस्कार-प्रकाश तथा स्मृति-चन्द्रिका आदि परवर्ती साहित्य में विद्यारम्भ का महत्त्व प्रतिपादित किया गया जान पड़ता है।

---

* स्मृति-चन्द्रिका, पृष्ठ—६६—६७

† अर्थशास्त्र—१।२.

‡ Altekar—Education in Ancient India—P. 267.

उपनयन--सूत्रकाल में भी नियमित शिक्षा 'उपनयन' के पश्चात् ही प्रारम्भ होती थी।* उपनयन तीनों वर्ण के बच्चों के लिये अनिवार्य था। प्रत्येक वर्ण के लिये उपनयन के नियम अलग-अलग निर्धारित थे। शूद्रों तथा अन्य वर्ण के धर्म-च्युत लोगों के बालकों के लिये उपनयन वर्जित था। किन्तु बौधायन धर्मसूत्र में रथकारों को, जोकि शूद्र वर्ण के थे, वर्षा-ऋतु में उपनयन ग्रहण करने की अनुमति दी गयी है।‡ वैदिक-काल में शूद्रों के लिये उच्च-शिक्षा का द्वार बन्द न था--यह कहा जा चुका है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार अग्न्याधान-यज्ञ के अवसर पर रथकारों के द्वारा कुछ मंत्र उच्चरित होते थे। सूत्र-काल में शूद्रों की सामाजिक स्थिति बहुत ही नीचे गिर गयी। फलतः सूत्र-साहित्य में शूद्रों की शिक्षा के विरुद्ध कई प्रतिबन्ध परिलक्षित हुए।

उपनयन की निर्धारित अवस्था तीनों वर्ण के लिये विभिन्न थी। सामान्यतः ब्राह्मण वर्ण के लिये ८ वाँ वर्ष, क्षत्रियों के लिये ११ वाँ वर्ष तथा वैश्यों के लिये १२ वाँ वर्ष इस संस्कार के लिये उपयुक्त था।§ अवस्था की अवधि गर्भाधान के समय से ही गिनी जाती थी। उपनयन की अधिकतम अवस्था भी निर्धारित थी, जिसके बाद यह संस्कार सम्पादित नहीं हो सकता था। यह सीमा ब्राह्मणों के लिये १६, क्षत्रियों के लिये २२ तथा वैश्यों के लिये २४ थी।† "नातिषोडशवर्षमुपनयीत प्रसृष्टवृषणो-ह्येष वृषलीभूतो भवति।"× जातक-ग्रन्थों में भी वैदिक शिक्षा की अवस्था १६ ही मानी गयी है। तक्षशिला में यही अवस्था प्रचलित थी। इस तरह, वैदिक शिक्षा प्रारम्भ करने की अवस्थाएँ आदर्श तथा व्यावहारिक--दोनों ही रूपों में निर्दिष्ट थीं। ब्राह्मण वर्ण के लिये निर्धारित आदर्श, गर्भाधान के नौ महीनों को घटा लेने के बाद, ७ वर्ष था। आधुनिक शिक्षा-

---

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 174.

‡ बौधायनधर्मसूत्र---२।५।८-९

§ Altekar—Education in Ancient India P. 273.

† आपस्तम्ब-धर्मसूत्र---१।१।१।२७
  गौतम „ --- १।५।११
  बौधायन १।२।३।६--९

× जैमिनि-गृह्यसूत्र १।१२

शास्त्री भी सामान्यतः यही अवस्था नियमित शिक्षा के लिये उपयुक्त मानते हैं। क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिये अधिक अवस्थाएँ क्यों निर्धारित थीं—यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं। सम्भवतः यह विभिन्नता तीन वर्णों की शिक्षा के विभिन्न स्वरूपों के अनुसार थी। विभिन्न वर्णों की शिक्षा के उद्देश्य तथा पाठ्य विषयों के स्वरूप के अनुकूल ही उपनयन की अवस्था आयोजित थी।* ब्राह्मण विद्यार्थियों के लिये उच्चतम शिक्षा आवश्यक थी, ताकि वे यज्ञ-सम्पादन करा सकें तथा ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकें। फलतः उनकी शिक्षा कम अवस्था में ही शुरू की जानी चाहिये थी, जिससे वे सभी वैदिक विषयों की पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सकें। जैमिनि के अनुसार तो ब्रह्मवर्चस् ब्राह्मण छात्र का उपनयन ५ वें वर्ष में ही होना चाहिये।

सप्तमे ब्राह्मणमुपनयीत पंचमे ब्रह्मवर्चस्कामम्।†

अन्य वर्णों के लिये वैदिक शिक्षा का व्यावहारिक उपयोग स्वभावतः कम था, और इसलिये, इन वर्णों के लिये कम समय भी पर्याप्त हो सकता था। आपस्तम्ब के निर्धारित नियमों में तो शिक्षा के उद्देश्य ही उपनयन की अवस्था निर्मित करते हैं।‡ इनके अनुसार उपनयन की अवस्था यह होनी चाहिये।

७ वर्ष	जबकि	शिक्षा का उद्देश्य	ब्रह्म-वर्चस्	हो
८ ,	,,	,,	आयु	,,
९ ,,	,,	,,	तेज	,,
१० ,,	,,	,,	अन्नादि	,,
११ ,,	,,	,,	शक्ति	,,
१२ ,,	,,	,,	पशु-वृद्धि	

बौधायन में भी लगभग यही उद्देश्य उपनयन की अवस्थाएँ निर्धारित करते हैं।

"अष्टमे आयुष्कामं, नवमे तेजस्कामं, त्रयोदशे मेधाकामं, चर्तुदशे पुष्टिकामं, षोडशे सर्वकामम्।"£

---

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 175.

† जैमिनि-गृह्यसूत्र—१।१२ तथा गौतम-धर्मसूत्र १।१।७

‡ आपस्तम्ब—१।१।१। २१–२६

£ बौधायन-गृह्यसूत्र—२।५।५

कुछ विद्वानों की सम्मति में उपनयन की विभिन्न अवस्थाओं का एक और भी कारण हो सकता है। सम्भवतः ब्राह्मणों ने, अपने वर्ण की तथाकथित मानसिक श्रेष्ठता की पुष्टि करने के विचार से ही, अपने वर्ण के लिये उपनयन का समय कम निर्धारित किया था।* ब्राह्मण वर्ण के बालक अन्य वर्ण के बालकों की अपेक्षा अधिक प्रतिभावान् समझे जाते थे और इसलिये वे कम अवस्था में ही शिक्षा-ग्रहण की क्षमता प्राप्त कर लेते थे। डाक्टर अल्तेकर इस विचार से सहमत नहीं।† कुल-परम्परा के कारण ब्राह्मण वर्ण के बालकों को कम अवस्था में ही विद्यारम्भ की सुविधाएँ थीं, जोकि अन्य वर्ण के बालकों के लिये सामान्यतः उपलब्ध नहीं थीं। श्री अल्तेकर के विचार में ब्राह्मण शिष्य बहुधा अपने घर में ही प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करता था और इसलिये उसका उपनयन कम अवस्था में ही सम्पादित होता था।‡ अन्य वर्ण के बालकों को सामान्यतः विद्याध्ययन के लिये अपना घर छोड़ना पड़ता था तथा शिक्षक के यहाँ रहना पड़ता था। स्वभावतः ५ वर्ष के बच्चे गृह-परित्याग के लिये उपयुक्त न थे। अतः इन बालकों के लिये उपनयन की अवस्था अधिक रखी गयी थी। जिस ब्राह्मण-परिवार में शिक्षा की व्यवस्था न थी, उस परिवार के बालकों का अध्ययन भी तबतक स्थगित रहता था जबतक कि वे बाहर जाने के लायक न हो जाते थे। आज भी बालकों के विद्यारम्भ की अवस्था उनकी परिस्थितियों पर ही अवलम्बित है। शहर के लड़के देहात की अपेक्षा कम उम्र में पढ़ना प्रारम्भ करते हैं। उसी तरह धनी-मानी परिवारों के लड़के, जिन्हें सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं, सामान्यतः कम उम्र में ही विद्याध्यन शुरू कर देते हैं। इसके विप-

---

* It seems probable, however, that the difference in age was to emphasize the supposed intellectual superiority of the Brahmans, who was thus ready to begin study at a younger age than his non-Brahman fellows.

F. E. Keay—P. 30. Also S. K. Das—P. 72.

† There was no idea of emphasizing the intellectual superiority of the Brahmans when a lower age was prescribed for their Upanayan.—Altekar—P. 274.

‡ Smritis have therefore, naturally given much latitude about the age of the Upanayan in order to suit the circumstances and convenience of the different types of families in society.

Altekar—Education in Ancient India—P. 275.

रीत माधनहीन तथा अशिक्षित माता-पिता के बच्चे देर से विद्यालय जाना शुरू करते हैं। अतः यह युक्तिसंगत है कि स्मृतियों के द्वारा उपनयन की निर्धारित अवस्थाएँ छात्रों की परिस्थितियों के विचार से ही विभिन्न थीं।

अवस्थाओं की विभिन्नता के अतिरिक्त, विभिन्न वर्णों के लिये उपयुक्त ऋतुएँ भी विभिन्न थीं। आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन वसन्त-ऋतु में, क्षत्रियों का ग्रीष्म में तथा वैश्यों का शरद ऋतु में होना चाहिये। यजुःशाखा के ब्राह्मणों के लिये सबसे उत्तम समय वसन्त ही कहा गया है।* ज्योतिष-ग्रन्थों में सभी वर्णों के लिये माघ महीने से पाँच महीने बाद तक, जबकि सूर्य उत्तरायण रहते हैं, उपनयन उपयुक्त माना गया है। किन्तु धर्मसूत्रों में ज्योतिष का विचार नहीं है।†

उपरोक्त अवस्थाओं तथा समयों के अनुकूल सभी वर्णों का उपनयन-संस्कार संपन्न हो जाना चाहिये। जिन लोगों ने ऐसा नहीं किया, वे धर्म-च्युत, सावित्री-पतित तथा व्रात्य समझे जाते थे। मनु इन्हें अपूत (अपवित्र) मानते हैं, इनके साथ ब्रह्म-सम्बन्ध स्थापित नहीं होना चाहिये। § अध्यापन, यज्ञ, विवाहादि किसी भी सामाजिक कार्य के उपयुक्त ये न समझे जाते थे। निर्धारित प्रायश्चित्त के पश्चात् ये समाज में पुनः अंगीकृत किये जा सकते थे। विभिन्न सूत्रकारों के द्वारा प्रायश्चित्त के विभिन्न नियम निर्धारित हैं। याज्ञवल्क्य 'व्रात्य-स्तोम' चाहते हैं। ‡ आपस्तम्ब कुछ सरल प्रायश्चित्त नियुक्त करते हैं तथा दो मास तक ब्रह्मचर्य-वास का आदेश देते हैं। £ उपनयन की इस अनिवार्यता से यह स्पष्ट है कि सूत्र-काल में शिक्षा-ग्रहण तीनों वर्णों के लिये अत्यावश्यक था तथा इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इस तरह, धार्मिक प्रतिबंधों के द्वारा हिन्दू-समाज ने शिक्षा

---

*. आपस्तम्द-धर्मसूत्र—१।१९

† Altekar—Education in Ancient India
P. 275.

§. मनु—२।३९।४०

‡ R., K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 176.

£. आपस्तम्ब—१।१।११।३८

को अनिवार्य बनाने की सबसे पहली चेष्टा की ।‡

शिक्षा की अवधि—शिक्षा की अवधि पाठ्य विषय के परिमाण के ऊपर निर्भर करती थी। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार किसी एक वेद के पूर्ण अध्ययन के लिये १२ वर्ष का समय अपेक्षित था।* इस तरह चार वेदों के लिये ४८ वर्ष वांछित समझा जाता था । यदि अथर्ववेद को वेदवृत्त से अलग रखा जाय, तब भी श्रोत्रिय के लिये ३६ वर्ष आवश्यक माने जाते थे। इतने अधिक समय तक सभी वैदिक विद्यार्थी स्वभावत: विद्यार्जन में प्रवृत्त न रह सकते होंगे । अत: अधिकांश विद्यार्थी १२ वर्ष तक अध्ययन करते थे तथा किसी एक ही वेद का पूर्ण अध्ययन करते थे। विशेषीकृत अध्ययन (specialised study) का प्रचलन उत्तर-वैदिक काल में ही हो चुका था । सूत्रकाल में यह प्रवृत्ति और भी आगे बढ़ गयी। किन्तु ऐसे भी अनेक विद्यार्थी थे, जो अध्ययन तथा साधना में अपना जीवन उत्सर्ग कर देते थे। मेगास्थनीज के वर्णन का उल्लेख हो चुका है, जहाँ भारतीय विद्यार्थी ३७ वर्षों तक विद्याध्यन करते पाये गये थे । बौधायन-धर्मसूत्र के अनुसार वैदिक शिक्षा तब तक जारी रह सकती है, जब तक छात्र के बाल उजले न हो जायें। † शिक्षा की अवधि छात्रों की मानसिक क्षमता के ऊपर भी अवलम्बित थी। कुशाग्र-बुद्धि-वाले छात्र निर्धारित समय के पूर्व ही अपना अध्ययन समाप्त कर लेते थे, और इन्हें घर जाने की अनुमति मिल जाती थी। वैयक्तिक शिक्षा-पद्धति में छात्रों की क्षमताओं का पूर्ण उपयोग होना स्वाभाविक था।

शिक्षा-सत्र ("session)—वैदिक विद्यालयों का कार्यक्रम एक विशेष समारोह के साथ प्रारम्भ होता था । यह समारोह 'उपाकर्मन्' के नाम से विख्यात था तथा श्रावण-पूर्णिमा को सम्पन्न होता था। बहुधा इसे 'श्रावणी' भी कहा जाता था। उपाकर्मन् वस्तुत: 'छन्दसाम् उपाकर्मन्' का संक्षिप्त रूप है, जिसका तात्पर्य था वैदिक मंत्रों का अध्ययन के द्वारा

These penances and penalties....show to what extent education was valued by Hindu society and how it was sought by law to make education universal and compulsory among all the three castes which made up Aryan society in those days.

‡ R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 176.

*. गौतम—२।४५–७

† R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 191.

संग्रह ।* इस अवसर पर शिक्षक तथा छात्र सम्मिलित रूप में एक विशेष उत्सव का आयोजन करते थे । सर्वप्रथम वैदिक देवताओं—इन्द्र, वरुण आदि की पूजा होती थी । तत्पश्चात् मेधा, प्रज्ञा तथा श्रद्धा—मानसिक विकास की इन तीन प्रमुख अधिष्ठात्रियों की अभ्यर्थना होती थी । इसके बाद विद्यालय के शाखा-विशेष के भूतपूर्व उन्नायकों तथा परिपोषकों को श्रद्धाञ्जलियाँ दी जाती थीं । यजुर्वेदी शाखा के शिक्षक कृष्ण-द्वैपायन, वैशम्पायन तथा तित्तिरी का, ऋग्वेदी तथा सामवेदी जैमिनि आदि का स्मरण करते थे ।

उपाकर्म समारोह के पश्चात् विद्यालय का कार्यक्रम नियमित रूप से लगभग ६ महीनों तक चलता था । पौष मास की पूर्णिमा के दिन विद्यालय का नियमित अध्यापन स्थगित हो जाता था । इस अवसर पर 'छन्दसाम् उत्सजर्नम्' समारोह का आयोजन होता था । मनु के अनुसार उपाकर्म भाद्र-पूर्णिमा तथा उत्सर्जन माघ-शुक्ल-प्रतिपदा को होना चाहिये । इस तरह विद्यालय का नियमित अध्यापन साढ़े चार अथवा साढ़े पाँच महीनों तक ही होता था । शेष महीनों में वेद का अध्यापन बन्द रहता था । किन्तु इस अवधि में भी छात्रों का स्वाध्याय वर्जित न था । उपदिष्ट वैदिक विषयों के मनन का आदेश मनु भी देते हैं । प्रत्येक मास के शुक्लपक्ष में वैदिक स्वाध्याय तथा कृष्णपक्ष में वेदांग, व्याकरण तथा अन्य विषयों की शिक्षाएँ उन्हें मिलती थीं । द्वितीय शिक्षा-सत्र में वैदिक विषयों का नया अध्याय शुरू होता था ।

इस तरह गंभीर विषयों के अध्ययन के लिये जाड़े तथा बरसात के दिन ही उपयुक्त समझे जाते थे । बीच-बीच में पूर्णिमा, प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी तथा धार्मिक अवसरों पर छुट्टियाँ हुआ करती थीं । उपर्युक्त ऋतुओं के अतिरिक्त वैदिक शिक्षा के अध्ययन-अध्यापन के लिये एक शान्त वातावरण अपेक्षित था, ताकि छात्रों का ध्यान पाठ्य विषय की ओर केन्द्रित रह सके । धर्मसूत्रों में उन अवसरों की सूची दी हुई है, जिनमें अध्ययन तथा अध्यापन सर्वथा वर्जित था । तूफान तथा बवंडर का उठना, दुदुंभी तथा नगाड़े की आवाज, रोगियों की कराह, शृगाल तथा कुत्ते की

---

* The correct name of Shravani is Upakarma, which is an abbreviation of Chhandasam Upakarma, meaning the gathering together of the Vedic Mantras by studying them.
Altekar—The Bihar Educationist. Vol. I. No. I—P. 30.
Altekar—Education in Ancient India—P. 284-85.

बोलियाँ आदि चित्त की एकाग्रता में बाधक समझी जाती थीं। अतः इन घटनाओं के समय अध्ययन-अध्यापन स्थगित कर देना पड़ता था। कुछ आकस्मिक प्राकृतिक घटनाएँ जैसे आकाश का लाल हो जाना, इन्द्रधनु का उगना आदि अशुभ समझे जाते थे। ऐसे अवसरों पर अध्यापन बन्द रहता था।£ आपस्तम्ब तथा गौतम के अनुसार उस समय भी अध्यापन-कार्य बन्द रहना चाहिये जबकि छात्र के कुछ सहपाठी बाहर कहीं यात्रा में गये हों। उनके लौट आने के समय तक नया पाठ प्रारम्भ नहीं किया जा सकता था। § राजनीतिक घटनाएँ जैसे षड्यंत्र, आक्रमण तथा सामाजिक दुर्घटनाएँ जैसे आग लगना आदि में भी बौद्धिक शिक्षा स्थगित रहनी चाहिये थी।†

इन प्रतिबन्धों से यह स्पष्ट है कि वैदिक शिक्षा तथा शिक्षण को असाधारण महत्त्व तथा पवित्रता प्राप्त थी। वैदिक शिक्षा में किसी भी तरह का विघ्न अथवा आशंका उपस्थित न होनी चाहिये थी। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि विद्यालय का कार्य काफी दिनों तक स्थगित रहता था तथा अध्ययन-अध्यापन के लिये कम समय उपलब्ध था। *

पाठ्य-विषय—सूत्रकाल में वैदिक विद्यालयों के पाठ्य-विषयों में असाधारण वृद्धि हुई। मनु के अनुसार वैदिक शिक्षा का अर्थ था वेदों तथा रहस्यों का अध्ययन। वेदों में चार वेद तथा उनके वेदांग थे, रहस्यों से तात्पर्य था उपनिषदों से। किसी भी वेद के पूर्ण अध्ययन के लिये ६ वेदांगों का अध्ययन भी आवश्यक था। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इनकी जानकारी के बिना वेदों का सम्यक् परिग्रहण असम्भव समझा जाने लगा था। सूत्रकाल में व्याकरण-साहित्य काफी समृद्ध हो गया। ईसवी सन् ४०० वर्ष पूर्व महान् वैयाकरण पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' चार हजार सूत्रों से संस्कृत भाषा को पूर्णतः आबद्ध कर चुकी थी। एक सौ वर्ष पीछे कात्यायान का वार्तिक प्रकट हुआ। कुछ ही दिन बाद पतञ्जलि का महा-

£ गौतम—२६

§ आपस्तम्ब—१।३।११

गौतम—२६।३३

† मनु—४।११३

* F. E. Keay—Indian Education in Ancient and Later Times—P. 32.

भाष्य आविर्भूत हुआ, जिसने व्याकरण-साहित्य के लिये कुछ भी निःशेष नहीं छोड़ा। अमरकोष की रचना भी लगभग ५ वीं सदी ईसवी में हुई। ४७६ ईसवी में पाटलिपुत्र के आर्यभट्ट ने ज्यौतिषशास्त्र को संगठित कर एक सुदृढ़ वैज्ञानिक स्वरूप दिया। संख्याओं का ज्ञान तो पाश्चात्य जगत् को भारत से ही मिला। अंकगणित के अतिरिक्त बीजगणित का उद्भव भी इसी काल में हुआ। सूत्रकाल में औषधि-विज्ञान की भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। इस विज्ञान के विकास की प्रेरणा बौद्धधर्म से प्राप्त हुई। अहिंसा के क्रियात्मक स्वरूप में जीव-रक्षा भी स्वभावतः सन्निहित थी। फलतः जीव-कल्याण के साधन के रूप में औषधि-शास्त्र को विकसित होने की एक बहुत बड़ी धार्मिक प्रेरणा प्राप्त हुई। चरक सम्भवतः बौद्ध राजा कनिष्क के दरबार में विद्यमान थे। सुश्रुत का समय ईसवी शती चौथी में माना जाता है। कालान्तर में भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का प्रभाव पाश्चात्य जगत् पर भी पड़ा। अरबों के द्वारा भारतीय चिकित्सा-शास्त्र यूरोपीय देशों में प्रसारित हुआ। १८ वीं शती ईसवी में भी यूरोपीय देशों में रिन्होप्लैस्टी (Rhinoplasty) का व्यवहार भारत के अनुकरण पर ही होता था। सूत्रकाल में दर्शन-साहित्य का भी पूर्ण विकास हुआ। भारतीय दर्शन के स्रोत तो स्वयं वैदिक संहिताएँ हैं। उपनिषदों में दार्शनिक चिन्तन उच्च स्तर को प्राप्त हुआ था। सूत्रकाल में दर्शन-साहित्य की ६ श्रेणियाँ हुईं, जो पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस तरह वैदिक विद्यालयों के पाठ्य विषयों में सूत्रकाल में भी बड़ी अभिवृद्धि हुई। एक वेद के विद्यार्थी के लिये भी उससे संबंधित सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन असम्भव-सा हो गया। फलतः वैदिक शाखाएँ उप-शाखाओं में विभक्त होने लगीं। प्रत्येक उप-शाखा किसी एक वेदांग के विशेष अध्ययन की ओर प्रवृत्त रहने लगी। वैदिक विषयों का अध्ययन गौण होने लगा और विशेषीकरण के विषय वेदांगों से ही संबंधित होने लगे। वस्तुतः वेदांग भी विशेष शाखाओं की ही देन हैं। व्याकरण का विशेष अध्ययन तो ईसवी ५०० वर्ष पूर्व के लगभग प्रारम्भ हो गया था। पाणिनि का व्याकरण विशेषीकृत अध्ययन का ही प्रतिफल था। इसी परम्परा में कात्यायन तथा पतञ्जलि भी हुए। ज्योतिष की स्वतंत्र उप-शाखा भी इस काल में स्थापित तथा समृद्ध होने लगी। धर्मसूत्रों से संबं-

धित स्वतंत्र शाखाएँ शीघ्र ही विकसित होने लगीं। मानवधर्मशास्त्र का संयोजन, जिस पर परवर्ती मनुस्मृति आधारित कही जाती है, इन्हीं शाखाओं की उपज है।

शिक्षण-पद्धति—सूत्र-काल में शिक्षण-संबंधी सभी बातें नियम के रूप में निर्धारित कर दी गईं। अध्ययन तथा अध्यापन दोनों ही के लिये रीतियाँ निश्चित थीं, जिनके अनुसार ही गुरु पाठ आरम्भ करते थे तथा शिष्य इसका परिग्रहण करते थे। यह कहा जा चुका है कि भारत की प्राचीन शिक्षण-पद्धति प्रधानतः वैयक्तिक थी। शिक्षक एक समूह अथवा वर्ग का शिक्षक नहीं, अपितु वह अमुक शिष्य अथवा शिष्यों का शिक्षक था। फलतः गुरु और शिष्य—दोनों ही वैयक्तिक सूत्र में आबद्ध थे, जो विच्छिन्न नहीं किया जा सकता था। शिक्षण-कार्य सामान्य लौकिक व्यवहार न था, बल्कि धर्म था, जिसके पालन के लिये कठोर नियम निर्धारित थे। इन नियमों की उपेक्षा अधार्मिक अथवा पाप समझा जाता था, जिसके निराकरण के लिये प्रायश्चित्त की व्यवस्था भी थी।

विद्याध्ययन के समय छात्र को ध्यानावस्थित होकर गुरु के उपदेशों को सुनना पड़ता था। आधुनिक विद्यार्थी की तरह वर्ग में न वह शोर-गुल मचा सकता था, न इधर-उधर दृष्टि घुमा सकता था, और, न कालेज के कुछ विद्यार्थियों की तरह जूतियाँ ही रगड़ सकता था। उसके ये व्यवहार न केवल अशिष्ट थे, बल्कि अधार्मिक भी थे। अध्ययन एक महान् धार्मिक कार्य था, जिसकी आधार-शिला थी श्रद्धा तथा विश्वास। गुरु के समक्ष शिष्य परम श्रद्धावान् होकर ही उपस्थित होता था तथा उनकी वाणी को परम-भक्ति के साथ ग्रहण करता था।

गौतम धर्मसूत्र में पाठ प्रारम्भ करने की विधि विस्तृत रूप से वर्णित है।‡ पाठ शुरू होने के पहले शिष्य गुरु का चरण-स्पर्श करता था तथा गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर उनकी अनुमति से पूरब अथवा उत्तर की ओर बैठ जाता था। कुश-स्पर्श से अपने मस्तक को शुद्ध करने के बाद वह एक संक्षिप्त प्राणायाम के द्वारा चित्त की एकाग्रता लाता था। गुरु के बायें हाथ को अपने दाहिने हाथ की उंगुलियों से स्पर्श करता हुआ वह विनीत स्वर में प्रार्थना करता था—"भगवन्! मंत्रोच्चारण प्रारम्भ करें।" गुरु

‡ गौतम-धर्मसूत्र—१।४६

के पुनीत मुखविवर से ओ३म् की ध्वनि तत्काल गूँज उठती। ओ३म् भूः, ओ३म् भुवः, ओ३म् स्वः आदि पाँच मंत्र क्रमानुक्रम उच्चरित होते। वातावरण स्निग्ध तथा प्रशान्त हो उठता। गुरु उस दिन का पाठ प्रारम्भ करते। गंभीर तथा सुग्राह्य स्वर से प्रस्तुत पाठ का एक खंड (वाक्य या वाक्यांश) वे उच्चारण करते। जैसे ही उनका उच्चारण समाप्त होता, ठीक उनकी अनुकृति में शिष्य उनके शब्दों को दुहराने की चेष्टा करता। यह क्रम कुछ देर तक चलता रहता, ताकि शिष्य गुरु की ध्वनियों के शुद्ध स्वरूप को हृदयङ्गम कर लें। इसके पश्चात् उपदिष्ट वाक्य अथवा वाक्यांश की व्याख्या होती थी। पुनः दूसरा वाक्य अथवा वाक्यांश लिया जाता था। गुरु इसका आदर्श उच्चारण प्रस्तुत करते थे। शिष्य इसका अनुकरण करते थे। यथेष्ट आवृत्तियों के पश्चात् व्याख्या होती थी। इसी रीति से दो या तीन पद एक बैठक में सिखलाये जाते थे। बैठक विसर्जित होने के पहले एक बार समस्त पाठ की पुनरावृत्ति होती थी और तब उस दिन का पाठ समाप्त होता था। शिष्य गुरु के चरण छूकर विदा लेते थे।

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में, जिसकी रचना लगभग ५००—६०० ई० पूर्व मानी जाती है, लगभग उपरोक्त शिक्षण-पद्धति वर्णित है।† प्रत्येक पाठ के प्रारम्भ होने के पहले शिष्य गुरु के चरण छूकर प्रणाम करता था तथा पाठ प्रारम्भ करने की प्रार्थना करता था। शिक्षक 'ओ३म्' के उच्चारण के साथ अपनी स्वीकृति देते थे। पाठ शीघ्र ही शुरू हो जाता था। साधारणतया एक बार दो शब्द उच्चरित होते थे। यदि शब्द संयुक्त होता, तो एक बार एक ही शब्द उच्चरित होता था। गुरु के उच्चारण के बाद शिष्य उच्चरित शब्द की आवृत्ति करता। यदि इस शब्द के बारे में उसे कुछ शंका होती तो वह गुरु से इसकी व्याख्या की आकांक्षा करता। गुरु वांछित व्याख्या प्रस्तुत करते। पुनः शिष्य प्रार्थना करता—"भगवन्! आगे बढ़ें।" 'ओ३म्' की ध्वनि के साथ गुरु की स्वीकृति (एवमस्तु) होती और फिर दो अथवा एक शब्द उच्चरित होते। यह क्रम तबतक लगातार चलता रहता जबतक कि एक 'प्रश्न' का पूर्ण अध्यापन अथवा समाधान नहीं हो जाता। एक 'प्रश्न' में साधारणतया तीन 'पद' रहते थे। ४० अथवा अधिक मात्रा-वाले दो ही पद प्रश्न बन सकते थे। बहुधा एक ही मंत्र एक प्रश्न का

† ऋग्वेद-प्रातिशाख्य—१५

विषय हो सकता था। प्रश्न के समाधान के पश्चात्, इसकी आवृत्ति होती थी। शिष्य प्रत्येक शब्द को शुद्ध उच्चारण के साथ कण्ठाग्र करता। यदि एक से अधिक शिष्य होते तो दूसरा शिष्य गुरु के दाहिनी ओर आसन ग्रहण करता तथा दूसरे प्रश्न का समाधान किया जाता। इस तरह तबतक अध्यापन-कार्य निरन्तर जारी रहता जबतक प्रस्तुत अध्याय समाप्त न हो जाता। साधारणतः एक अध्याय में ६० प्रश्न होते थे। अध्याय की समाप्ति के पश्चात् शिष्य गुरु के चरणों में नतमस्तक होकर विदा लेते।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सूत्र-काल में भी शिक्षण-पद्धति मौखिक ही थी। फलतः छात्रों के लिये पाठ्य विषयों को रट जाने के अतिरिक्त अन्य मार्ग न था। अतः सूत्र-कालीन शिक्षण-पद्धति में भी स्मरण की प्रक्रिया का प्रथम स्थान था। किन्तु, साथ ही, व्याख्या की आवश्यकता भी पूर्णतः प्रतिष्ठित थी। व्याख्या की आवश्यकता तो ऋग्वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ब्राह्मण-ग्रंथों के अर्थवाद में व्याख्या-पद्धति प्रौढ़ हो गयी थी। सूत्र-साहित्य में व्याख्या की आवश्यकता और भी बढ़ गयी। सूत्रों के आशय को भलीभाँति समझने के लिये व्याख्यात्मक टीका जरूरी हो गयी।

स्मृति-चन्द्रिका में अध्ययन के निम्नांकित अंग वर्णित हैं।*—

१—शुश्रूषा
२—श्रवणम्
३—ग्रहणम्
४—धारणम्
५—ऊहापोहः
६—अर्थविज्ञानम्
७—तत्त्वज्ञानम्

श्रवण, ग्रहण तथा मनन के अतिरिक्त शंका-समाधान, तर्क-वितर्क, प्रयोग आदि भी ज्ञानार्जन के अंग माने गये हैं। साधना अथवा निदिध्यासन के

---

* स्मति-चन्द्रिका—१३१–३३

S. K. Das--Educational System of the Ancient Hindus —P. 127-128.

द्वारा तत्त्वज्ञान की उपलब्धि का निर्देश भी है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार तत्त्वज्ञान की उपलब्धि के पाँच चरण हैं*—

अध्ययन— शब्द-श्रवण
शब्द— श्रुत शब्द का अर्थ-ग्रहण
ऊह— तर्क तथा सामान्यीकरण
सुहृत्प्राप्ति— मित्र अथवा शिक्षक का अनुमोदन
दान— प्रयोग तथा व्यवहार

आधुनिक शिक्षा-शास्त्री डेवी के द्वारा प्रतिपादित ज्ञानार्जन के तीन अंग इन पाँच चरणों से बहुत समानता रखते हैं।†

अध्ययन शब्द	A problem and its location.
ऊह सुहृत्प्राप्ति	Suggested solutions and the selection of a solution.
दान	Action (application)

ज्ञानार्जन की उपरोक्त प्रक्रियाओं का निचोड़ मनु ने उपस्थित किया है। "ज्ञान की प्राप्ति चार रूपों में होती है। किसी तथ्यज्ञान का पहला चतुर्थ भाग छात्र शिक्षक से ग्रहण करता है, दूसरा चतुर्थ भाग अपनी बुद्धि से प्राप्त करता है, तीसरा भाग अपने मित्र तथा सहपाठियों से और चौथा भाग अपने अनुभव से प्राप्त करता है।"‡

उपनिषदों में प्रयुक्त कथा-कहानी तथा प्रश्नोत्तर की रोचक शैलियाँ सूत्रकाल में भी शिक्षण-कार्य में व्यवहृत होती रहीं। पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश इस शैली के प्रतीक हैं। वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ की प्राचीन पद्धति सूत्र-काल में भी सफलतापूर्वक व्यवहृत होती रही।

---

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 196.

† Curiously enough from the teachers point of view these correspond almost to the Dewey's steps.

N. N. Mazumder—Education in Ancient India—P. 78.

‡ मनु०—२।२०८

प्राचीन भारत में शिक्षक की अनुपस्थिति में बहुधा उनका पुत्र, जो कि स्वयं भी छात्र होता था, पिता का कार्य-भार ग्रहण करता था। संभवतः बालचर-प्रथा का प्रादुर्भाव यहीं से हुआ।† भारत के प्राचीन विद्यालयों में अनुभवी तथा सुयोग्य छात्र शिक्षण-कार्य में अपने शिक्षक की सहायता बराबर करते रहे। तक्षशिला-जैसे सुप्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र में भी यह प्रथा पूर्णतः प्रचलित थी। कुरु-राजकुमार सुतसोम को बनारस के राजकुमार की शिक्षा का भार गुरु ने सौंप दिया था, क्योंकि वह इस कार्य के लिये उचित क्षमता प्राप्त कर चुका था।§ बौद्ध-शिक्षा-केन्द्रों में भी यह प्रणाली व्यवहृत होती थी। ईसवी शती ७ वीं में, वलभी में इत्सिङ्ग ने कई छात्रों को अपने से छोटे छात्रों को शिक्षा देते हुए देखा था। स्वभावतः सूत्र-साहित्य में इस प्रथा का उल्लेख होना स्वाभाविक है। आपस्तम्ब के अनुसार पुराने तथा अनुभवी छात्र शिक्षक के समान ही आदरणीय थे।

"तथा समादिष्टेऽप्यध्यापयति। वृद्धतरे सब्रह्मचारिणि आचार्यवद्वृत्तिः।"‡

बालचर-प्रणाली की उपादेयता के कायल आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी हैं। भारत के उदाहरण पर ही पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस प्रणाली के व्यवहार की सिफारिश की है। इस प्रथा के द्वारा सुयोग्य छात्रों को आत्म-विकास की एक बलवती प्रेरणा प्राप्त होती थी, साथ ही शिक्षक को एक विश्वास-पात्र सहायक बिना किसी खर्च के ही उपलब्ध हो जाता था। इस प्रणाली के अनुसरण से भारतीय विद्यालय कई रूपों में प्रशिक्षण-विद्यालय का कार्य भी करते थे, जिनमें सुयोग्य छात्रों को शिक्षक की जिम्मेवारियों की अभ्यासात्मक शिक्षा होती थी।*

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति वैयक्तिक थी। फलतः भारतीय विद्यालयों की शिक्षण-पद्धति भी वैयक्तिक ही थी। शिक्षक किसी वर्ग अथवा कक्षा में अपना पाठ उपस्थित नहीं करते थे, बल्कि छात्र-विशेष अथवा कुछ छात्रों का अध्यापन करते थे। इस पद्धति में छात्र-

---

† Keay—Indian Education in Ancient and Later Times P. 44.

§ Altekar—Education in Ancient India—P. 166.

‡ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र—२।७।२८

* Altekar—Education in Ancient India—P. 166.

विशेष की पूरी निगरानी होती थी तथा शिक्षक की शिक्षण-पद्धति उसकी क्षमताओं के अनुकूल ही आयोजित रहती थी। प्रतिभा-संपन्न छात्र विद्यार्जन में तीव्र गति से बढ़ते जाते थे तथा औसत दर्जे के छात्र, औसत गति से आगे बढ़ते थे। इसी तरह निम्न मानसिक स्तर के छात्र शिक्षक की वैयक्तिक रुचि के कारण, वर्गीय शिक्षा की भाँति उपेक्षित नहीं रहते थे। वैयक्तिक शिक्षण-पद्धति में शिक्षक को प्रचुर अवसर रहता था कि वह छात्रों की प्रगति की पूर्ण जाँच कर सके। किसी नये पाठ के प्रारम्भ करने के पहले शिक्षक यह निश्चय कर लेते थे कि छात्र को पुराना पाठ भलीभाँति हृदयंगम हुआ अथवा नहीं। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो शिक्षक नया पाठ प्रारम्भ नहीं करते थे तथा पुराने पाठ की ही आवृत्ति करते थे। जो छात्र पुराने पाठ को भूल जाते थे, उनके लिये नये पाठ का प्रारम्भ स्थगित रहता था, जब तक कि वे पुराने पाठ का पुनः स्मरण न कर लें।

"अप्रतिभायां यावन्तं कालं न वेद तावन्तं* कालं तदधीयीत।"

इस तरह भारत की प्राचीन शिक्षण-पद्धति में उन छात्रों का विद्यालय में टिकना कठिन था जो कि असमर्थ अथवा अन्यमनस्क थे।

समावर्तन—औपनिषदिक समावर्तन का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सूत्र-साहित्य में भी इस संस्कार का विस्तृत विवरण मिलता है। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ है "लौटना"। ब्रह्मचर्य की समाप्ति के पश्चात् छात्र स्नातक बनकर घर लौटते थे। इस अवसर पर विशिष्ट संस्कार संपन्न होता था, जो ब्रह्मचर्य-जीवन का अन्त तथा गार्हस्थ्य-जीवन का प्रारम्भ सूचित करता था।

संस्कार के लिये निर्धारित शुभ दिन को ब्रह्मचारी शौचादि नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्रातःकाल ही किसी कोठरी में बन्द हो जाता था, ताकि वह सूर्य के प्रकाश का साक्षात्कार न कर सके। इस प्रथा का आशय यह था कि स्नातक की ज्योति से भगवान् सूर्य लज्जित न हो जायँ, जिनकी ज्योति स्नातक की ज्योति का प्रतिविम्बमात्र थी।

एतदहः स्नातानां ह वा एष एतत्तेजसा तपति तस्मादेनमेतदहर्नाभितपेत्।‡

---

* बौधायन-धर्मसूत्र—३।७७

‡ भारद्वाज-गृह्यसूत्र—२।१।८

ब्रह्मचर्य के तप से जो ज्योति प्रस्फुटित होती थी, उस ज्योति की तुलना भगवान् भास्कर की ज्योति भी नहीं कर सकती थी । वस्तुतः शिक्षा और शिक्षार्थी के गौरव का उच्चतम मूल्यांकन संभव नहीं ।‡ दोपहर के समय ब्रह्मचारी कोठरी से बाहर आता था । उसके मस्तक के बाल, दाढ़ी, नख आदि काट दिये जाते थे । ब्रह्मचारी के अन्य चिह्न दण्ड, कमण्डलु आदि भी जल में विसर्जित कर दिये जाते थे । उन सांकेतिकों के साथ ही ब्रह्मचारी के तपोमय जीवन का अन्त हो जाता था । अब वह उन सभी वस्तुओं के उपभोग का अधिकारी था, जो उसके लिये ब्रह्मचर्य-काल में त्याज्य थे । स्वयं गुरु उसे शीतल तथा सुगन्धित जल से स्नान कराते थे । स्नान के पश्चात् चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप उसके शरीर पर किया जाता था। अब वह नया वस्त्र धारण करता तथा कानों में कुण्डल भी पहनता था, जो कि विशेष रीति से इसी अवसर के लिये बनाये जाते थे । जूता, छाता, पगड़ी, मुरेठा आदि आराम-प्रद वस्तुएँ भी उसे पहनने को दी जाती थीं । इस तरह आश्रम का तापस ब्रह्मचारी अब गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश करने के लिये प्रस्तुत होता था । इस अवसर पर एक विशेष प्रकार का होम आयोजित होता था । ईष्ट-देवता, कुल-देवता, गुरुजन आदि की अभ्यर्थना के पश्चात् स्नातक व्रत लेता था।† व्रत यह था कि वह अपने समीप आये हुए शिक्षार्थियों को विद्या-दान देगा । तत्पश्चात् शिक्षक उसे प्रसाद के रूप में 'मधुपर्क' देते थे जो कि उस समय एक विशिष्ट भेंट समझा जाता था तथा सामान्यतः राजा, गुरु, जामाता आदि सम्मानित अतिथियों को ही अर्पित किया जाता था।* अन्त में स्नातक रथ अथवा हाथी पर बैठाकर स्थानीय विद्वन्मंडली अथवा परिषद् में ले जाया जाता था।† वहाँ उसके गुरु सभी विद्वानों को उसका परिचय देते थे तथा उसे सुयोग्य पण्डित घोषित करते थे । विद्वन्मंडली से आशीर्वाद प्राप्त कर स्नातक गुरु के आश्रम को लौटता था। गुरु के चरणों में नतमस्तक हो तथा उन्हें उचित दक्षिणा अर्पित कर छात्र स्नातक होकर घर लौटता था। स्नातक का सामाजिक

---

‡ What greater compliment can be conceived for education—Altekar—Education in Ancient India—P. 290.

No higher compliment to Education can be conceived. R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 210.

* Altekar—Education in Ancient India—P. 291.

† आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र—१।११।५१, द्राह्यायन गृह्यसूत्र—३।१।१।२६

स्थान क्या था—इसका अनुमान उपर्युक्त समावर्तन की विधि से ही लग सकता है ।

परिषद्—धार्मिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने तथा अन्तिम निर्णय देने के लिये भारत में परिषद्-नामक संस्था बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है । * उत्तरवैदिक काल में परिषद् के द्वारा औपनिषदिक ज्ञान के प्रसार में बड़ा योग मिला था । पाञ्चाल-परिषद् का उल्लेख किया जा चुका है । सूत्रकाल में परिषदों के संगठन तथा कार्य दोनों ही के सम्बन्ध में सुव्यवस्थित नियम निर्धारित किये गये । परिषद् की स्थापना साधारणतः उन्हीं स्थानों में होती थी, जहाँ कि ब्राह्मण-विद्वानों की संख्या अधिक रहती थी । फलतः प्रमुख ब्राह्मण-बस्तियों में ही परिषद् आयोजित रहती थी । सामान्यतः परिषद् का संगठन १० सदस्यों के द्वारा होता था । गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार इन दस सदस्यों का संयोजन इस तरह था ‡—

क—चार वेदों के पूर्ण ज्ञाता—	४ सदस्य
ख—धर्मशास्त्रों के तीन पण्डित—	३ "
ग—ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ तीनों के एक-एक प्रतिनिधि	— ३ "
	कुल—१० सदस्य

वशिष्ठ तथा बौधायन-धर्मसूत्रों में भी परिषद् के सदस्यों की संख्या १० ही कही गई है । किन्तु इनके अनुसार २री श्रेणी के सदस्यों में एक मीमांसा का ज्ञाता, दूसरा अंगों का जाननेवाला तथा धर्मसूत्रों का पण्डित होना चाहिये । मनु के अनुसार भी परिषद् का संगठन सामान्यतः दस सदस्यों के द्वारा ही होना चाहिये ।£ किन्तु ये सदस्य उपर्युक्त सदस्यों से कुछ भिन्न हैं । क्रमानुसार सदस्यों का वितरण इस तरह होना चाहिये—

---

*R. C. Dutta—Ancient India.
Keay—Indian Education in Ancient and Later Times--P. 44.

‡ गौतम-धर्मसूत्र—२४।५१

£ मनु०—१२।२११

क—	तीन वेदों (ऋक्, साम तथा यजुष्) के तीन पण्डित।	—३ सदस्य
ख—	तर्कशास्त्र का एक विद्वान्	
	मीमांसा का ,, ,,	—४ सदस्य
	निरुक्त का ,, ,,	
	धर्मशास्त्रों का ,, ,,	
ग—	ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ—एक-एक प्रतिनिधि	—३ सदस्य
		—१० सदस्य

मनु के मतानुसार तीन विद्वानों के द्वारा भी परिषद् संगठित हो सकती थी। इन तीन विद्वानों को तीन वेदों का पूर्ण पण्डित होना चाहिये। जहाँ तीन विद्वान् उपलब्ध न हों वहाँ एक ही वेदज्ञ पण्डित परिषद् का स्थान ग्रहण कर सकता था तथा "उसका निर्णय हजार सामान्य लोगों के निर्णय से श्रेयस्कर था।" परिषद् अथवा शिष्टमण्डल के निर्णय सर्वमान्य थे। इनका विरोध अथवा उपेक्षा अवैध थी।

पराशर की सम्मति में किसी ग्राम के ४ अथवा ३ सुयोग्य ब्राह्मण, जो कि वेदों में दक्ष हों तथा अग्निहोत्र करते हों, परिषद् संगठित कर सकते थे।* यदि ये ब्राह्मण अग्निहोत्र न करते हों, तो परिषद् की स्थापना ऐसे ५ अथवा तीन ब्राह्मणों के द्वारा हो सकती थी, जो कि वेद, वेदांग तथा धर्म-सूत्र में पारंगत हों। एक ऋषि भी, जिन्हें परम ज्ञान की उपलब्धि हो चुकी हो, जो वैदिक यज्ञानुष्ठानों को विधिवत् सम्पादित करते हों, परिषद् बना सकते थे। ऐसे ऋषि का निर्णय पूर्ण परिषद् के ही समान माननीय था।

परिषद् के संगठन के उपर्युक्त विवरण से कई निष्कर्ष निकलते हैं।

क—सूत्रकालीन परिषदों का सामान्य स्वरूप लगभग एक ही था। आदर्श रूप में इसके सदस्यों की संख्या १० होनी चाहिये थी, किन्तु ५, ३ अथवा १ सदस्य भी परिषद् संयोजित कर सकते थे।

ख—परिषद् के सदस्यों का मानदण्ड बहुत ऊँचा था। अपने विषय की पूरी योग्यता उनके लिये अनिवार्य थी। ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड दोनों में ही उन्हें पारंगत रहना चाहिये था। परिषद् के उत्तरदायित्व के सम्यक्

* **Max Muller—Sanskrit Literature—P. 128-32.**

निर्वाह के लिये यह उचित भी था कि इसके सभी सदस्य अपने विषयों के पूर्ण पण्डित हों ।

ग—परिषदों के संगठन की रीति से यह स्पष्ट है कि सूत्रकाल में विशेषीकृत अध्ययन (Specialised Study) की प्रगति काफी हो चुकी थी । इसके सभी सदस्य किसी विशेष विषय अथवा ज्ञान के ही विशेषज्ञ होते थे । विशेषज्ञों की सूचियाँ विभिन्न सूत्र-ग्रंथों में विभिन्न हैं । गौतम तथा वशिष्ठ-बौधायन में वेदों के चार विशे ज्ञ आवश्यक समझे गये हैं । किन्तु मनु के अनुसार अथर्ववेद के विशेषज्ञ का सदस्य होना आवश्यक न था । फलतः उनकी परिषद् में वेद के तीन ही पण्डित आवश्यक माने गये हैं । धर्मसूत्रों के प्रतिनिधियों में भी मनु का विचार अन्यों से भिन्न है । इस वर्ग के सदस्यों की संख्या मनु के अनुसार ५ होनी चाहिये ।

घ—परिषद् के सदस्यों में वेद तथा धर्मसूत्रों के विद्वानों के अतिरिक्त छात्र, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के प्रतिनिधि भी सम्मिलित रहते थे । परिषद्-जैसी उच्च संस्था में छात्रों का प्रतिनिधित्व शिक्षा के इतिहास में एक विशिष्ट महत्त्व रखता है । धार्मिक निर्णयों तथा उच्च तथ्यों के निर्धारण में छात्रों के विचारों तथा उनके हितों को समुचित सामाजिक मान्यता दी जाती थी । लगभग २५०० वर्ष पहले भारत में छात्र-समाज को वह सामाजिक सम्मान प्राप्त था, जो कि आज के तथाकथित प्रजातन्त्रात्मक युग में भी अभीतक उसे अप्राप्य ही है ।*

३—परिषद् में आधुनिक विश्व-विद्यालय के लगभग सभी उपकरण वर्त्तमान थे ।† इसमें न केवल सभी प्रमुख ज्ञानों के प्रतिनिधि थे, बल्कि समाज के ३ प्रतिनिधि भी थे, जो कि तात्कालिक सामाजिक हितों की सुरक्षा तथा समृद्धि में अपना योग दिया करते थे । संन्यास-आश्रम के प्रतिनिधि स्वभावतः नहीं लिये जाते थे, क्योंकि संन्यासियों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से लगभग नहीं के बराबर था ।

* The representation of the student community on such an authoritative body shows a degree of recognition of their special interests and stakes which is not allowed even in modern educational organisations, professing advanced democratic ideals.

† It was also an association of teachers and students and other learned men and would thus form the nucleus of something corresponding to a university.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 220-222.

परिषद् नवीन तथ्यों के निर्धारण तथा विवादास्पद प्रश्नों के निराकरण के लिये उच्चतम संस्था थी। सभी सांस्कृतिक प्रश्नों पर परिषद् का निर्णय, अन्तिम तथा सर्वमान्य था। अपने उत्तरदायित्व के अनुकूल ही परिषद् के सदस्य वे होते थे जो समाज में विशिष्ट स्थान रखते थे। इस तरह, संगठन तथा कार्यभार दोनों के ही विचार से प्राचीन भारत की परिषदें परवर्ती विश्वविद्यालयों की अग्रदूतिका कही जा सकती हैं। मध्ययुगी यूरोप के शिक्षकों के कुछ ऐसे ही समुदाय से पाश्चात्य विश्वविद्यालय विकसित हुए।*

स्त्री-शिक्षा

शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों की वैदिक परम्परा सूत्र-काल में भी जारी रही।† सूत्र-साहित्य में स्त्रियों के दो भेद वर्णित हैं—ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधू।‡ ब्रह्मवादिनी उपनयन, अग्न्याधान तथा वैदिक शिक्षा की पूर्ण अधिकारिणी थी। घर अथवा परिवार के लोगों के बीच यह भिक्षाटन भी कर सकती थी। सद्योवधू भी विवाह के पहले उपनयन ग्रहण कर सकती थी।

गोभिल गृह्य-सूत्र के अनुसार पत्नी को शिक्षित रहना आवश्यक है, ताकि वह यज्ञानुष्ठान में पति के साथ भाग ले सके।

नहि खलु अनधीत्य शक्नोति पत्नी होतुमिति।§

जैमिनि-पूर्वमीमांसा में भी स्त्री-पुरुष का यज्ञानुष्ठान में समकक्ष स्थान है।£ माधवाचार्य इसकी टिप्पणी में कहते हैं—

अस्यैवाधिकरणस्य अनुसारेण अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत तम् अध्यापयीत इत्यत्रापि स्त्रियोऽपि अधिकारः। +

---

* Keay—Indian Education in Ancient and Later times—P. 47.

† The Vedic tradition continued as regards education of women.
R. K. Mookerji—P. 208.

‡ हारीत—२१।२३

§ गोभिल-गृह्यसूत्र—१।२

£ जैमिनि-पूर्वमीमांसा—अध्याय १, अधिकरण ३

\+ न्यायमाला-विस्तार—पृष्ठ ३३५

ब्राह्मण के बालकों को ८ वर्ष की अवस्था में उपनयन ग्रहण कर लेना चाहिये तथा बालिकाओं को भी उपनयन-सम्बन्धी यही अधिकार है ।

सूत्र-काल में लड़कियों के लिये भी उपनयन अनिवार्य था । मनु ने भी उपनयन-संस्कार का सम्पादन कन्याओं के लिये आवश्यक बतलाया है । परवर्ती यमस्मृति में भी सूत्र-कालीन स्त्री-शिक्षा का उल्लेख है ।

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ।।

स्त्रियों की योग्यता प्रशंसनीय थी । मीमांसा साहित्य, जो कि शुष्क तथा जटिल समझा जाता है, के अध्ययन में स्त्रियों ने अपूर्व योग्यता का परिचय दिया था । काशकृत्स्निन् नामक एक विदुषी महिला ने एक ग्रंथ की रचना की थी जो कि काशकृत्स्नी के नाम से विख्यात था । इस पुस्तक के विशेष अध्ययन में प्रवृत्त स्त्रियों के लिये एक नया शब्द "काशकृत्स्ना" आविष्कृत हुआ था । इस शब्द का आविष्कार तथा प्रयोग ही इस बात का द्योतक है कि इस विद्या में अध्ययनशील स्त्रियों की संख्या काफी अधिक थी ।*

एवमपि काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी । काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी ।

प्राचीन भारत में स्त्रियाँ शिक्षण भी करती थीं । उपाध्याय शब्द के दो स्त्रीलिंग शब्द प्राचीन साहित्य में प्रचलित थेः—उपाध्यायानी तथा उपाध्याया । प्रथम शब्द उपाध्याय (शिक्षक) की पत्नी के लिये प्रयुक्त होता था तथा द्वितीय शब्द उस स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था जो कि शिक्षण-कार्य करती थी (उपेत्याधीयते अस्याः सा उपाध्याया)† उपाध्याया शब्द के प्रचलन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षिकाओं की संख्या अल्प नहीं थी ।§ पाणिनि में कुछ ऐसे छात्रावासों, (छात्रीशाला) का उल्लेख है जिनमें छात्राएँ ही रहती थीं (छात्रादयः शालायाम्) ।‡ सम्भवतः इन छात्रालयों की देख-रेख स्त्री शिक्षिकाओं के द्वारा ही होती थी ।

---

* Altekar—Education in Ancient India—P. 203.

† Altekar— Do —P. 211.

† पतञ्जलि—३।८२२ पर

‡ पाणिनि ४।२।३६

हेमाद्रि के अनुसार कुमारियों को विद्या तथा धर्मनीति की शिक्षा मिलनी चाहिये। शिक्षिता कन्या अपने पिता तथा पति दोनों ही का हित करती है। शिक्षिता कन्या अथवा 'विदु ी' का विवाह शिक्षित पुरु अथवा 'मनीषी' से ही होना चाहिये।†

मौर्य-काल तक स्त्रियों का यज्ञाधिकार अक्षुण्ण रहा। प्रातः तथा संध्या—दोनों समय गृह्य अग्नि में हवन करना प्रत्येक आर्य-पत्नी का कर्त्तव्य था। पाणिनि के अनुसार पत्नी शब्द स्त्री के यज्ञ-सम्बन्धी विशेष कर्म का ही द्योतक है।

पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।‡

रामायण में कौशल्या राम के प्रस्तावित राज्याभिषेक के अवसर पर यज्ञ करती वर्णित हैं।

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मंत्राविष्कृतमंगला॥*

बालि की स्त्री तारा भी बालि की युद्ध-यात्रा के समय यज्ञ करती है।

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मंत्रविद्विजयैषिणी।§

सुदूर लंका में बन्दिनी सीता भी आर्यकुल की पद्धति के अनुसार वैदिक प्रार्थना करती है।

संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थं वरवर्णिनी॥£

महाभारत में पाण्डवों की माता कुन्ती भी अथर्ववेद के मंत्रों में पारंगत कही गई है।×

---

† हेमाद्रि— Referred to by R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 208.

‡ पाणिनि—४।१।३३

* रामायण—२।२०।१५

§ रामायण—४।१६।१२

£ रामायण—५।१५।४८

× महाभारत ३।३०५।२०

ईसवी पूर्व २०० ई० के लगभग स्त्रियों का सामाजिक स्थान गिरने लगा जिसके फलस्वरूप उनकी शिक्षा उपेक्षित होने लगी। उपनयन की अनिवार्यता क्रमशः क्षीण होने लगी। मनुस्मृति के अनुसार तो बालिकाओं की शिक्षा वैदिक मन्त्रोच्चारण के बिना ही प्रारम्भ की जा सकती थी।§

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मंत्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।

वस्तुतः कन्याओं के लिये विवाह ही उपनयन था।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥†

याज्ञवल्क्य ने कन्याओं के लिये उपनयन बिलकुल अनावश्यक माना।‡ शीघ्र ही उनकी सामाजिक स्थिति 'शूद्रों' के समकक्ष मानी जाने लगी।

वदन्ति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्।

स्वभावतः इस दूषित दृष्टिकोण का प्रभाव स्त्री-शिक्षा पर बहुत बुरा पड़ा और उनकी शिक्षा-दीक्षा अधिकाधिक उपेक्षित होने लगी। बाल-विवाह की प्रथा के प्रादुर्भाव तथा प्रचलन से स्त्री-शिक्षा को और भी आघात पहुँचा। वैदिक काल में स्त्रियाँ सामान्यतः १६—१७ वर्ष की अवस्था में विवाहित होती थीं। सूत्रकाल में यह अवस्था १२ के लगभग कर दी गई। किन्तु सुयोग्य वर के न मिलने पर लड़कियों का विवाह १६—१७ वर्ष की अवस्था तक स्थगित किया जा सकता था। मनु तो ऐसी परिस्थिति में आजन्म कौमार्य का भी आदेश देते हैं।÷ किन्तु ईसवी शती दूसरी के पश्चात् यह निश्चित कर दिया गया कि बालिकाओं का विवाह ऋतुमती होने के पहले ही हो जाना चाहिये। याज्ञवल्क्य, यम आदि स्मृतिकारों ने उन व्यक्तियों की घोर भर्त्सना की है, जो अपनी पुत्रियों का विवाह ऋतु-प्रारम्भ के पहले न कर देते हैं।

अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यां ऋतौ ऋतौ। *

---

§ मनु—९।१८
† ,, —२।६७
‡ याज्ञवल्क्य—१।१३
÷ मनु—९।८९
* याज्ञवल्क्य—१।६७

इस धार्मिक आदेश की अवहेलना सम्भव न थी। फलतः अधिकांश लड़कियों का विवाह ८–९ वर्ष की अवस्था में ही हो जाता था। ऐसी स्थिति में स्त्री-शिक्षा की दशा स्वभावतः शोचनीय हो गई। फलतः स्त्री-शिक्षा की अवस्था दिनोंदिन गिरती गई। नारद-स्मृति के भाष्यकार असहाय के अनुसार ८वीं शती ईसवी के लगभग स्त्रियाँ सामान्यतः अशिक्षित थीं। श्री अल्तेकर की सम्मति में ५वीं शती ईसवी में स्त्री-शिक्षा सैकड़े ५ से अधिक न थी।

किन्तु धनी तथा सम्पन्न परिवार की कन्याएँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती रहीं। वैदिक विषयों को छोड़कर—साहित्य, संगीत, नृत्य आदि विषयों की शिक्षा इन कन्याओं को भलीभाँति दी जाती थी। यह शिक्षा सामान्यतः सुयोग्य शिक्षकों के द्वारा घर ही में दी जाती थी। राजा अग्निमित्र के अन्तःपुर में इस कार्य के लिये गणदास तथा हरदत्त-नामक शिक्षक नियुक्त थे। दक्षिण भारत में कई स्त्रियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उनके द्वारा प्राकृत काव्य की रचना भी हुई थी। गाथा-सप्तशती में सात ऐसी कवयित्रियों का उल्लेख है—रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहई, वद्ध-वही तथा शशिप्रभा। संस्कृत-साहित्य में भी कई स्त्रियों के नाम सुरक्षित हैं, जिन्होंने उच्चकोटि के काव्य रचे थे। सीलोभट्टारिका अपनी आकर्षक शैली; शब्द-सौष्ठव आदि के लिये प्रसिद्ध थी। गुजरात की देवी अपनी मृत्यु के पश्चात् भी कविता के लिये प्रशंसित रही। बरार प्रदेश की विजया राजशेखर के द्वारा प्रशंसित हुई है। काव्य-प्रतिभा में वह कालिदास के बाद ही स्थान रखती थी।

हाल ही में कौमुदी-महोत्सव-नामक एक नाटक-ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, जिसमें पाटलिपुत्र के राजनीतिक षड्यंत्र का उल्लेख है। यह नाटक विद्या अथवा विज्जका-नामक कवयित्री का रचा कहा जाता है। ‡ सुभद्रा, सीता, मरुला, इन्द्रलेखा, भवदेवी आदि कुछ अन्य कवयित्रियाँ इस काल में विद्यमान थीं, जिनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। † वाद-विवाद तथा दार्शनिक संभाषणों में भी कई स्त्रियाँ निपुण थीं। राजशेखर की पत्नी एक कवयित्री तथा समालोचक थी। मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी ने

‡ Altekar—Education in Ancient India—P. 220.

† M. Krishnam Achariar—Classical Sanskrit literature—P. 301-3.

† शंकरदिग्विजय—८।५१

अपने पति तथा शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में पंच (Umpire) आर्थिक किया था। कहे

विधाय भार्यां विदुषीं सदस्यां
विधीयतां वादकथा सुधीन्द्र। †

कुछ स्त्रियों के द्वारा चिकित्सा-विज्ञान पर पुस्तकें लिखी गई थीं। स्पष्टतः ये स्त्रियाँ सुविज्ञ चिकित्सक रही होंगी। ८ वीं शती ईस्वी में जच्चा-विद्या (Midwifery) की एक संस्कृत पुस्तक अरबी भाषा में अनुवादित हुई थी। इस पुस्तक की लेखिका का अरबी नाम रुसा था। ‡

साहित्यिक क्षेत्र के अतिरिक्त राजनीति तथा युद्ध-विद्या में भी कई महिलाओं ने उच्च योग्यता प्राप्त की थी। आन्ध्र-वंश की नयनिका तथा वाकटक-वंश की प्रभावती गुप्ता अपने पुत्र के बाल्यकाल में अपने विस्तृत राज्य की पूर्ण व्यवस्थापिका थी। मसग की रानी ने अपने पति के निधन के पश्चात् सिकन्दर महान का सामना किया था। काश्मीर के इतिहास में सुगन्धा तथा दिद्धा के नाम शासिका के रूप में प्रसिद्ध हैं।§ इनके अतिरिक्त कई स्त्रियों ने युद्ध में दुश्मनों के छक्के छुड़ाये थे। चालुक्य-वंश की कई महिषियों ने राज-काज में सफलतापूर्वक भाग लिया था। मेलादेवी, अक्कादेवी, कुंकुमदेवी तथा लक्ष्मीदेवी उदाहरणस्वरूप हैं।

बौद्ध-धर्म के प्रतिष्ठापन तथा प्रसार से स्त्री-शिक्षा को पुनः कुछ सम्बल प्राप्त हुआ जिसका पूर्ण विवरण हम आगे प्रस्तुत करेंगे। किन्तु, मुसलिम आक्रमण, राजनीतिक उथल-पुथल तथा पर्दा आदि के कारण स्त्री-शिक्षा की गति-विधि को गहरा आघात पहुँचा और लगभग ८०० वर्ष तक भारतीय स्त्रियाँ शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ी रहीं।

सह-शिक्षा :—सह-शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है। प्राचीन साहित्य में कुछ ऐसे विवरण हैं, जिनसे पता चलता है कि सह-शिक्षा वर्जित नहीं थी। आठवीं शताब्दी में लिखित भवभूति के मालती-माधव (अंक १) में कामन्दकी भूरिवसु तथा देवरात के साथ शिक्षित हुई है। उत्तररामचरित (अंक २) में लव-कुश के साथ ऐतरेयी शिक्षा ग्रहण करती है। पुराणों में वर्णित कहोद, सुजात, रुरु तथा प्रमदवरा की कथाएँ

---

‡ नदवी—अरब और भारत के सम्बन्ध—पृष्ठ १२२
§ रागतरङ्गिणी—७–८
Raichowdhury—Dynastic History of Northern India,

भी सह-शिक्षा के प्रचलन की पुष्टि करती हैं। कभी-कभी छात्र-छात्राओं में प्रेम-विवाह भी होता था। यह निन्दनीय नहीं समझा जाता था। वस्तुतः प्रेम-विवाह के प्रति लोगों को अश्रद्धा न थी।

गांधर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्। §

तथा

सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह।
अनुरागात्मकत्वाच्च गांधर्वः प्रवरो मतः ॥ †

इस तरह सह-शिक्षा के प्रति लोगों की कुछ विशेष आशंकाएँ नहीं थीं। फिर भी सह-शिक्षा विशेष प्रचलित न थी। ‡

शिक्षा-शुल्क—प्राचीन भारत में शिक्षण-कार्य एक सामान्य व्यवसाय नहीं, अपितु एक धार्मिक कर्तव्य था। फलतः शिक्षक और शिक्षित का सम्बन्ध-सूत्र आर्थिक नहीं, आध्यात्मिक था। शिक्षक जीविकोपार्जन के लिये शिक्षा प्रदान नहीं करते थे, वल्कि ज्ञान-प्रसार के लिये, जोकि उनका धार्मिक उत्तर-दायित्व था। वैदिक ज्ञान के संरक्षण तथा संवहन में संलग्न शिक्षक वस्तुतः अपनी उस जिम्मेवारी का निर्वाह करते थे, जोकि उन्हें महर्षियों के द्वारा सौंपी गई थी। शिक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु न थी, जिसके द्वारा वे उनके ऋण-भार से मुक्त हो सकते थे। शिक्षा-प्रदान शिक्षा-ग्रहण की व्यावहारिक परिणति थी, और, विद्यार्जन की सार्थकता इसमें ही थी कि वह दूसरों को प्रदान की जाय। प्रत्येक वैदिक विद्यार्थी से यह अपेक्षित था कि वह अपने गुरु से उपलब्ध ज्ञान को, स्वयं गुरु के रूप में, सुयोग्य छात्रों को प्रदान करेगा। शिक्षा-प्रदान के इस आध्यात्मिक अथवा नैतिक पद्धति में, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, शिक्षक तथा शिक्षित के संयोजन के लिये किसी आर्थिक सूत्र (Cash nexus) की गुंजाइश न थी।

"गुरु के गृह में शिष्य का आगमन वस्तुतः उनके परिवार की वैसी ही वृद्धि थी, जैसी कि एक नवजात पुत्र के द्वारा होती थी।" फलतः

---

§ बौधायन-धर्मसूत्र—१।११।१३।७

† कामसूत्र— ३।५।३०

‡ **Altekar—Education in Ancient India—P. 213.**

शिष्य के आगमन से गुरु के उत्तरदायित्व की वृद्धि होती थी, न कि उनकी आर्थिक आय की। शुल्क के लिये शिक्षा देनेवाले शिक्षक पापी (उपपातकी) कहे गये हैं।‡ स्मृति-चन्द्रिका में शिष्यत्व के लिये किसी प्रकार के शुल्क का शिक्षक के द्वारा प्रस्ताव भी निन्दनीय माना गया है। † सौर पुराण के अनुसार निर्धारित शुल्क के आधार पर शिक्षा ग्रहण करनेवाले एवं शिक्षा देनेवाले—दोनों ही नरक के भागी कहे गये हैं।* कालिदास के मालविकाग्निमित्र में ज्ञान की खरीद-बिक्री की घोर निन्दा की गई है।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति। §

किन्तु शिक्षा की समाप्ति पर गुरु को शिष्य से उचित दक्षिणा स्वीकार करने का अधिकार था। वस्तुतः शिष्य का यह कर्त्तव्य था कि अपने अध्ययन की समाप्ति पर वह अपने गुरु के चरणों पर उचित दक्षिणा अर्पित करे। मनु की सम्मति में समावर्तन के पश्चात् शिष्य को अपनी शक्ति के अनुसार उचित वस्तु उपलब्ध कर गुरु को समर्पित करनी चाहिये। दक्षिणा की वस्तु गाय, घोड़ा, जूता, बैठने की सामग्री, अन्न तथा शाक-भाजियाँ भी हो सकती थीं।× आपस्तम्ब के मत में धार्मिक रीति के अनुसार ही गुरु के लिये दक्षिणा उपलब्ध करनी चाहिये। सामान्यतः उसे सत्पात्रों से ही दक्षिणा की वस्तु प्राप्त करनी चाहिये। वर्णसंकर, अपराधी द्विज तथा शूद्र से उसे इन वस्तुओं की याचना नहीं करनी चाहिये। 'उपलब्ध' शब्द का व्यवहार स्पष्टतः उन छात्रों के लिये हुआ है जिनकी आर्थिक अवस्था स्वतः दक्षिणा चुकाने के उपयुक्त न रही होगी। ऐसे सामान्य छात्रों को, जिनकी ही संख्या अधिक रहती थी, गुरु की दक्षिणा चुकाने के लिये काफी प्रयत्नशील होना पड़ता था तथा अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। जातक-ग्रन्थों में ऐसे छात्रों के प्रयत्नों का विवरण मिलता है। कालिदास के रघुवंश (पञ्चम सर्ग) में कौत्स का उल्लेख है, जिसने नृपति रघु से गुरु-दक्षिणा की याचना की थी। रघु का उत्तर द्रष्टव्य है।

---

‡ याज्ञवल्क्य—३,२३६।२४२

† स्मृतिचन्द्रिका—पृ० १४०

* सौरपुराण—१०।४२

§ मालविकाग्निमित्र—१।१७

× मनु—२४५–६

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः । *

महाभारत में राजा पोष्य अपनी पत्नी को अपना बहुमूल्य कुण्डल उत्तंक को देने का आदेश देते हैं, ताकि वह इसे दक्षिणा के रूप में अपने गुरु को दे सके। उत्तंक की गुरु-पत्नी कुण्डल-धारण की उत्कट अभिलाषा रखती थीं। वस्तुतः दक्षिणा के निमित्त माँगी हुई किसी भी वस्तु को अस्वीकृत कर देना निकृष्ट कार्य समझा जाता था।

सिद्धान्ततः दक्षिणा अध्ययन की समाप्ति पर ही दी जानी चाहिये थी। किन्तु व्यवहारतः धनी-मानी तथा संपन्न विद्यार्थी प्रारम्भ में ही दक्षिणा की रकम दे दिया करते थे। भीष्म ने कौरव-राजकुमारों की शिक्षा के लिये द्रोण को पहले ही समुचित शुल्क दे दिया था। जातकों में पहले शुल्क देनेवाले विद्यार्थियों के कई दृष्टान्त हैं।† मिलिन्द-पह्न में नागसेन के पिता ने अपने पुत्र की शिक्षा के लिये पहले ही शुल्क दे दिया था।‡ भारतीय ग्रीक राजा मिलिन्द (Menandar) ने भी अध्ययन प्रारम्भ करने के पहले अपने गुरु भिक्षु नागसेन को बहुमूल्य दक्षिणा देनी चाही। किन्तु भिक्षु नागसेन के अस्वीकार करने पर मिलिन्द ने उनसे उसे ग्रहण करने के लिये बड़ा आग्रह किया ताकि उसे निःशुल्क का दोषी न माना जाय। £

इस तरह प्राचीन भारत में शिक्षा-ग्रहण के लिये शुल्क अनिवार्य न था। फलतः साधनहीन बालकों को भी विद्यार्जन उतना ही सुलभ था जितना कि धनवान छात्रों के लिये। § हाँ, इन छात्रों को गुरु के लिये कुछ शारीरिक श्रम अवश्य करने पड़ते थे। तक्षशिला के विद्यार्थियों में अनेक सामान्य श्रेणी के छात्र थे, जो गुरु को शुल्क देने की

---

* रघुवंश—५।२४

† महाभारत—१।१४२।१

‡ मिलिन्दपह्न—१।१७

£ „ —१।१३४।३५

§ Education, therefore, was free in a much wider sense in Ancient India than is ever dreamt possible in modern times—Altekar—Education in Ancient India—P. 81.

सामर्थ्य न रखते थे। ये छात्र दिन में विद्यालय के लिये शारीरिक श्रम किया करते थे। उनकी शिक्षा गुरु के द्वारा रात में सम्पादित होती थी।‡ जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, विद्यार्जन के लिये प्राचीन भारत में शुल्क आवश्यक न था। किन्तु शिक्षण-कार्य कुछ इतना गौरवपूर्ण समझा जाता था कि शिक्षक की तुष्टि के लिये संसार की कोई भी वस्तु मूल्यवा न न थी।

वस्तुतः एक अक्षर का ज्ञान देनेवाले शिक्षक के पारिश्रमिक के लिये भी संसार की कोई वस्तु पर्याप्त न थी।

> एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
> पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्॥*

शिक्षा के महत्त्व तथा शिक्षक के गौरव का इतना उच्च मूल्यांकन भारतीय संस्कृति की विशेषता थी। तभी तो लगभग स्वाश्रयी बनकर भारतीय शिक्षा-पद्धति शताब्दियों तक सैकड़े ८० प्रतिशत लोगों में ज्ञान-रश्मि विकीर्ण करती रही। भारतीय विचारक इस बात के लिये पूर्णतः सचेष्ट थे कि अर्थाभाव के कारण किसी शिक्षक को अपनी वृत्ति न छोड़नी पड़ी, न किसी छात्र को अपना अध्ययन। स्मृतियों के उपरोक्त आदेश इसी उद्देश्य की ओर अभिप्रेत थे।† तभी तो पोष्य-जैसे महाराज को भी एक गुरु की तुष्टि के लिये अपनी प्रेयसी पत्नी के कर्ण-कुण्डल देने में कुछ भी हिचक न हुई।

अनुशासन तथा दण्ड :—

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में आचार तथा अनुशासन की समस्याएँ छात्र के समग्र स्कूली जीवन से अलग न थीं। छात्र का समस्त जीवन कुछ इस ढंग से संचालित रहता था कि आचार तथा अनुशासन-सम्बन्धी शिक्षाएँ उन्हें अनायास ही मिलती रहती

---

‡ तिलमुट्ठि जातक—नं० २५२

* Altekar—Education in Ancient India—P. 82 foot-note.

† Smritis resort to this hyperbolic strain because they were anxious that the teacher, who was prevented from charging regular fees, should be in a position to get adequate living.

Altekar—Education in Ancient India—P. 82.

थीं। आश्रम के सुव्यवस्थित जीवन में दैनिक कार्यक्रम कुछ इस तरह आयोजित रहते थे कि छात्रों के व्यक्तित्व में सदाचार तथा अनुशासन-प्रियता स्वभावत: सन्निविष्ट होती रहती थी। वस्तुत: विद्यार्थी-जीवन ब्रह्म-चर्यवास था, जिसमें छात्र उचित आचार (ब्रह्म) में अभ्यस्त होते थे। मानसिक अध्ययन इस आचार-शिक्षा का ही एक अंग था। इस तरह प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में अनुशासन-संबंधी समस्याएँ आज की तरह न गंभीर थीं, न पेचीली। फिर भी वे सर्वथा अनजानी न थीं। स्मृतिकारों ने ऐसे छात्रों के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था की है, जो किसी भी रूप में अपने निर्धारित कर्तव्यों की अवहेलना करते हों। इन दण्डों के स्वरूप अधिकतर आध्यात्मिक थे; ताकि दोषी छात्र की आत्म-शुद्धि हो सके। उपवास तथा विभिन्न प्रकार के व्रत दण्ड के प्रमुख माध्यम थे, जिनके द्वारा छात्र को अपने दोष का प्रायश्चित्त होता था। स्पष्टत: दण्ड के इस विधान में आत्म-सुधार अभीप्सित रहता था, ताकि छात्र अपने दोषों के लिये उचित आत्म-ग्लानि अनुभूत कर सकें और अपने अन्त:करण की शुद्धि की ओर प्रेरित हो सकें। आधुनिक वाह्यात्मक दण्ड-विधान—उदाहरणार्थ जुर्माना, व्याख्यान की कटौती आदि से ये दण्ड-विधान सर्वथा भिन्न थे। बाह्यात्मक दण्ड-विधान में आत्म-शुद्धि की प्रेरणा प्राय: नहीं मिलती, अपितु ऐसे दण्ड-विधान के द्वारा बहुधा दोष की आवृत्ति की प्रेरणा मिलती है।

अस्तु, प्राचीन शिक्षा-पद्धति में दण्ड-विधान मुख्यत: आध्यात्मिक था। आपस्तम्ब के मत में शिक्षक अपराधी शिष्य को अपने सामने से अलग कर दें अथवा एक उपवास निर्धारित कर दें। स्पष्टत: आपस्तम्ब किसी प्रकार के शारीरिक दण्ड की कल्पना नहीं करते।* मनु भी आपस्तम्ब से अधिकांश सहमत हैं तथा शिक्षक के द्वारा उचित उपदेश तथा समझाव-बुझाव का परामर्श देते हैं। किन्तु यदि सामान्य रीतियों से अपराधी का सुधार न हो सके, तो वे हलके शारीरिक दण्ड की अनुमति देते हैं। ऐसे हठी छात्रों की पीठ पर बेंत की पतली छड़ी अथवा रस्सी से आघात पहुँचाया जा सकता था। किन्तु, यह आघात किसी भी हालत में उसके मर्म-स्थल पर नहीं पड़ना चाहिये था।† गौतम भी इस तरह के

* आपस्तम्ब—१, २, ८, ३०

† मनु—२, १५९–६१

हलके शारीरिक दण्ड की अनुमति देते हैं, किन्तु यह साफ कर देते हैं कि कठिन दण्ड देनेवाले शिक्षक राजा के द्वारा दण्डित हों।

शिष्यशिष्टिरवधेन। अशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्याम्। अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः।*

हलके शारीरिक दण्ड की यह व्यवस्था प्राचीन भारत के शिक्षा-केन्द्रों में प्रचलित दीख पड़ती है। तक्षशिला के एक शिक्षक के द्वारा बनारस का एक राजकुमार इस प्रकार दण्डित हुआ था। इस राजकुमार को चोरी की लत लग गई थी, जिसे वह शिक्षक की अनेक चेष्टाओं के उपरान्त भी त्याग न सका था। उक्त शिक्षक की सम्मति में दण्ड अथवा छड़ी का परित्याग शिक्षक के लिये सम्भव न था।

अरिया अबारियं कुब्बानं यो दंडेन निसेधति
सासनत्थं न तं बेरं इति न पंडिता विदुः।†

विष्णु भी शारीरिक दण्ड के पक्ष में थे तथा समय-समय पर इसका उपयोग आवश्यक मानते थे। श्री अल्तेकर की सम्मति में मनु तथा आपस्तम्ब के आदेशों के अनुसार प्राचीन भारत के शिक्षालयों में हलका शारीरिक दण्ड बहुधा दिया जाता था। § किन्तु यह दण्ड किसी भी रूप में कठोर अथवा अमानुषिक न था। विद्यालय का जीवन सामान्यतः स्निग्ध तथा स्नेहमय रहा करता था। शिक्षक और शिक्षित के सम्बन्ध का आदर्श ही कुछ इतना ऊँचा था कि अनुशासनभंग की सम्भावना ही कम थी। £

---

* गौतम —१, २, ४८, ५३

† तिलमुट्ठि जातक—नं० ५२

§ Altekar—Education in Ancient India—P. 28.

£ The pupil was under a somewhat rigorous discipline, but there was nothing harsh or brutal about it, and a high ideal of moral life and character was held before both pupils and teacher.

Key—Indian Education in Ancient and Later Times —. 24.

पाचवाँ अध्याय

धर्मेतर साहित्य में शिक्षा

गत अध्याय में विशेषतः धार्मिक साहित्य के आधार पर प्राचीन भारत की शिक्षा का सैद्धान्तिक स्वरूप उपस्थित किया गया है। सूत्रकाल अथवा इसी के लगभग कई अन्य प्रकार के साहित्य की सृष्टि हुई, जिनमें भारतीय शिक्षा के व्यावहारिक स्वरूप के कुछ विवरण मिलते हैं। इन विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत की शिक्षा का व्यावहारिक रूप लगभग वही था जो कि सूत्र-ग्रंथों में सिद्धान्त के रूप में निर्धारित था। अतः इस व्यावहारिक स्वरूप का एक पर्यवेक्षण लाभ-प्रद होगा। इस स्वरूप के दर्शन हमें निम्नांकित तीन विशिष्ट रचनाओं में उपलब्ध हैं :—

(१) पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि के व्याकरण-ग्रंथ,

(२) कौटिल्य का अर्थशास्त्र,

(३) रामायण और महाभारत।

इनमें प्रत्येक की शिक्षा-सम्बन्धी बातों का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जाता है।

व्याकरण-साहित्य

सूत्र-साहित्य की अवधि पाणिनि तथा पतंजलि इन दो वैयाकरणों के आविर्भाव के बीच की अवधि कही जा सकती है।* अतः पाणिनि तथा पतंजलि भारत के दो सुप्रसिद्ध वैयाकरणों की रचनाओं में उस काल की शिक्षा-पद्धति की प्रमुख विशेषताओं का परिचय मिलता है। कात्यायान के वार्तिक में भी शिक्षा-सम्बन्धी कुछ सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। इनकी रचनाएँ स्वभावतः तत्कालीन भाषा-साहित्य के स्वरूप पर अवलम्बित थीं और इनके द्वारा हमें इस भाषा-साहित्य के द्वारा अभि-व्यक्त सामाजिक स्थितियों का पूर्ण परिचय भी प्राप्त होता है। इस परिचय

---

† The entire Sutra period may be roughly considered to lie between the time of Panini with whom it begins and the time of Patanjali with whom it ends.

* R. K. Mookerji—P. 230.

से गत अध्याय में उपस्थित किये गये सूत्रकालीन शिक्षा-पद्धति की पर्याप्त पुष्टि होती है ।

पाठ्य विषय--पाणिनि के समय में भारतीय साहित्य का वृत्त बहुत ही विस्तृत हो गया था, जिसमें धार्मिक तथा नैतिक--दोनों ही प्रकार के साहित्य थे । ये साहित्य ४ विभागों में वर्णित हैं:--दृष्टम्, प्रोक्तम्, उपज्ञा और आख्यायिका दृष्टम् साहित्य वह था जो कि देखा गया अथवा स्वतः अनुभूत (revealed)हुआ था । सामवेद की गणना ऐसे ही साहित्य में थी । प्रोक्तम् साहित्य विभिन्न श्रुतियाँ थीं जो कि महर्षियों के द्वारा उच्चरित होती थीं । ब्राह्मण, कल्प तथा छन्द आदि इसमें सम्मिलित थे । भिक्षु-सूत्र तथा नट-सूत्र ये दो रचनाएँ भी इसी श्रेणी में वर्णित हैं । तृतीय श्रेणी के साहित्य वे थे जो कि श्रुति न थे, बल्कि अन्वेषित (discovered) थे । काशिका के अनुसार काशकृत्स्न, आपिशलि आदि विद्वानों के ग्रंथ इसी श्रेणी में थे । चतुर्थ श्रेणी में वे सभी ग्रंथ थे, जो सामान्य लोगों के लिये कथा-कहानी, वर्णन आदि के रूप में लिखे गये थे । वासवदत्त, सुमनोत्तर आदि इसी श्रेणी के ग्रंथ थे । शिशु-कन्द्रीय (बच्चों के रुदन), यम-सभीय(यम की सभा) आदि ग्रंथ भी इसौ श्रेणी में सम्मिलित थे। कात्यायान तथा पंतजलि के समय में उपरोक्त चारों प्रकार के साहित्यों में और भी वृद्धि हुई । अन्य प्रकार के साहित्य भी आविर्भूत हुए । पतंजलि ने जिन वैयाकरणों का उल्लेख किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि के बाद भी अनेक सुप्रसिद्ध वैयाकरण हुए । वार्तिक-साहित्य की भी बड़ी वृद्धि हुई । इस साहित्य के तीन ऐतिहासिक स्तर स्पष्टतया लक्षित थे। श्लोकवार्तिक, परम्परावार्तिक (traditional) तथा विरुद्ध वार्तिक (opposites) । भौतिक साहित्य में कुछ नये ग्रंथ भी लिखे जा चुके थे--जैसे वायस-विधिक, गोलाक्षणिक, अश्वलाक्षणिक । पंतजलि के अनुसार आख्यान ऐतिहासिक पुरुषों के जीवनवृत्त से सम्बन्धित था तथा आख्यायिका कल्पित पात्रों से सम्बन्धित थी ।

जन-शिक्षा :--पतंजलि का युग लोक-साहित्य का युग था, जिसमें अनेक आख्यान, आख्यायिका, इतिहास, पुराण और घरेलू नाटक-नाटिकाएँ आदि रची गयीं ।* रामायण तथा महाभारत के मार्मिक संगीतात्मक पद्य भी काफी प्रचलित हो गये थे । जन-साहित्य के द्वारा जन-शिक्षा को बहुत प्रश्रय

Patanjali's was an age of popular literature.
* R. K. Mookerjee—P. 235.

मिला । पतंजलि की एक वार्ता में वर्णित एक वैयाकरण तथा सूत (रथ-वाहक) के संवाद से जन-शिक्षा के प्रसार का अन्दाज लग सकता है । †
किसी वैयाकरण ने पूछा--"इस रथ का प्रवेता (driver) कौन है ?" सूत ने उत्तर दिया--"श्रीमन् ! मैं ही इसका प्राजिता हूँ ।" वैयाकरण ने कहा--"व्याकरण के अनुसार प्राजिता अशुद्ध है ।" सूत ने उत्तर दिया--"मूर्ख लोग केवल पाणिनि के सूत्र जानते हैं, आचार्यों की इष्टि नहीं" वैयाकरण ने दुरुत (दुर्--वे--त) शब्द के प्रयोग द्वारा सूत का अपमान किया । सूत ने झट प्रत्युत्तर दिया "सूत" 'वे' धातु से उत्पन्न नहीं है, बल्कि 'सू' धातु से जिसका अर्थ होता है 'आगे बढ़ाना' । यदि आप मेरा अपमान ही करना चाहते हैं तो दुःसूत शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, दुरुत का नहीं ।" इस दृ टान्त से स्पष्ट है कि पतंजलि के लगभग जन-शिक्षा इतनी समुन्नत थी कि एक सूत भी शब्दों के शुद्ध स्वरूप के सम्बन्ध में एक वैयाकरण से लोहा ले सकता था ।

शिक्षक तथा छात्र--आचार्य-करण अथवा उपनयन-संस्कार के सम्पादन के बाद ही शिक्षा प्रारम्भ होती थी । पाणिनि के अनुसार आचार्य शिष्य को धार्मिक नियमों के अनुसार आचार्यत्व प्राप्त कराने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होते थे । उपनयन शब्द का यही अर्थ होता है । पतंजलि के अनुसार उपनीत शिष्य 'छात्र' कहा जाता है । इसके दो अर्थ हो सकते हैं । एक के अनुसार शिक्षक अपने शिष्य को समस्त दुर्गुणों से निर्लिप्त रखने के लिये छत्र का कार्य करते हैं । दूसरे के अनुसार शिष्य 'छत्र' के रूप में शिक्षक को धारण करता है । दोनों ही अर्थ में शिक्षक और शिष्य का अत्यन्त सन्निकट सम्बन्ध द्योतित होता है । शिष्य साधारणतया शिक्षक के साथ ही रहा करते थे, किन्तु कुछ छात्र अपने घर से भी शिक्षक के पास विद्याध्ययन के लिये नित्य आया करते थे । छात्रों के प्रमुख वाह्य चिह्न थे दण्ड तथा कमण्डल । भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं के लिये ये छात्र नित्य भिक्षाटन किया करते थे । इस सम्बन्ध में वैदिक परम्परा अपने मूल रूप में चली आ रही थी । अध्ययन तथा अध्यापन की पुरानी रीतियाँ पाणिनि तथा पतंजलि के समय में भी व्यवहृत होती थीं । शुभ मुहूर्त्त में आचार्य पूर्वमुख बैठ जाते थे, उनके हाथ में 'कुश' अथवा "दूर्वादल" रहता

---

† पतंजलि ११।१।५६

‡ पतंजलि ४।४।६२

था। एकाग्रचित्त होकर वे बड़ी सावधानी से पाठ प्रारम्भ करते थे। छात्र भी उसी तरह पवित्र शरीर तथा पवित्र एवं एकाग्र मन के साथ गुरु की उच्चरित वाणी को ग्रहण करते थे। विद्याध्ययन के लिये छात्रों को कठिन परिश्रम करना होता था। कुछ छात्र बड़े ही अध्ययनशील होते थे और अपने समय का अधिकांश भाग स्वाध्याय में ही व्यतीत करते थे। तेल के अभाव में वे बहुधा किसी एकान्त स्थान में गाय के गोबर-गोयठा आदि को जलाकर अग्नि प्रज्वलित करते थे तथा उसी के प्रकाश में रात्रि-अध्ययन किया करते थे।‡ कुछ छात्रों से पर्याप्त परिश्रम न हो सकता था। ऐसे छात्र स्वभावतः अध्ययन स्थगित कर घर वापस लौट जाते थे। कुछ छात्र गुरु के अनुशासन, भय अथवा अन्य किसी कारण से विद्या-समाप्ति के पहले ही घर चले जाते थे। इन छात्रों को "खट्वारूढ़" की निन्दनीय संज्ञा प्राप्त होती थी।£ कुछ छात्र एक शिक्षक के यहाँ से दूसरे के यहाँ बहुत जल्दी आया-जाया करते थे। इनके लिए "तीर्थकाक" का हास्यास्पद नाम प्रचलित था।

शिक्षण-पद्धति—वेदों की शिक्षा प्रधानतः रटन्त थी। पाणिनि के सूत्रों में इसका संकेत मिलता है। "श्रोत्रियश्छन्दोधीते"—श्रोत्रिय वह है जो छन्द अथवा वेद को स्मरण कर जाय। × यह भी पता चलता है कि श्रुतियों के उच्चारण आदि की मौखिक परीक्षा भी संभवतः होती थी। जो विद्यार्थी मंत्रों के उच्चारण में केवल एक त्रुटि करता था, उसे "एकान्विक" कहते थे। त्रुटियों की संख्या के अनुसार अन्य संज्ञाएँ भी छात्रों को प्राप्त होती थीं। इस तरह मौखिक परीक्षा विभिन्न रीतियों से सम्पादित होती थी, ताकि छात्र अपनी उपलब्धियों के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में रखे जायँ।

किन्तु रटन्त पद्धति सभी विषयों के लिये पर्याप्त न हो सकती थी। कई ऐसे विषय प्रचलित हो गये थे, जिनके लिये सूक्ष्म विश्लेषण तथा आलोचनात्मक चिन्तन अपेक्षित था। स्वयं पाणिनि का व्याकरण भी ऐसे ही विषयों में सम्मिलित था। पाणिनि का सूत्र "तदधीते तद् वेद" स्मरण तथा मनन—दोनों प्रक्रियाओं का संकेत करता है।† 'अधीते' स्मरण की प्रक्रिया द्योतित करता है तथा 'वेद' समझने की। 'बालमनोरमा' के अनुसार गुरु के मुख से

---

‡—पतंजलि—१,७२६,२

£—पाणिनि—२,१,२६,

×—पाणिनि—५,२,८४

†—पाणिनि—४,२,२९

उच्चरित शब्दों को अक्षरशः दुहराना स्मरण है तथा श्रुत का अर्थ ग्रहण है। गुरुमुखादक्षरानुपूर्विग्रहणमध्ययनम् शब्दार्थज्ञानं वेदनम् । वस्तुतः अर्थ-ग्रहण अथवा 'समझने' की आवश्यकता वैदिक शिक्षा-पद्धति में पाणिनि के बहुत पहले प्रतिपादित हो चुकी थी। किन्तु व्यवहार में बहुधा रटन्त पर ही अधिक बल दिया जाता था । इस प्रवृत्ति के विरुद्ध यास्क ने अपने निरुक्त १,१८ में 'समझने' की आवश्यकता प्रतिपादित की है । "जो व्यक्ति वेद का उच्चारणमात्र कर सकता है तथा उसका अर्थ नहीं समझता है, वह केवल एक भारवाहक के समान है । किन्तु जो व्यक्ति अर्थ समझता है, वह दुष्कर्मों से बचकर लोक तथा परलोक दोनों में लाभान्वित होता है ।" यास्क का निरुक्त भी वेद-मंत्रों के अर्थों को समझने ही के निमित्त लिखा गया था ।

शिक्षकों के भेद—व्याकरण-साहित्य में शिक्षकों के लिये चार शब्द प्रयुक्त हुए हैं—आचार्य, गुरु, शिक्षक और उपाध्याय । पतंजलि ने आचार्य शब्द का प्रयोग पाणिनि के समान श्रेष्ठतम शिक्षकों तथा आचार्यों के लिये किया है, जो परम विद्वान तथा मौलिक विचारक थे । गुरु, शिक्षक तथा उपाध्याय सामान्य शिक्षकों के लिये प्रयुक्त हुए हैं । पाणिनि ने कुछ ऐसे शिक्षकों के नाम दिये हैं जो अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वान थे । कलाप तथा वैशम्पायन के भाष्य इतने सूक्ष्म होते थे कि इन भाष्यों के आधार पर धार्मिक साहित्य में नये विचार प्रस्तुत हुए । उनके शिष्य इन विचारों के प्रवर्त्तक हुए थे । कात्यायान के वार्तिक में ब्रह्मवादिन् "शब्द" का परिचय मिलता है जो कि धार्मिक विषयों की व्याख्याएँ किया करते थे । पाणिनि-पतंजलि-काल में ऐसे भी अनेक शिक्षक थे जो अपने जीवन के चतुर्थ चरण में संन्यासी के रूप में घूम-घूमकर शिक्षा प्रसार किया करते थे । ये 'परिव्राजक' के नाम से प्रसिद्ध थे तथा इनकी दो श्रेणियाँ थीं——(क) आरण्यक जो कि जनपद से कम-से-कम दो मील दूर रहा करते थे । (ख) नैकटिक जो कि सामान्यतः ग्राम के समीप ही रहा करते थे ।

वैदिक साहित्य में वर्णित कुल, गोत्र, चरण तथा परिषद् आदि शिक्षा-संस्थाओं का उल्लेख व्याकरण-ग्रंथों में भी मिलता है।

सूत्रकाल में धार्मिक तथा सामान्य दोनों ही क्षेत्रों में विशेषीकृत अध्ययन प्रचलित था । वैदिक अध्ययन के लिये विभिन्न शाखाएँ विद्यमान थीं। उदाहरणार्थ, शाकल शाखा में शाकल शाखा के वैदिक रूप का ही अध्ययन होता था। कठ, चरक तथा कलापिन् भी विशेष अध्ययन के लिये प्रसिद्ध विद्यालय थे ।

व्याकरण-ग्रंथों में कुछ विषयों का संकेत मिलता है । 'नाट्य' शब्द के आविर्भाव से नाट्य-विद्या के साहित्य तथा नाट्य-कला का बोध होता है । पतंजलि ने वाद्य-विशेषज्ञों का उल्लेख किया है—, उदाहरणार्थ मार्दंगिक । कथावाचक आदि के लिए प्रयुक्त विशिष्ट शब्द से भी स्पष्ट है कि विशेषीकृत अध्ययन की प्रगति बहुत आगे बढ़ चुकी थी ।

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भी कुछ बहुमूल्य जानकारी व्याकरण-ग्रंथों से प्राप्त होती है । वार्तिक के अनुसार उपाध्यायी और उपाध्याया स्त्री-शिक्षा को ही द्योतित करते हैं ।† उपेत्याधीयते अस्याः असौ उपाध्याया । ‡ बालमनोरमा में पूर्वकालीन विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है, जो कि वैदिक ज्ञान में पंडिता होती थीं—"युगान्तरे ह्यवादिन्यः सन्ति तद्विषयेऽयम् ।" पाणिनि में भी वैदिक शाखा की स्त्रियों का उल्लेख है । £ काठी शब्द से कठ शाखा की छात्राओं का बोध होता है । पतंजलि की 'शाक्तिकी' स्त्री अस्त्रधारिणी (**spear bearers**) को अभिव्यंजित करती है ।§

कौटिल्य अर्थशास्त्र

सूत्र-कालीन शिक्षा-पद्धति का एक संक्षिप्त, किन्तु स्पष्ट परिचय कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है, जिसकी रचना "चन्द्रगुप्त मौर्य के मेधावी तथा राजनीतिज्ञ मंत्री कौटिल्य ने की थी ।" कौटिल्य ने सभी प्रकार के ज्ञान चार विभागों में वर्णित किये हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति । आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत वे दार्शनिक विषय थे जो कि सूक्ष्म चिन्तन तथा अन्तर्मुखी साधना से प्राप्त हुए थे । सांख्य, योग और लोकायत ऐसे ही थे । त्रयी के अन्तर्गत साम, ऋक् तथा यजुष् ये तीन वेद थे । अथर्ववेद तथा इतिहास भी वेद कहे गये हैं । त्रयी ज्ञान में छः वेदांग भी सम्मिलित थे । वार्ता से तात्पर्य है कृषि, पशु-पालन तथा वाणिज्य-व्यवसाय । दण्डनीति शासन-प्रबन्ध के लिये प्रयुक्त हुई है ।

---

† वार्तिक—४।१।४८

‡ पतंजलि—३।

£ पाणिनि—४।१।६३

§ पतंजलि ४।१।१५-६

विद्याध्ययन तीन वर्णों के लिये ब्रह्मचर्य-आश्रम के रूप में अनिवार्य था। ब्रह्मचारी के पूर्वकथित सभी प्रमुख लक्षण अर्थशास्त्र में भी वर्णित हैं। अध्ययन, अग्निहोत्र, संध्या, भिक्षाटन, गु की सेवा आदि वैदिक विद्यार्थियों के मुख्य कर्त्तव्यों की पुष्टि कौटिल्य ने भी की है। अर्थशास्त्र में ये, विद्यार्थियों की वे नैतिक तथा मानसिक अवस्थाएँ वर्णित हैं जिनके अभाव में ज्ञानार्जन असंभव समझा जाता था। छात्र के हृदय में सीखने की उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये, शिक्षक के पाठों को ध्यानपूर्वक ग्रहण करना चाहिये, पाठों के अर्थ को भली-भाँति समझना चाहिये, पाठों को स्मरण रखना चाहिये, उनपर चिन्तन करना चाहिये, आलोचनात्मक मीमांसा करनी चाहिये, सत्य के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिये। ऐसा होने ही से विद्यार्थी गुरु की शिक्षा से लाभ उठा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से छात्रों की प्रारम्भिक शिक्षा के कुछ नये विषयों का परिचय प्राप्त होता है। चूड़ाकरण के पश्चात् छात्रों की प्रारम्भिक शिक्षा प्रारम्भ हो जाती थी। इस शिक्षा में लिपि (लिखना) तथा संख्या (अंकगणित) मुख्य विषय थे। नियमित शिक्षा उपनयन के पश्चात् ही प्रारम्भ होती थी तथा उपर्युक्त तीनों प्रकार के ज्ञान की शिक्षा क्रमानुकूल दी जाती थी। कौटिल्य ने राजकुमारों की शिक्षा-पद्धति का विस्तृत वर्णन किया है।

राजकुमारों को केवल १६ वर्ष की अवस्था तक शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात् उन्हें विवाह कर गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करना पड़ता था। धर्म-सूत्रों के अनुसार क्षत्रियों का उपनयन ११ वर्ष की अवस्था में सम्पादित होता था। इस तरह क्षत्रियों की शिक्षा केवल ६ वर्ष की होती थी। स्पष्टतः इस कम अवधि में कौटिल्य द्वारा वर्णित तीनों प्रकार के ज्ञान की पूरी शिक्षा नहीं ी जा सकती थी। संभवतः क्षत्रियों की शिक्षाएँ वैदिक तथा दार्शनिक विषयों के कुछ आवश्यक तथा प्रमुख अंगों तक ही केन्द्रित रहती होंगी। वार्ता तथा दण्डनीति की शिक्षाएँ राजकुमारों के लिये विशेश महत्त्व रखती थीं। शिक्षा के कार्यक्रम में राजपुत्रों को सर्वप्रथम त्रयी तथा आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सुयोग्य शिक्षकों से धार्मिक शिक्षा ग्रहण करनी होती थी। इसके पश्चात् राज्य के अनुभवी पदाधिकारियों से उन्हें भूमि, पशु-पालन, वाणिज्य आदि की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। तृतीय चरण में उन्हें दण्डनीति की शिक्षा दी जाती थी, जिसके लिये भी शासन- बन्ध के सिद्धान्तों तथा व्यवहारों के पूर्ण पण्डित ही शिक्षक नियुक्त होते थे।

क्षत्रियों की शिक्षा १६ वर्ष में समाप्त हो जाती थी किन्तु विवाह के पश्चात् भी उन्हें गृहस्थ के रूप में अपनी शिक्षा जारी रखनी होती थी। इस शिक्षा के भी दैनिक नियम अर्थशास्त्र में निर्धारित है। पूर्वाह्ण में राजकुमारों को व्यावहारिक सैनिक शिक्षा दी जाती थी। यह शिक्षा सेना के चार विभागों—हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल से ही सम्बन्धित रहती थी। अपराह्ण में उन्हें सुयोग्य विद्वानों से तिहास से सम्बन्धित प्रवचन सुनने पड़ते थे। इतिहास में निम्नलिखित विषय सम्मिलित रहते थे :—

पुराण, तिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र।

इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं से जो समय बच जाता था उसमें अन्य प्रकार के नये-पुराने ज्ञान प्राप्त किये जाते थे। राजकुमारों को परिपक्व विद्या वृद्धि के अनुभवी विद्वानों का साहचर्य भी रखना पड़ता था ताकि इनके संसर्ग से उनकी मानसिक एवं नैतिक समुन्नति हो सके। राजाओं के लिये तो इस कार्य के लिये पुरोहित नियुक्त रहते थे, जो शिक्षक तथा पिता के तुल्य सम्माननीय थे। पुरोहित को भी सब विद्याओं में निपुण रहना चाहिये था ताकि वे राजा के संरक्षक तथा सलाहकार का उत्तरदायित्व भली-भाँति निभा सकें।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र स बात का प्रमाण है कि सूत्रकाल में विशेषीकृत शिक्षा पूर्णतः प्रतिष्ठापित थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की उन सभी प्रमुख शाखाओं का उल्लेख किया है जो उनके बहुत पहले से प्रचलित थीं—मानव, बार्हस्पत्य, पाराशर आदि। भरद्वाज, पराशर, कात्यायन आदि विद्वानों का उल्लेख भी कौटिल्य ने किया है, जो कि अर्थशास्त्र के महान् पण्डित थे।

कौटिल्य ने लिखा है कि प्रातःकाल शय्या से उठने पर राजा का स्वागत धनुर्धारिणी स्त्रियों के द्वारा होना चाहिये। † मेगास्थनीज ने भी अपने वर्णन में चन्द्रगुप्त की शक्तिशालिनी अंगरक्षिकाओं का उल्लेख किया है। "वस्तुतः यवनी स्त्रियों द्वारा राजा के रक्षित होने की प्रथा बाद तक भारत में प्रचलित रही। कालिदास अपने शकुन्तला तथा विक्रमोर्वशीय नाटकों में शार्ङ्गहस्त यवनी का प्रवेश कराते हैं' * इनसे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के समय में स्त्रियों को सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी।

---

† अर्थशास्त्र—१,२१

* भगवतशरण उपाध्याय–प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ—१४

रामायण और महाभारत

भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिये रामायण और महाभारत प्रचुर सामग्रियाँ उपस्थित करते हैं। वस्तुत: महाभारत प्राचीन भारत की सामाजिक स्थितियों का विश्वकोष है। किन्तु कई कारणों से इन महाकाव्यों का महत्त्व शिक्षा के इतिहास के लिये उतना नहीं है, जितना कि इनके परिमाण के विचार से होना चाहिये था। इन कारणों में महाकाव्यों की घटना-प्रधानता तथा क्षत्रिय-जीवन से सम्बन्धित वर्ण्य-विषयों की एकांगिता प्रमुख हैं। फिर भी, प्रासंगिक रूप में शिक्षा-सम्बन्धी जो बातें इनमें उपलब्ध हैं, वे शिक्षा के इतिहास के लिये विशिष्ट स्थान रखती हैं। शिक्षा-सम्बन्धी बातों का ज्ञान महाकाव्यों में हमें मुख्यतया तीन रूपों में प्राप्त है।

क—ब्रह्मचर्य-आश्रमों के वर्णन तथा विवेचन।

ख—कुछ आदर्श छात्रों, विद्यालयों तथा आश्रमों के वर्णन।

ग—क्षत्रिय राजकुमारों की शिक्षा के वर्णन।

इन तीन प्रकार की सामग्रियों के आधार पर महाकाव्यों की शिक्षा का एक संक्षिप्त रेखाचित्र उपस्थित किया जाता है।

तीनों वर्णों के लिये शिक्षा अनिवार्य थी। किन्तु इस शिक्षा का स्वरूप वर्णों के विभिन्न व्यवसायों के अनुसार ही विभिन्न हुआ करता था। इन व्यवसायों तथा कर्त्तव्यों का विवेचन महाभारत (१६,६०) में किया गया है। वैदिक संस्कृति के अध्ययन तथा संरक्षण ब्राह्मणों के प्रधान कर्त्तव्य थे। फलत: ब्राह्मणों के लिये उच्चतम वैदिक शिक्षा की आवश्यकता थी, ताकि वे वेदों का पूर्ण अध्ययन कर सकें तथा शिक्षा के रूप में उनका अध्यापन भी कर सकें। क्षत्रियों का धान कर्त्तव्य क्षात्र-धर्म का निर्वाह था। इसलिए क्षत्रियों की शिक्षा के विषय प्रधानत: युद्ध से ही सम्बन्धित रहते थे। वेद की शिक्षा इनके लिये अपेक्षाकृत सरल तथा संक्षिप्त थी। वैश्यों का प्रधान कर्त्तव्य दान, वेदाध्ययन, यज्ञ तथा अर्थोपार्जन था। फलत: नकी शिक्षा वैदिक विषयों के अतिरिक्त उन विषयों से अधिक सम्बन्धित रहती थी, जो कि अर्थोपार्जन के लिये आवश्यक थे। किन्तु वर्णों का व्यावसायिक विभेद सर्वथा अटूट न था। आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण भी क्षत्रियों अथवा वैश्यों के निर्धारित व्यवसाय में लग सकते थे। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों का यह कर्त्तव्य

था कि वे निराश्रितों की रक्षा के लिये तलवार उठावें। निस्सहाय की सहायता करनेवाले शूद्र भी पूजनीय थे।‡

यद्यपि वैदिक यज्ञ के अधिकारी तीन ही वर्ण के आर्य थे, तथापि शिक्षा का द्वार शूद्रों के लिये बन्द न था। शूद्रों के लिये एक विशिष्ट यज्ञ निर्धारित था, जो कि पाकयज्ञ कहा जाता था। किन्तु साथ ही शूद्र उच्चतम यज्ञ अर्थात् 'श्रद्धा-यज्ञ' के अधिकारी भी थे, जो कि 'मनीषया' अथवा मस्तिष्क के द्वारा सम्पादित होता था।† स्पष्टतः ऐसे यज्ञ का अधिकारी मूर्ख अथवा अशिक्षित नहीं हो सकता था। वस्तुतः प्राचीन भारत का सांस्कृतिक जीवन यज्ञों से अधिकांशतः प्रेरित रहता था। फलतः उच्चतम यज्ञ के अधिकारी शूद्र आर्यों के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक जीवन से निष्कासित न थे। महाभारत के अनुसार वे राज्य के उच्चतम पद पर भी प्रतिष्ठित हो सकते थे। राज्य के मंत्रिमंडल में निम्निलिखित सदस्यों का रहना आवश्यक था। ये सदस्य सभी वर्णों के होते थे।

(१) ब्राह्मण — ४
(२) क्षत्रिय — ८
(३) वैश्य —२१
(४) शूद्र — ३
(५) सूत — ३

इन सभी सदस्यों को ५० वर्ष से अधिक अवस्था का होना चाहिये। स्पष्टतः मंत्रियों के चुनाव का प्रमुख मानदण्ड उनकी योग्यता तथा मानसिक परिपक्वता ही था, न कि वर्ण। समुचित योग्यतावाले शूद्र भी ब्राह्मणों की तरह मंत्रिपद के लिये उपयुक्त थे।* यद्यपि शूद्र वैदिक यज्ञ के अधिकारी न थे, तथापि वैदिक संभाषणों तथा वाद-विवादों को वे भलीभाँति सुन सकते थे। ऐसे धार्मिक व्याख्यानों तथा उपदेशों के अधिकारी चारों वर्ण के लोग थे।

श्रावये चतुरो वर्णान्।

---

‡ महाभारत—१२।७८, ३९–४०

† R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 328.

* Thus the highest post in the administration was thrown open to all the castes and the Sudras did not labour under any disqualification.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education.—P. 329. Footnote.

धार्मिक शिक्षा का विवरण नहीं मिलता है। द्रोण के शिष्यों में अर्जुन सबसे प्रतिभा-सम्पन्न थे। अपनी योग्यता तथा सेवा के द्वारा वे द्रोण के सबसे प्रियपात्र हो गये थे। सभी अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान अर्जुन ने प्राप्त किया था, किन्तु धनुर्विद्या उनका सबसे प्रिय विषय था। रात में भी वे इसका अभ्यास किया करते थे। दुर्योधन तथा भीम गदायुद्ध में निपुण थे, नकुल और सहदेव तलवार चलाने में तथा युधिष्ठिर रथवाहन में।

तीसरी पीढ़ी की शिक्षा स्वयं अर्जुन के द्वारा सम्पादित हुई थी। अभिमन्यु ने अपने पिता से अस्त्र-विद्या की चारो शाखाओं तथा दसो उपशाखाओं का अध्ययन किया था तथा शीघ्र ही वह अपने पिता का समकक्ष हो गया था। वेदों में भी वह निपुण था। अभिमन्यु तथा अन्य पाण्डव-पुत्रों की धार्मिक शिक्षा ऋषि धौम्य के द्वारा सम्पादित हुई थी, जिनसे इन्होंने चूड़ाकरण तथा उपनयन-संस्कार ग्रहण किया था। किन्तु नकी सैनिक शिक्षा अर्जुन के द्वारा ही सम्पादित हुई थी।

महाभारत में क्षत्रियों के पाठ्य विषयों में वेद, धनुर्विद्या, कुलधर्म, हस्ती तथा अश्व-आरोहण, रथ-वाहन, शब्द-विज्ञान, संगीत, कला, कथा-कहानी प्रमुख थे।†

रामायण में भी* राजाओं के पाठ्य विषय में निम्नलिखित विषय थे:—लेख्य (लेखन), लंघन (कूदना-फाँदना), प्लवन (तैरना), संख्या, गंधर्व-विद्या, न्याय, नीतिशास्त्र आदि। महाभारत में इन विद्याओं के अतिरिक्त आयुर्वेद आदि उपेक्षित विषय भी सम्मिलित थे। रामायण तथा महाभारत दोनों ही के अनुसार क्षत्रिय राजकुमारों—उदाहरणार्थ राम और अभिमन्यु-की शिक्षा १६ वर्ष की अवस्था में समाप्त हो जानी चाहिये, ताकि वे इसके बाद प्रौढ़ावस्था में प्रवेश कर सांसारिक कार्यों में लग सकें। किन्तु क्षत्रियों की शिक्षा के विषयों की सूची, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, बड़ी व्यापक है। फलतः विद्वानों का अनुमान है कि क्षत्रिय राजकुमारों की धार्मिक शिक्षाएँ अत्यन्त ही संक्षिप्त होती होंगी। तीन वेदों का सम्यक् ज्ञान केवल राजाओं के लिए ही अनिवार्य था। अतः राजकुमार धार्मिक

---

† महाभारत—१३, १४०,१५, १८९

* रामायण—१, ८०, २७

ग्रंथों के मुख्यांशों से ही परिचय प्राप्त करते होंगे । धर्म-सूत्रों में भी इसका आदेश है कि विद्यार्थी को उन्हीं सूत्रों का अध्ययन करना चाहिये जिन्हें शिक्षक उसके लिए निर्धारित करें । संभवतः क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिये यह अनिवार्य छूट थी (concession) जो कि उनकी व्यावसायिक परिस्थितियों के विचार से आवश्यक थी । नारद ने युधिष्ठिर की योग्यता की जाँच में केवल यह पूछा था कि युधिष्ठिर ने अश्व, हस्ती, रथ तथा धनुर्वेद का अध्ययन किया अथवा नहीं ? होपकिन्स की भी यही धारणा है कि महाकाव्यों के क्षत्रियों की शिक्षा वेद से दूर पड़ गई थी । क्षत्रिय राजकुमार अपना समय सांस्कृतिक अध्ययन में व्यतीत करते थे, न कि धार्मिक अध्ययन में । उनकी यह भी धारणा है कि विराट् पर्व में क्षत्रिय कुमारों का छात्रत्व न्यून तीत होता है और उनकी वैयक्तिक उपलब्धियों में मानसिक भाग ही अधिक है ।*

स्त्री-शिक्षाः—रामायण में शबरी का वर्णन है जो कि संन्यासिनी भिक्षुणी के रूप में उच्चतम आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर रही थी । पम्पापुर उसका आश्रम था तथा उसके गुरु थे ऋषि मतंग। महाभारत में अष्टावक्र का वृद्धा ब्रह्मचारिणी के साथ धार्मिक संवाद वर्णित है । शांडिल्य तथा ऋषि गार्ग्य की पुत्रियाँ भी ब्रह्मचारिणी थीं । राजा जनक के साथ दार्शनिक प्रश्नों पर सुलोमा भिक्षुणी संवाद करती है ।

अयोध्या—महाकाव्य-काल में अयोध्या ब्राह्मण-शिक्षा का सुप्रसिद्ध केन्द्र थी । यहाँ के सभी ब्राह्मण शिक्षित तथा विद्वान् थे । नगर के ब्रह्मचारियों की एक विशिष्ट सभा थी जो "मेखली-महासंघ" के नाम से विख्यात थी । छात्रों की यह सभा सार्वजनिक प्रश्नों पर अपना विचार प्रकट करने के लिये राजा के समक्ष उपस्थित होती दीख पड़ती है । विद्यार्थियों के रहने के लिये उपयुक्त छात्रावास बने हुए थे जो आश्रम तथा आवसथ कहे जाते थे । इन आश्रमों में धार्मिक व्याख्यान तथा वाद-विवाद सुनने के लिये नगरवासी बहुधा जाया करते थे । कई अंशों में आश्रम के ये व्याख्यान तथा उपदेश आधुनिक (etension lectures) के समान थे, जिनसे जनसामान्य लाभ उठाया करते थे । 'वधूसंघ'—नामक स्त्रियों की सभा का परिचय भी मिलता है जो

---

* The line of education was away from the Veda and that what time the princes had was given to culture not to religion.

Hopkins quented by R. K. Mookerji—P. 337.

स्त्रियों के सांस्कृतिक उत्थान में क्रियाशील रहती थी। नागरिकों के 'नाटक-संघ' नगर के समीपस्थ खुले बाग-बगीचों में उत्सवों का आयोजन करता था, जिसमें नृत्य तथा संगीत प्रधान थे। नागरिकों के द्वारा कुछ शिक्षा-संस्थाएँ भी संचालित थीं, जिनकी सारी व्यवस्था नागरिकों के हाथ में ही थी। इन संस्थाओं में विविध प्रकार के छात्र (शिष्यगण) शिक्षा प्राप्त करते तथा व्याख्यान सुना करते थे।

प्रयाग—गंगा, यमुना, तथा सरस्वती के संगम के सन्निकट ऋषि भरद्वाज का आश्रम भी एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था। इस आश्रम की मर्य्यादा बहुत अधिक थी। यहाँ भरद्वाज ने राजा भरत का राजकीय ढंग से सम्मान किया था। राजा के रहने के लिए अनेक तोरणों से सुसज्जित एक प्रासाद खड़ा किया गया था। उनके अनुचरों तथा हाथी, घोड़े आदि के रहने के लिए भी मकान बनाये गये थे। राजा के सम्मान में संगीतज्ञों तथा नर्तकियों के संगीत और नृत्य आदि भी आयोजित किये गये थे। इससे स्पष्ट है कि निकटवर्ती प्रदेशों में ऋषि महाराज का अत्यधिक सम्मान था, जिसके कारण ही वे अल्प-समय में राजा के स्वागत के लिये इतनी सामग्रियों का आयोजन कर सके।

महाभारत में भी अनेक ऋषि-आश्रमों के वर्णन हैं, जहाँ कि सुदूर प्रान्तों से विद्यार्थी आकर विद्याध्ययन करते थे। एक प्रौढ़ तथा परिपूर्ण आश्रम के कई विभाग (department) होते थे। इनमें मुख्य विभाग ये थे—(१) अग्निस्थान, (२) ब्रह्मस्थान (३) विष्णुस्थान—राजनीति, अर्थनीति आदि (४) महेन्द्रस्थान—सैनिक शिक्षा (५) विवस्वत्-स्थान—ज्यौतिष (६) सोमस्थान—उद्भिद्-विज्ञान (७) गरुड़-स्थान—यातायात आदि (८) कार्त्तिकेय-स्थान—सेना का आयोजन तथा संचालन आदि।

नैमिष—(१) नैमिष-वन-प्रान्त में महर्षि शौनक का सुप्रसिद्ध आश्रम अवस्थित था। महर्षि इस आश्रम के कुलपति कहे जाते थे। कुलपति शब्द हजार विद्यार्थियों के आचार्य के लिये ही प्रयुक्त होता था। अतः यह स्पष्ट है कि शौनक के आश्रम में विद्यार्थियों की संख्या काफी अधिक थी। शौनक ने नैमिष में एक द्वादशवर्षीय यज्ञ किया था, जिसमें सभी प्रमुख विद्वान् निमन्त्रित थे। यज्ञ के कार्यक्रमों में एक प्रधान कार्यक्रम था इन विद्वानों का धार्मिक संभाषण तथा वाद-विवाद। यज्ञ की समाप्ति पर सभी विद्वानों ने देश के सभी प्रमुख आश्रमों का भ्रमण भी किया था।

(२) मालिनी के तट पर महर्षि कण्व का सुप्रसिद्ध आश्रम था। इस आश्रम के चारो ओर बहुत-से छोटे-छोटे आश्रम थे, जो कि सम्मिलित रूप

में कण्व के ारा अनुशासित एवं अनुप्राणित रहते थे । समस्त जंगल यज्ञ-शाला की अग्नि से सतत उद्भासित तथा वेद-ध्वनि से मुखरित रहता था । वस्तुतः यह एक विश्वविद्यालय था जहाँ लगभग सभी विषयों के विशेषज्ञ आचार्य वर्त्तमान थे । वेद, दर्शन, न्याय, व्याकरण, स्मृति आदि विषयों के अतिरिक्त ज्यौतिष, द्रव्य-गुण, भूतत्त्व आदि के विशेषज्ञ भी यहाँ थे ।

(३) व्यास मुनि का आश्रम भी सुप्रसिद्ध था । वेद व्यास के कुछ विद्यार्थी सुविख्यात विद्वान् हो गये हैं । सुमन, वैशम्पायन, जैमिनि तथा शुक (व्यास के पुत्र) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

(४) वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के आश्रमों का भी विवरण है । किन्तु उनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है ।

(५) कुरुक्षेत्र के सन्निकट एक आश्रम था जिसमें महाभारत की दो विदुषी नारियाँ ब्रह्मचारिणी बनकर शिक्षा प्राप्त करती थीं, एक थीं ब्राह्मण-पुत्री तथा दूसरी थी क्षत्रिय राजा शांडिल्य की सुपुत्री । ोनों ही ने आध्यात्मिक शिक्षा में ऊँची योग्यता प्राप्त की थी ।

इन आश्रमों के अतिरिक्त राजाओं अथवा ऋषियों के द्वारा विशे प्रकार के यज्ञ आयोजित होते थे । इन यज्ञों में बड़े-बड़े विद्वान् सम्मिलित होकर धार्मिक विषयों पर व्याख्यान देते थे । महाभारत में कुछ ऐसे यज्ञों के विवरण हैं ।

(१) शौनक का यज्ञ—जिसका विवरण ऊपर उपस्थित किया जा चुका है ।

(२) जनमेजय का यज्ञ—इस यज्ञ में हजारों ब्राह्मण सम्मिलित हुए थे । वैशम्पायन के द्वारा महाभारत भी इस यज्ञ में रोज सुनाया जाता था ।

(३) जनक के एक यज्ञ का विवरण महाभारत में भी है । इसी अवसर पर सुप्रसिद्ध विद्वान् अष्टावक्र को द्वार-प्रहरी ने रोक लिया था । अष्टावक्र की योग्यता का परिचय मिल जाने पर ही उसने भीतर प्रवेश करने की अनुमति उन्हें दी । यज्ञ में अष्टावक्र बिजयी हुए थे ।

छात्र—महाकाव्यों में कुछ आदर्श छात्रों के विवरण हैं, जो अपने आध्यात्मिक तथा अन्य छात्रोचित गुणों के लिये विख्यात थे । तक्षशिला के ऋषि धौम्य के तीन शिष्य थे—उपमन्यु, आरुणि, तथा वेद । आरुणि की गुरु-भक्ति की कथा इतिहास- सिद्ध है । वेद के शिष्य उत्तंक ने गुरु-दक्षिणा के लिये नाना कष्ट झेले थे । कच ने गुरु-शिष्य की मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिये गुरु-पुत्री देवयानी का पाणिग्रहण अस्वीकार कर दिया था ।

छठा अध्याय

बौद्ध-शिक्षा

सामान्य परिचय

बौद्ध-धर्म—

बौद्ध-शिक्षा के विवेचन के पहले बौद्ध धर्म की उत्पत्ति तथा उसके आधार-भूत सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त परिचय लाभप्रद होगा। विद्वानों के मत में "बौद्ध-धर्म नया धर्म नहीं, अपितु, हिन्दुधर्म का ही एक परिवर्तित रूप है।* बौद्ध धर्म भारतीय मस्तिष्क का आकस्मिक अन्वेषण नहीं; बल्कि उसका स्वाभाविक विकास था; जो कि धार्मिक, दार्शनिक सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में अभिव्यक्त हुआ।"† हौपकिन्स के स्पष्ट शब्दों में बौद्ध धर्म के अधिष्ठाता ने "न कोई नयी नैतिक पद्धति निकाली, न वे जनवादी थे, न उन्होंने ब्राह्मण पुरोहितों को पदच्युत करने का षड्यन्त्र रचा और न उन्होंने भिक्षु वर्ग को ही आविष्कृत किया।"‡ महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के पहले से ही भारतीय अध्यात्म बौद्ध धर्म की ओर मुड़ता जा रहा था। याज्ञिक कर्मकाण्ड की उपादेयता के प्रति जिज्ञासुओं का सन्देह

---

* It was no freak in the evolution of Indian thought, Buddha did not completely break away from the spiritual ideals of his age and country.

Radha Kishnan—Indian Philosophy—Vol. I P. 360.

It was not a new religion, but a new revelation, which a great teacher was preaching.

Panikkar—Survey of Indian History—P. 25.

† Buddhism has always seemed to me not a new religion, but a natural development of the Indian mind in its various manifestations, religious, philosophical social and political.

Maxmuller—Chips from a German workshop—1,434.

‡ The founder of Buddhism did not strike out a new system of morals, he was not a democrat, he did not originate a plot to overthrow the Brahman priesthood, he did not originate the order of the monks."

Hopkins—Religions of India.—P. 298.

उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था । औपनिषदिक शिक्षा के प्रसंग में कहा चुका है कि उपनिषदों का आविर्भाव उन जिज्ञासुओं के आध्यात्मिक चिन्तन का प्रतिफल है, जिन्हें वैदिक कर्मकाण्ड से तुष्टि न मिल सकी थी । औपनिषदिक अध्यात्म ने सृष्टि-मूलक अन्तिम तत्त्व ब्रह्म का निरूपण किया, जो कि सबसे परे रहकर भी सबमें व्याप्त है । जीव का कल्याण तभी हो सकता है जबकि वह अपने स्वत्व को ब्रह्म में अन्तर्भूत करने में समर्थ हो जाय, ब्रह्म की उपलब्धि वाह्यात्मक विधि-विधान से संभव नहीं, अपितु आत्मा के अनुशीलन तथा संवर्द्धन से ही संभव है । आत्मा ही वह सार तत्त्व है, जिसकी समृद्धि या पुष्टि से ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है । इस सार तत्त्व के अतिरिक्त, सभी सांसारिक वस्तुएँ निस्सार अथवा क्षण-भंगुर हैं। आध्यात्मिक चिन्तन की इस प्रणाली में जगत की निस्सारता स्वभावतः निहित थी । फलस्वरूप, भारतीय अध्यात्म में उस "नैराश्यवाद" की भावना प्रादुर्भूत हुई जो कि अन्ततः बौद्ध धर्म के अधिष्ठान की प्रमुख आधारशिला बनी ।† यज्ञों की उपादेयता के अतिरिक्त उपनिषदों ने 'तपस्' की उपादेयता के प्रति भी शंका प्रकट की और आत्मज्ञान के द्वारा ब्रह्म तथा आत्मा के एकीकरण का मार्ग प्रदर्शित किया ।‡ किन्तु उपनिषदों का आत्मज्ञान थोड़े से ऋषियों एवं ज्ञानियों के लिये ही सुलभ था । जन-सामान्य के लिए उपनिषदों ने कोई सरल मार्ग प्रदर्शित नहीं किया । बुद्ध ने इसी अभाव की पूर्ति की ।

"तात्त्विक प्रश्नों का विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से व्यर्थ समझ कर बुद्ध ने दुःख, दुःख के कारण, दुःख निरोध तथा दुःख-निरोध-मार्ग आदि विषयों पर ही प्रकाश डाला । उनके विचार में इसी प्रकार के विवेचन से लाभ हो सकता है । इसी का धर्म के मूल सिद्धान्तों से सम्बन्ध है । इसी से अनासक्ति, तृष्णाओं के नाश, दुःखों का अन्त, मानसिक शान्ति, ज्ञान, प्रज्ञा तथा निर्वाण सम्भव हो सकते हैं ।" *

महात्मा बुद्ध के ज्ञान का सार उनके चार आर्य-सत्यों में निहित हैं ।§ ये चार आर्य-सत्य हैं :—

---

† Altekar—Education in Ancient India—P. 227.

‡ बृहदारण्यक उप०—३।८।१०

* मज्झिम निकाय सुत्त—६३

§ भारतीय दर्शन-चैटर्जी और दत्त पृष्ठ—१२५

(१) जीवन दुःखमय है ।
(२) दुःख के कारण हैं ।
(३) दुःखों का अन्त सम्भव है ।
(४) दुःखों के अन्त के मार्ग हैं ।

इन्हीं चार आर्य-सत्यों का उपदेश बुद्ध ने जन-सामान्य को दिया । उनके अन्य उपदेश इन्हीं आर्य-सत्यों से प्रादुर्भूत हैं ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपर्युक्त प्रथम आर्य-सत्य बौद्ध धर्म के अधिष्ठान की प्रमुख आधार शिला था । बुद्ध ने सांसारिक जीवन को सर्वथा दुःखमय माना है । राग, जरा तथा मरण के दुःखों को देखकर ही सिद्धार्थ ने गृह-परित्याग किया था । बुद्ध होने पर उन्होंने मानव तथा मानवेतर जीवन को दुःखों से परिपूर्ण माना । हम देख चुके हैं कि भारतीय दर्शन में "नैराश्यवाद" की भावना का प्रतिष्ठापन उपनिषदों में ही हो चुका था । बुद्ध ने इस भावना को और भी तीव्र रूप में अंगीकार किया और अपने समस्त चिन्तन को इसी केन्द्रस्थ आर्यसत्य पर पल्लवित किया । दूसरे आर्य सत्य—दुःख का कारण है—के सम्बन्ध में बुद्ध ने उपदेशों में द्वादश-निदान अथवा भाव-चक्र का निर्देश किया । द्वादश-निदान अथवा भावचक्र एक श्रृंखला है, जिसमें बारह कड़ियां हैं । कड़ियों का क्रम यह है:—

"(१) दुःख का कारण (२) जाति है । जाति का कारण (३) भव है । भव का कारण (४) उपादान है । उपादान का कारण (५) तृष्णा है । तृष्णा का कारण (६) वेदना है । वेदना का कारण (७) स्पर्श है । स्पर्श का कारण (८) षड़ायन है । षड़ायन का कारण (९) नाम-रूप है । नाम रूप का कारण (१०) विज्ञान है । विज्ञान का कारण (११) संस्कार है तथा संस्कार का कारण (१२) अविद्या है ।"†

द्वादश निदान की उपर्युक्त कड़ियों से यह स्पष्ट है कि जीवन के दुःखों का मूल कारण अविद्या है । अविद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान के अभाव से ही जीव ऐसे कर्मों की ओर आकृष्ट रहता है जो उसे जीवन मरण की श्रृंखला से आबद्ध रखते हैं । हम देख चुके हैं कि औपनिषदिक तत्त्व-ज्ञान में भी अविद्या अथवा मिथ्या ज्ञान ही जीव के समस्त दुःखों का कारण मानी गयी है । बुद्ध ने भी यथार्थ ज्ञान के अभाव को जीवन-मरण का मूल कारण माना । भव अथवा जन्म लेने की प्रवृत्ति के कारण जन्म-ग्रहण होता है ।

---

† भारतीय दर्शन चटर्जी और दत्त पृष्ठ—१२८

यह प्रवृत्ति (संस्कार) अविद्या के कारण उत्पन्न होती है । इस अविद्या का विनाश ही मानव कर्त्तव्यों का लक्ष्य होना चाहिये ।

तृतीय आर्य-सत्य है—"दु:ख का अन्त या दु:ख-निरोध या निर्वाण है" । निर्वाण का शाब्दिक अर्थ 'बुझा हुआ' होता है। सम्भवत: सीलिए बहुधा निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त समझा जाता है । किन्तु निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त नहीं । इसका यथार्थ अर्थ दु:खों का विनाश अथवा अन्त है । यदि निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त होता तो जीवन में ही बुद्ध के निर्वाण-प्राप्ति की बात मिथ्या हो जाती। किन्तु स्वयं बुद्ध के वचन इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने जीवन में ही निर्वाण की प्राप्ति की थी । अत: बौद्ध-मत में, निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त नहीं; निर्वाण का अर्थ दु:खों का अन्त अथवा विनाश है । "निर्वाण राग-द्वेष तथा तज्जन्य दु:खों के नाश की अवस्था है" । निर्वाण के लिए मृत्यु आवश्यक नहीं, निर्वाण की प्राप्ति जीवन काल में भी सम्भव है । "राग-द्वेषों पर विजय पाकर, आर्य सत्यों का निरन्तर ध्यान करते हुए यदि कोई समाधि के द्वारा प्रज्ञा प्राप्त कर लेता है, तो फिर उसे सांसारिक विषयों के लिए जरा भी आसक्ति नहीं रह जाती । वह मानों संसारिक बन्धनों को तोड़ लेता है । इस तरह वह सर्वथा मुक्त हो जाता है ।* वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है । मोक्ष ही निर्वाण है ।

चतुर्थ आर्य सत्य दु:ख निरोधी मार्ग है । "जिन कारणों के द्वारा दु:खों की उत्पत्ति होती है, उनको नाश करने का उपाय ही" दु:ख-निरोधी अथवा निर्वाण मार्ग है । बौद्ध धर्म में यह मार्ग अष्टाङ्ग मार्ग † के नाम से विख्यात है । यह मार्ग गृहस्थ और संन्यासी दोनों ही के लिए सुलभ है । इस मार्ग के निम्नलिखित आठ अंग है ।

(१) सम्यक्-दृष्टि—(सम्मादिट्ठि)
(२) सम्यक्-संकल्प—(सम्मा-संकल्प)
(३) सम्यक्-वाक्—(सम्मा-वाचा)
(४) सम्यक्-कर्मान्त—(सम्मा-कमन्त)

---

* भारतीय दर्शन—चटर्जी और दत्त—पृष्ठ—१३०

† दीघ-निकाय-सुत्त—२२
तथा
मज्झिम निकाय

(५) सम्यक्-आजीव—(सम्मा-आजीव)
(६) सम्यक्-व्यायाम—(सम्मा-व्यायाम)
(७) सम्यक्-स्मृति—(सम्मा-सति)
(८) सम्यक्-समाधि—(सम्मा-समाधि)

आष्टाङ्गिक मार्ग के तीन अंग हैं:—प्रज्ञा, शील और समाधि । प्रज्ञा और सदाचार में गहरा सम्बन्ध है । यथार्थ ज्ञान के बिना सदाचार सम्भव नहीं । जिस तरह सौन्द स्वास्थ्य पर आश्रित है, उसी तरह सदाचार भी ज्ञान पर आश्रित है ।* साथ ही पूर्ण ज्ञान अथवा प्रज्ञा के लिए सदाचार तथा समाधि आवश्यक है । "अखंड समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है और जीवन का रहस्य स्पष्ट हो जाता है । अविद्या और तृष्णा का मूलोच्छेद हो जाता है, जिससे सुख दुःख का मूलकारण ही नष्ट हो जाता है ।"†

स तरह जीवन के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए बुद्ध ने जन-सामान्य के लिए एक ऐसा मार्ग प्रदर्शित किया, जिसमें न अधिक कष्ट था, न अधिक भोग । यह मार्ग संन्यासियों तथा गृहस्थ होनों ही के लिए सुलभ था । सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक्-वाक् आदि के अनुसरण से सामान्य मनुष्य भी आवागमन से रहित होकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है—ऐसा था बुद्ध का उपदेश ।

बौद्ध-मत के उपर्युक्त सामान्य विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस मत की दार्शनिक मान्यताएँ हिन्दुधर्म की मान्यताओं से विभिन्न न थीं । आत्मा, आवागमन, मोक्ष आदि मान्यताएँ हिन्तुधर्म में भी प्रतिप्ठापित थे ।‡ बौद्ध धर्म में ये ही मान्य ाएँ एक सरल पद्धति समन्वित होकर जनधर्म के रूप में कट हुई । आवागमन के कुचक्र से मुक्त होने पर ही जीव का कल्याण हो सकता है । किन्तु मुक्ति के साधन दिक यज्ञ न थे, न औपनिषदिक आत्मज्ञान, बल्कि काम अथवा तृष्णा के विनाश से ही जीव मोक्ष प्राप्त कर

---

* Rhys Davids—Dialogues......1—P. 137.

† भारतीय दर्शन चटर्जी और दत्त पृष्ठ—१४०

‡ There was not much in the metaphysics of Gautama which can not be found in one or other of the Orthodox systems.

Mrs. Rhys Davids quoted in Nehru's Discovery of India—P. 149.

सकता था। काम अथवा तृष्णा ही आवागमन की शृंखला को सबल बनाये रखती थी। हम देख चुके हैं कि यह तृष्णा अन्ततः अविद्या से प्रादुर्भूत होती है, जो कि जन्म-धारण के संस्कार उत्पन्न करती है। मोक्ष के जिज्ञासु को आष्टांगिक मार्ग के अवलंबन के द्वारा अविद्या और तृष्णा का विनाश करना था, जिससे उसके आवागमन की शृंखला विच्छिन्न हो जाय और उसे निर्वाण अथवा परम शान्ति उपलब्ध हो सके।*

सैद्धांतिक क्षेत्र में जिस तरह बौद्ध मान्यताएँ हिन्दु-मान्यताओं की ही एक स्वरूप थीं, उसी तरह व्यावहारिक क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म की अधिकांश रीतियाँ हिन्दु धर्म की रीति-नीतियों से ही संबंधित थीं। हिन्दु धर्म के प्रचलित पद्धतियों के संशोधन, विरोध अथवा पुष्टि की क्रिया में ही बौद्ध धर्म के व्यावहारिक नियम विकसित हुए।† उदाहरणार्थ,

(१) वैदिक यज्ञ न केवल व्यर्थ हैं, किन्तु इनमें जीव-हिंसा तथा आर्थिक अपव्यय होते हैं। अतः ये वर्जित हों।

(२) वैदिक वाक्य ईश्वरीय वाक्य नहीं; अतः इनके रटने में समय और श्रम व्यर्थ हैं।

(३) यदि देवताओं की पूजा से निर्वाण-प्राप्त नहीं हो सकता, तो उनकी पूजा व्यर्थ है। ऐसी पूजा बन्द कर दी जाय।

(४) यदि कठोर तपस्या से मुक्ति उपलब्ध नहीं हो सकती, तो ऐसी तपस्या निष्फल है। अतः यह बन्द कर दी जाय अथवा इसकी कठोरता कम कर दी जाय।

(५) यदि संसार के परित्याग से निर्वाण सुलभ हो सकता है, तो संसार का त्याग अवश्य किया जाय।

अस्तु, सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों ही रूपों में बौद्ध धर्म हिन्दुधर्म का एक परिवर्तित स्वरूप था। वस्तुतः बौद्ध समाज हिन्दु-समाज का निषेधक नहीं, बल्कि परिपोषक के रूप में ही आविर्भूत हुआ।‡ औपनिषदिक आत्म-

* Panikkar—Survey of Indian History—P. 25.

† R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 392.

‡ Buddhist society, as we know it from the sacred writings of the Buddhists, is far more the fulfilment than the denial of the ancient schemes and dreams of the Brahmanic law-giver.
Maxmuller quoted in R. K. Mookerji—P. 376.

Buddhism we might say is a return of Brahmanism to its own fundamental principles.

Radha Krishnan—Indian Philosophy Vol. I. P. 470.

ज्ञान को जनसामान्य में प्रचारित करना ही महात्मा बुद्ध के जीवन का लक्ष्य (mission) था ।* बुद्ध को नवीनता तथ्य-निर्धारण में नहीं, अपितु प्रचलित तथ्यों के संयोजन, संवर्द्धन तथा सामान्यीकरण में थी ।† उनके दयार्द्र तथा स्नेहाभिभूत व्यक्तित्व ने जन-सामान्य के बीच भारतीय अध्यात्म की गंगा प्रवाहित कर दी, जो अबतक एकान्त पर्वतीय प्रदेशों में अवगुण्ठित थी । बौद्धधर्म एक नया प्रकाश नहीं, अपितु एक नया आलोक था, जिससे समस्त जगत् उद्भासित हो उठा । आधुनिक शब्दों में, बौद्धधर्म औपनिषदिक अध्यात्म का जनतंत्रात्मक रूप था ।‡ मोक्ष की प्राप्ति ज्ञानियों अथवा योगियों की ही वस्तु न रह गई; बल्कि यह जनसामान्य की वस्तु भी हो गई, जिसे हर कोई आष्टांगिक मार्ग के अनुसरण से प्राप्त कर सकता था । जरा-मरण से संतप्त, शोकाकुल तथा प्रपीड़ित मानवता को भगवान बुद्ध की सबसे बड़ी देन यही थी ।

बौद्ध-शिक्षापद्धति तथा ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति

समानता

बौद्ध-शिक्षापद्धति भी अनिवार्यतः ब्राह्मण अथवा हिन्दू-शिक्षा-पद्धति से पूर्णतः प्रभावित थी । बौद्ध-शिक्षा-पद्धति के प्रमुख शिलाधार वे ही थे, जो कि ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति के थे । बौद्ध-संघ तथा बौद्ध भिक्खु दोनों ही ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति में भी अपने मूल रूप में विद्यमान थे । संघ का मूल रूप वानप्रस्थों तथा संन्यासियों का वह समुदाय था, जोकि गृह-वातावरण से सर्वथा

* It was Buddha's mission to accept the idealism of the Upanishads at its best, and make it available for the daily needs of mankind.

Radhakrishnan—Indian Philosophy—P. 42.

† Such originality as Gautama possessed lay in the way in which he adapted, enlarged, ennobled, and systematised that which had been well said by others......The difference between him and other teachers lay in his deep earnestness and in his broad public spirit of philanthropy.

Mrs. Rhys Davids.

See Nehru—Discovery of India. P. 149.

‡ Buddhism helped to democratise the philosophy of the Upanishads, which was till then confined to a select few.

Radhakrishnan—Indian Philosophy, P. 471

विच्छिन्न रहकर मोक्ष की प्राप्ति में संलग्न रहता था। बोद्ध भिक्खुओं का पूर्व प ब्राह्मण ब्रह्मचारियों का वह समुदाय था, जो आजीवन ब्रह्मचारी रहकर अपना जीवन ज्ञानार्जन में उत्सर्ग कर देता था। इन ब्रह्मचारियों को 'नैष्ठिक' कहा जाता था। बौद्ध भिक्खुओं का दैनिक जीवन लगभग उसी तरह संचालित रहता था, जिस तरह ब्राह्मण ब्रह्मचारियों का। वस्तुतः भिक्खु शब्द वैदिक ब्रह्मचारी के एक प्रमुख कर्तव्य को द्योतित करता है, जिसके अनुसार उन्हें नित्य भिक्षाटन करना होता था। बोद्ध भिक्खुओं के सभी आचार-विचार—उठना-बैठना, खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, कहना-सुनना आदि—वैदिक ब्रह्मचारियों के संशोधित रूप थे। ब्रह्मचारियों के लिये भी हिंसा के विरुद्ध वैसे ही कठोर नियम थे, जैसे कि भिक्खुओं के लिये थे। जुते हुए खेत तथा नव-अंकुरित पौधों से होकर उन्हें चलने की अनुमति न थी; ताकि वे हिंसा से वंचित रहें। इसी कारण से परिब्राजकों के लिये वर्षाऋतु में घूमना-फिरना मना था। इस ऋतु में उन्हें 'वर्षावास' (rain-retreat) में ही विश्राम करना पड़ता था। ब्रह्मचारियों के आचार-विचार से संबद्ध लगभग सभी नियम, बौद्ध भिक्खुओं के लिये भी निर्धारित थे। 'विनय' में दतवन, स्नान, वस्त्र, भोजन आदि समस्त दैनिक व्यापारों के संबंध में विस्तृत नियम दिये गये हैं।

विभिन्नता

किन्तु इन समानताओं के साथ-ही-साथ बौद्ध-शिक्षा-पद्धति ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति से कई रूपों में विभिन्न थी। ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति प्रधानतः घरेलू थी। गुरु के आदर्श गृह-वातावरण में ही शिष्य की वैदिक शिक्षा होती थी। शिष्य के गृह-वातारण के सभी उपकरण उसके विद्यालय में विद्यमान रहते थे। वस्तुतः गुरु उसके आध्यात्मिक पिता थे जिनके द्वारा उनका आध्यात्मिक जन्म होता था। गुरु-पत्नी तथा गुरु के परिवार के लोग उसके लिए माता, तथा भाई-बहनों के रूप में ही ग्राह्य थे। अतः गुरु का घर अथवा आश्रम शिष्य का घर ही था, जहाँ वह गु के पुत्र के रूप में शिक्षा-ग्रहण करता था। इस तरह ाह्मण-शिक्षा-पद्धति में गृह-वातावरण सतत प्रस्तुत रहता था। फलतः ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति सर्वदा वैयक्तिक रही।

---

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 393.

† महावग्ग—१.२५

बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में गृह-उपकरण का सर्वथा निष्कासन था। वस्तुतः बौद्ध-संघ में शिक्षा का प्रारम्भ ही गृह-सूत्र के विनाश के साथ होता था।* संघ के नव-भिक्षु अपने गृह-वातावरण को छोड़कर अपने को बौद्ध-धर्म तथा संघ में समर्पित कर देते थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनके व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध सभी बातें संघ के तत्त्वावधान में संचालित रहती थीं। फलतः बौद्ध-शिक्षा भी सघ के समुदाय के द्वारा आयोजित, संचालित तथा नियन्त्रित रहती थी। बौद्ध-विद्यालय ब्राह्मण-विद्यालय की तरह वैयक्तिक गुरु-कुल न थे, बल्कि एक सस्था थे जो सघ के नियमों के द्वारा प्रचालित रहते थे। स्पष्टतः बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति की वैयक्तिक विशेषताएँ सुरक्षित न रह सकीं और बौद्ध-विद्यालय बहुलांश में यान्त्रिक तथा भौतिक सस्थाएँ हो गई। इस यन्त्रीकरण का प्रभाव बौद्ध-शिक्षा पर अन्ततः प्रतिकूल पड़े बिना न रहा। कालान्तर में बौद्ध-सघ भिक्षुओं की संस्थामात्र न रही, जहाँ वे भिक्षाटन के द्वारा किसी प्रकार उदर-पूर्ति कर निर्वाण की मंजिलें तय करते थे, बल्कि ये संघ सुख तथा आराम के भव्य भवन बन गये, जहाँ चिन्तारहित होकर बौद्ध भिक्षु सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते थे। इस भौतिक समृद्धि के कारण बौद्ध-सघ धर्म तथा विद्या के केन्द्र न रहे, बल्कि इनमें समाज के निकम्मे तथा बेकार भरने लगे।† सघ के निषेधक नियमों के बावजूद भी चोर-डकैत तथा अन्य अपराधी भी संघ में स्वीकृत किये जाने लगे। बेरोजगारी तथा काम से जी चुरानेवालों के लिए संघ का द्वार सतत खुला था।‡ उपालि के माता-पिता ने उपालि के लिये संघ-जीवन ही सबसे आरामप्रद समझा।§

बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में शिक्षक-शिक्षित का सम्बन्ध सुरक्षित न रह सका। संघ की दृष्टि में सभी भिक्षुओं का निजी महत्त्व था और संघ के सामूहिक

---

* In fact Buddhist education begins with the destruction of domestic ties as the starting point—

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 460.

† It gradually ceased in great measure to be the school of virtue and the most favourable sphere of intellectual progress, and became thronged with the useless and the idle Rhys Davids—Buddhism—P. 153.

‡ Maxmuller—Chips from a German workshop—Vol.. I. P. 442.

§ महावग्ग—१।४९

प्रस्तावों में सभी को मतदान का समान अधिकार प्राप्त था। संघ के सम्मान तथा सुविधाओं के निर्णय तथा वितरण में भिक्षुओं की श्रेणी तथा अवस्था पर विचार अवश्य होता था; परन्तु संघ के सदस्य के रूप में सभी भिक्षु लगभग बराबर थे। संघ के इस जनतन्त्रात्मक पद्धति में सुव्यवस्था तथा अनुशासन स्वभावतः सदस्यों के पारस्परिक सहानूभूति तथा सहयोग पर अवलम्बित था। बौद्ध-संघ के विकास-क्रम में संघ की आन्तरिक एकरूपता विनष्ट होने लगी और फूट तथा मत-मतान्तर आविर्भूत होने लगे। किसी संयोजक केन्द्रीय शक्ति के अभाव में संघ का संघटन विशृंखल होने लगा और अन्ततः यह भारत में पूर्ण दुरवस्था को प्राप्त हुआ।*

बौद्ध-विद्यालयों के पाठ्य-विषय प्रारम्भ में ब्राह्मण-विद्यालयों से सर्वथा भिन्न थे। इन विद्यालयों में वेदों का अध्ययन बहिष्कृत था। बौद्ध-विद्यालयों के शिक्षक भी अनिवार्यतः ब्राह्मण न थे। हाँ, बौद्ध-ब्राह्मण शिक्षण-कार्य के लिए उपयुक्त हो सकते थे। चूँकि संघ का द्वार सभी प्रकार के लोगों के लिए खुला था, बौद्ध-शिक्षा भी सभी लोगों के लिए समान रूप से उपलब्ध थी। व्यवहारतः बौद्ध-धर्म के प्राथमिक समर्थकों तथा अनुयायियों में उच्च वर्णों की ही प्रधानता थी, किंतु सिद्धान्ततः बौद्ध-संघ निम्न वर्णों की ओर से किसी प्रकार से उदासीन नहीं रह सकता था। फलतः बौद्ध-शिक्षा ब्राह्मण-शिक्षा की भाँति किसी भी रूप में वर्गीय नहीं कही जा सकती थी।†

---

* Oldenberg—Buddha—Ps. 337—345.

† Keay—Indian Education in Ancient and Later Times—P. 85

सातवाँ अध्याय

बौद्ध-शिक्षा का प्रारम्भिक रूप

बौद्ध-धर्म का स्फुरण बौद्ध-संघ में ही हुआ। फलतः बौद्ध-शिक्षा-पद्धति बौद्ध-संघ से ही सम्बद्ध थी। इस संघ के अतिरिक्त बौद्ध शिक्षा-पद्धति का कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था। धार्मिक एवं सांसारिक—दोनों तरह की शिक्षाएँ संघों में ही प्रदान की जाती थीं। बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में संघ के श्रमणों के अतिरिक्त अन्य किसी को शिक्षा प्रदान करने का अधिकार नहीं था। वैदिक शिक्षा भी प्रधानतः यज्ञ से सम्बद्ध थी। यज्ञ के अनुष्ठान के सम्बन्ध में ही वैदिक शिक्षा-पद्धति विकसित हुई। बौद्ध-काल में यज्ञ का स्थान संघ ने ग्रहण किया और बौद्ध-सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र संघ ही बना रहा। फलतः बौद्ध-शिक्षा-पद्धति की रीति-नीतियाँ वस्तुतः बौद्ध-संघ की रीति-नीतियाँ हैं। ये रीति-नीतियाँ भगवान बुद्ध के द्वारा आविष्कृत न की गयी थीं, बल्कि हिन्दू-धर्म तथा सन्यासियों के विभिन्न श्रेणियों के नियमों से संगृहीत तथा सम्पादित थीं। इसलिए बौद्ध-संघ के प्रायः सभी नियम वैदिक नियमों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं।

संघ-प्रवेशः—बौद्ध-संघ में प्रवेश करने के नियम अधिकांशतः उन नियमों पर आधारित थे, जिनके द्वारा वैदिक ब्रह्मचारी वैदिक गुरुकुलों में प्रविष्ट होते थे। वैदिक विद्यार्थियों की तरह बौद्ध भिक्षुओं को भी गुरु के समक्ष उपस्थित होकर उनके शिष्यत्व की प्रार्थना करनी होती थी। स्वयं बोधिसत्त्व उद्दक से ब्रह्मचर्यवास की प्रार्थना करते कहे गये हैं। बुद्ध के रूप में उन्होंने भिक्षुओं को उनके दुःख से निवारणार्थ ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकृत किया था।

इस तरह गुरु और शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में भी अक्षुण्ण रहा। बौद्ध भिक्षु शिक्षा के सम्बन्ध में गुरु का शिष्य था, न कि संघ का भिक्षु। "संघ को उपाध्याय मानकर कोई भिक्षु उपसम्पदा ग्रहण न करें"—ऐसा था बुद्ध का आदेश।* भिक्षु छात्र का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसके गुरु "उपाध्याय" पर था, न कि संघ पर।

---

* महावग्ग—१, ६९

पब्बज्जा (प्रव्रज्या)—बौद्ध-संघ में प्रविष्ट होने की प्रणाली 'पब्बज्जा' कही जाती थी। पब्बज्जा (प्रव्रज्या) का शाब्दिक अर्थ "बाहर जाना" होता है। इस प्रथा के द्वारा भावी भिक्षु अपने गृह-वातावरण से सर्वथा अलग होकर (बाहर होकर) संघ में प्रवेश करता था। पब्बज्जा का द्वार सभी लोगों के लिए समान रूप से खुला हुआ था। चारों वर्णों की सरिताएँ संघ-समुद्र में विलीन होकर एक हो जाती थीं। न उनका पहला वर्ण रहता था, न पहला चरित्र, न पहला कपड़ा। निम्न जाति के बौद्ध भिक्षुओं में उपालि नाई तथा एक चिड़ीमार का विवरण बौद्ध-ग्रंथों में मिलता है।† सैद्धान्तिक रूप से संघ का द्वार सभी श्रेणियों के लिए खुला रहने पर भी व्यावहारिक रूप में साधारणतया उच्च श्रेणी के लोग ही संघ में प्रविष्ट होते थे।‡ पब्बज्जा ग्रहण करने की निर्धारित अवस्था ८ वर्ष की थी। पब्बज्जा के सम्पादन के उपरान्त शिक्षा की अवधि १२ वर्ष की होती थी, जिसमें नवीन भिक्षु संघ के जीवन के लिये अपने को तैयार करता था। २० वर्ष की अवस्था में वह 'उपसम्पदा' संस्कार ग्रहण करता था तथा संघ का पूर्ण सदस्य बनता था। इस तरह बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में भी विद्यारम्भ तथा विद्यार्जन की अवधि, दोनों ही वैदिक छात्रों की तरह ही थीं। पब्बज्जा के उपरान्त नये भिक्षुओं को 'सामनेर' की संज्ञा दी जाती थी। पब्बज्जा-सम्पादन की रीति यह थी।* भावी भिक्षु, जिनकी अवस्था ८ वर्ष से कम न होती थी, अपने इच्छानुसार किसी विहार अथवा मठ में पहुँचते थे। उनका सिर मुड़ा हुआ होता था तथा उनके हाथ में पीला वस्त्र रहता था। इस वस्त्र के साथ वे विहार के किसी प्रमुख भिक्षु की शरण में अपने को समर्पित करते और संघ में सम्मिलित किये जाने की प्रार्थना करते थे। वह भिक्षु आगन्तुक को पीला वस्त्र धारण कराता तथा 'सरणत्तय' के तीन प्रणों को तीन बार उच्चारण करने के लिए कहता था। § गम्भीर स्वर में आगन्तुक इन प्रणों को उच्चारित करता था।

---

† चुल्लवग्ग—१—३२

‡ R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 395.

* महावग्ग—१—३८

§ महावग्ग—११२।३-४

"बुद्धं सरणं गच्छामि
धम्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि"

तत्पश्चात् सामनेर को 'दससिक्खा-पदानि' के निम्नलिखित दस आदेश दिये जाते थे, जिनका पालन सामनेर के लिये अनिवार्य था :—(१) जीव-हिंसा न करना, (२) बिना दिये हुए किसी वस्तु को ग्रहण न करना, (३) अशुद्ध आचरण से बरी रहना, (४) झूठ न बोलना, (५) मादक पेय का व्यवहार न करना, (६) असमय भोजन न करना, (७) निन्दा न करना (८) नाच-गाना तथा तमाशे से दूर रहना, (९) सुगन्धित तथा शृंगारिक वस्तुओं का व्यवहार न करना, (१०) सोना-चांदी का दान ग्रहण न करना । इन आदेशों की शिक्षा के साथ 'पब्बज्जा' समाप्त होती थी तथा नव-भिक्षु अपने गुरु के संरक्षण में समर्पित हो जाता था। जबतक सामनेर २० वर्ष की अवस्था प्राप्त कर 'उपसम्पदा' संस्कार के योग्य न हो जाता था, तबतक उसका सारा उत्तरदायित्व उपाज्झाय—गुरु—के ऊपर ही रहता था । अपने उपाज्झाय के लिये नया भिक्षु 'सद्धि-विहारक' था जिसकी पूर्ण देखरेख उपाज्झाय के ऊपर थी।" ओ भिक्खुओ ! उपाज्झाय अपने सद्धि-विहारिक को पुत्र के समान समझे और सद्धि विहारक उपाज्झाय को अपने पिता के समान"—ऐसा भगवान बुद्ध का प्रवचन था । आचार्य और शिष्य का यह पारस्परिक वैयक्तिक संबंध वैदिक शिक्षा-पद्धति की भी प्रधान विशेपता थी । बौद्धकाल में भी शिक्षक-छात्र का यह सबंध पूर्ववत् प्रतिष्ठित रहा ।

उपसम्पदाः—लग-भग १२ वर्ष की लगातार शिक्षा के पश्चात् संघ के नये भिक्षु २० वर्ष की अवस्था में उपसम्पदा संस्कार ग्रहण करते थे । उपसम्पदा ग्रहण करने के बाद ही वे संघ के स्थायी सदस्य बनते थे । कुछ भिक्षु, जिनका आध्यात्मिक ज्ञान पर्याप्त होता था, सीधे उपसम्पदा ग्रहण कर संघ के स्थायी सदस्य बन जाते थे । इन्हें पब्बज्जा तथा संघ की प्रारम्भिक शिक्षा की आवश्यकता न रहती थी । शाक्य-वंश के राजकुमार भगवान बुद्ध के सम्बन्धियों के लिए भी पब्बज्जा की आवश्यकता न थी । कभी-कभी पब्बज्जा तथा उपसम्पदा—दोनों एक ही साथ सम्पादित हो जाते थे, जब इनके अलग-अलग सम्पादन का कोई स्पष्ट कारण न दीख पड़ता था ।*

---

*—महावग्ग—१—६—३२

उपसम्पदा के सम्पादन की विधि पब्बज्जा से कुछ भिन्न थी। उपसम्पदा समस्त संघ के द्वारा सम्पादित होता था, न कि पब्बज्जा की भाँति किसी एक भिक्षु के द्वारा। उपसम्पदा के सम्पादन के समय सघ के कम-से-कम दस सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य थी। छोटे सघों में पांच ही सदस्य आवश्यक थे। सदस्यों के मतैक्य अथवा बहुमत से ही कोई भिक्षु उपसम्पदा में अंगीकृत होकर संघ का स्थायी सदस्य बन सकता था। सदस्यों में मतभेद होने पर, विषय एक उपसमिति के विचाराधीन रख दिया जाता था। यह उपसमिति तत्काल ही नियुक्त हो जाती थी। यदि उपसमिति भी निर्णय देने में असमर्थ होती थी, तो विषय पर समस्त संघ की मतगणना होती थी। मतदान के लिए कई रंग के पत्रक व्यवहार होते थे, जिन्हें 'सलाका' कहा जाता था। सलाका की गणना पर बहुमत के द्वारा उपसम्पदा के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय होता था। मतगणना की देखरेख के लिए एक सुयोग्य तथा अनुभवी भिक्खु नियुक्त होता था।†

उपसम्पदा से स्पष्ट है कि ब्राह्मण-शिक्षा बौद्ध-शिक्षा से एक महत्त्वपूर्ण विभिन्नता रखती थी। वैदिक विद्यार्थी समान्यतः २५ वर्ष की अवस्था में स्नातक बनकर घर लौट आते थे तथा गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करते थे। कुछ स्नातक ऐसे भी थे, जो आजीवन ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन में संलग्न रहते थे। इन छात्रों को नैष्ठिक कहा जाता था। किन्तु इस प्रकार के नैष्ठिक छात्र ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति में सामान्य नियम के अपवादस्वरूप होते थे। बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में यह अपवाद ही सामान्य नियम बन गया। शिक्षा प्राप्त करने के बाद बौद्ध छात्र घर न लौटते थे, बल्कि संघ के स्थायी सदस्य बन जाते थे और अपना समस्त जीवन संघ के भिक्षु के रूप में ही व्यतीत करते थे। कुछ छात्र शिक्षा समाप्त कर लेने या उसके पूर्व ही सघ का परित्याग कर देते थे, किन्तु ऐसे छात्रों की सख्या सीमित थी तथा ये नियम के अपवादस्वरूप थे।

बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में भी पात्र-अपात्र का विचार किया जाता था। निम्नलिखित अवस्थाओं में पब्बज्जा अथवा उपसम्पदा के द्वारा सघ-प्रवेश निषिद्ध था।‡

---

†—चुल्लवग्ग—४।१४।२६

‡—महावग्ग—१।६४।७१

(१) यदि कोई बालक माता-पिता की अनुमति के बिना ही संघ-प्रवेश करना चाहता हो ।

(२) यदि वह किसी प्रकार के शारीरिक दोष, कठिन व्याधि अथवा संक्रामक रोग से ग्रसित हो ।

(३) यदि उसने किसी प्रकार का घोर नैतिक अपराध किया हो ।

(४) यदि वह किसी प्रकार के दायित्व अथवा कानूनी बन्धन में आबद्ध हो ।

(५) यदि वह परीक्ष्यमाण अवधि में, जो कि ४–५ दिनों की भी हुआ करती थी, विनम्रता, सदाचार आदि गुणों से विभूषित न पाया जाय ।

इन प्रतिबन्धों से यह स्पष्ट है कि बौद्धसंघ भिक्षुओं के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की ओर पूरा ध्यान देता था। यह भी स्पष्ट है कि वह गृहस्थों की पारिवारिक व्यवस्था को विशृंखल नहीं करना चाहता था । अपने माता-पिता की अनुमति के बिना कोई भी अप्रौढ़ व्यक्ति संघ में प्रवेश नहीं कर सकता था । संघ उन लोगों को भी अपनी शरण में नहीं लेना चाहता था, जो अपने सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक दायित्व से पिण्ड छुड़ाना चाहते थे ।

शिष्य का दैनिक कार्य .—

ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति की तरह बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में भी गुरु की सेवा शिष्य की शिक्षा की एक अविच्छिन्न अंग थी । महावग्ग १,२५ में शिष्य के उन दैनिक कर्त्तव्यों का वर्णन है, जिनके द्वारा वे अपने आचार्य की विभिन्न सेवाएँ किया करते थे । प्रातःकाल उठकर वे आचार्य के मुख-प्रक्षालन के लिये पानी तथा दतवन आदि देते और बैठने के लिये आसन लगाते थे । तत्पश्चात् बरतन माँजकर खीर आदि भोजन प्रस्तुत करते । गुरु को इसके ग्रहण कर लेने के बाद वे बरतन को धोकर रख देते तथा व्यवहृत स्थान को साफ-सुथरा करते । इसके पश्चात् वे आचार्य के भिक्षाटन के लिये उपयुक्त वस्त्र तथा सामान आदि लाकर उनके समक्ष रखते । गुरु की इच्छा होती तो वे भी भिक्षाटन में उनका अनुगमन करते । आचार्य की सभी आकांक्षाएँ उन्हें शिरोधार्य थीं । लौटती बार शिष्य आचार्य के पहले ही विहार में पहुँचकर उनके हाथ-पैर धोने, कपड़े बदलने तथा आराम करने की व्यवस्था कर लेता । यदि आवश्यकता होती तो वह आचार्य के समक्ष कुछ हल्का भोजन प्रस्तुत

करता । कुछ देर के पश्चात् वह आचार्य के आदेशानुसार स्नान के लिये गर्म अथवा शीतल जल का प्रबन्ध करता, शरीर के लेप के लिये मिट्टी का चूर्ण आदि वस्तुएँ उपस्थित करता । अपना स्नान वह शीघ्र समाप्त कर पुनः गुरु की सेवा में उपस्थित होता । स्नान के बाद यदि आचार्य की इच्छा होती तो वह पाठ आरम्भ करता । पाठन की सामान्य शैली "प्रश्न तथा उत्तर" थी । शिष्य कुछ प्रश्न करता, आचार्य उसके उत्तर में अपना उपदेश उपस्थित करते । व्याख्यान की पद्धति भी प्रचलित थी ।

आचार्य के शारीरिक सेवा के अतिरिक्त शिष्य को उनके निवासस्थान को भी साफ-सुथरा रखना पड़ता था । नित्य-प्रति वह विहार को झाड़ देता । सभी सामानों को हटाकर कूड़ा-करकट को बाहर निकालता तथा पुनः उन सामानों को पूर्ववत् सजाकर रख देता । विहार के अन्य स्थानों, जैसे—भंडार, रसोईघर आदि की सफाई का उत्तरदायित्व भी उसके ऊपर था ।

आचार्य के अतिरिक्त शिष्य को अन्य किसी की आज्ञा मान्य न थी और न वह किसी दूसरे से सेवा ले सकता था । आचार्य की अनुमति के बिना वह कहीं जा भी नहीं सकता था ।

आचार्य का कर्त्तव्यः—आचार्य के लिये भी शिष्य के प्रति उसके कर्त्तव्य निर्धारित थे । ऊपर कहा जा चुका है कि उपाध्याय को अपने शिष्य को पुत्र के समान ही समझना होता था । यदि शिष्य को भिक्षाटन का बरतन, वस्त्र तथा अन्य किसी वस्तु की कमी होती थी तो आचार्य को उसका प्रबन्ध करना होता था । शिष्य की बीमारी में उन्हें उसकी पूरी सेवा करनी होती थी, जबतक शिष्य स्वस्थ न हो जाय, तबतक आचार्य का कत्तव्य था कि वे उसकी सेवा उसी भाँति करें जिस भाँति वह उनकी सेवा स्वस्थ रहने पर किया करता था । शारीरिक विकास के साथ-साथ शिक्षक को शिष्य के मानसिक विकास की चेष्टा भी करनी थी । प्रश्नोत्तर, व्याख्यान, शिक्षा-दीक्षा आदि विभिन्न रीतियों के द्वारा वे शिष्य के मानस-जगत् को उद्भासित करते थे ताकि वह सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण का अधिकारी हो सके । *

शिष्य और शिक्षित का सम्बन्ध कुछ इतना घनिष्ट था कि बहुधा शिष्य किया अपने आचार्य के मानसिक कष्टों को पहचान लेने तथा उनके निवारण की चेष्टा किया करता था । धार्मिक बात-चीत तथा अन्य उपायों द्वारा वह आचार्य के मन-बहलाव की चेष्टा किया करता था, ताकि उनका मानसिक कष्ट दूर हो ।

* महावग्ग—१।२६

यदि शिष्य को इसका संदेह हो जाता कि आचार्य को किसी तरह की गलत धार्मिक धारणा हो गई है तो उसका कर्त्तव्य था कि शंका-समाधान के द्वारा वह उनकी इस धारणा को दूर करने की चेष्टा करे तथा संघ के अन्य व्यक्तियों से इस कार्य में सहायता ले । *

चूँकि गुरु और शिष्य दोनों ही संघ के आश्रित थे, इसलिए संघ की सत्ता सर्वोपरि थी । यदि शिक्षक का कोई कार्य संघ की मर्य्यादा के विरुद्ध होता, तो शिष्य का कर्त्तव्य था कि वह गुरु की त्रुटियों को संघ के समक्ष पेश करे तथा उचित दण्ड की व्यवस्था की प्रार्थना करे । उसका यह भी कर्त्तव्य था कि उचित प्रायश्चित्त के बाद अपने शिक्षक के पुनःस्थापन के लिए अनुरोध करे । साथ ही उसे शिक्षक के आत्म-सुधार के लिये प्रयत्नशील रहना पड़ता था ताकि संघ उनके अपराध को क्षमा करने के लिए प्रेरित किया जा सके ।

शिक्षक की योग्यता:—शिक्षक के उत्तरदायित्व के अनुकूल ही उसकी योग्यता भी होनी चाहिये थी । महावग्ग में शिक्षक की योग्यता का विवरण है । "वही भिक्षु शिक्षक के लिये उपयुक्त था जो कि कम-से कम १० वर्ष तक स्वयं भिक्षु रह चुका हो ।† साथ ही उसे शुद्ध आचरण, पवित्र विचार, विनम्रता आदि गुणों से विभूषित रहना चाहिये था, उसकी मानसिक क्षमता काफी ऊँची होनी चाहिए था ताकि वह शिष्य को 'धर्म्म' सम्बन्धी पूरा ज्ञान दे सके, 'विनय' की शिक्षा दे सके तथा गलत धार्मिक धारणाओं के प्रतिकार में सफलतापूर्वक वाद-विवाद कर सके ।"

निष्कासन:—कुछ निर्दिष्ट अवस्थाओं में ही आचार्य को अधिकार था कि वह शिष्य को अपने शिष्यत्व से बाहर कर दे । वे अवस्थाएँ ये हैं—जब वह सद्धिविहारक अपने उपाज्झाय के प्रति स्नेह का अनुभव न करे, जब उसकी श्रद्धा उनमें कम हो जाय, जब उसमें पर्याप्त अनुताप की कमी हो, जब उसमें सम्मान की भावना की कमी हो जाय, तथा जब वह शिक्षक के प्रति उचित भक्ति न रख सके । उसी तरह शिष्य की शिक्षा निम्नलिखित अवस्थाओं में स्वभावतः समाप्त हुई समझी जाती थी ।—"जब शिक्षक संघ से बाहर चला जाय, जब वह संसार में पुनः लौट आये, जब उसकी मृत्यु हो जाय, जब वह किसी अन्य धार्मिक शाखा में सम्मिलित हो जाय तथा जब वह शिष्य को अलग होनेकी आज्ञा दे ।"

---

* महावग्ग—१।२५

† महावग्ग—१।२६

छात्र-संख्या:—साधारणतया एक भिक्षु एक ही नव भिक्षु को शिक्षा दे सकता था। किन्तु बुद्ध ने अधिक शिष्यों को शिक्षा देने की स्वीकृति दी थी, यदि भिक्षु शिक्षक ऐसा करने में समर्थ हो सके।

विहार:—बौद्ध-शिक्षा पद्धति का केन्द्र कुछ नये भिक्षुओं का समुदाय था जो कि उपाज्झ्याय की संरक्षणता में बौद्धधर्म की शिक्षा ग्रहण करता था। समूह के आचार्य होते हुए भी उपाज्झाय प्रत्येक शिष्य की शिक्षा का वैयक्तिक उत्तरदायित्व वहन करता था। नव भिक्षुओं के तथा आचार्य के इस मंडल को ब्राह्मण विद्यालयों की तरह स्वतन्त्र स्थान प्राप्त न था। ये सभी समूह संघ में सन्निविष्ट थे जो कि बौद्धधर्म तथा धार्मिक जीवन का शिलाधार था।

सभी बौद्ध-शिक्षा-मंडल अथवा विद्यालय इस संघ के अविच्छिन्न अंग थे, जिससे अलग होकर उनका अस्तित्व नहीं रह सकता था। इस तरह बौद्ध शिक्षा-पद्धति की रीढ़ शिक्षकों तथा छात्रों की छोटी-छोटे टोलियाँ नहीं, अपितु प्रशस्त विहार अथवा मठ था, जिसमें १००० तक भिक्षु रह सकते थे। शिक्षा सम्बन्धी सभी प्रेरणा इस संघ से ही प्राप्त होती थी, जो कि मठों अथवा बिहारों में अवस्थित रहता था। संघ के सामूहिक नियन्त्रण में ही उपाज्झ्या-याय अपने वैयक्तिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करते थे। फलतः बौद्ध शिक्षा--पद्धति संघीय प्रणाली (Federal principles), पर आयोजित थी, जिसमें छोटे-छोटे वैयक्तिक स्कूल एक बड़े समुदाय के सामूहिक अनुशासन में अपने को समर्पित कर देते थे। इस पद्धति में छात्र एक बड़ी संस्था के सदस्य थे तथा इस संस्था के समस्त सामूहिक व्यापारों में भाग लेते हुए अपनी वैयक्तिक शिक्षा अपने उपाज्झ्याय से ग्रहण करते थे। ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति में यह बात नही थी। उसमें गुरु का पारिवारिक गुरुकुल अथवा आश्रम ही स्वतन्त्र विद्यालय था तथा इस विद्यालय के सारे कार्य गुरु के द्वारा ही अनुप्राणित एवं संचा-लित होते थे।

शिक्षण पद्धतिः—हम देख चुके हैं कि प्रारम्भ में बौद्धधर्म का व्यावहारिक रूप अधिकांशतः शुद्धाचरण से ही सम्बद्ध था। फलतः बौद्ध-संघों का प्रधान उद्देश्य नव भिक्षुओं को शुद्धाचरण में प्रशिक्षित तथा अभ्यस्त करना था। छात्रों के मान-सिक उपलब्धि के प्रति शिक्षा-पद्धति का उतना ध्यान नहीं था, जितना कि ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति का था। किन्तु आगे चलकर बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में भी मानसिक विद्वत्ता को भी प्रधानता मिलने लगी। महायान शाखा के अनु-

सार बोधिसत्त्व की स्थिति की प्राप्ति पूर्ण वैयक्तिक विकास से ही संभव थी, जिसके लिये, सम्यक् आचरण के साथ-साथ उच्चतम मानसिक ज्ञान की आवश्यकता भी थी। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में, बौद्धधर्म की शिक्षा प्रधानतः इसके कुछ धार्मिक साहित्य से सम्बद्ध थी। "सुनन्त, विनय तथा धर्म्म" की शिक्षा छात्रों की अवस्था के अनुसार क्रमशः आयोजित की जाती थी। इनके अतिरिक्त "सुत तथा सुत विभंग" भी पढ़ाये जाते थे। सुत तथा सुत विभंग का स्पष्ट अर्थ संदिग्ध-सा है। संभवतः ये सूतान्त तथा विनय से ही सम्बद्ध थे। सुतों का पता चलता है, किन्तु सुत विभंग अप्राप्य हैं। भिक्खुओं की प्रारम्भिक शिक्षा संभवतः सुतन्त से ही शुरू होती थी। इस अवस्था में नव भिक्खुओं को 'सुतन्तों' को रटने के अतिरिक्त अन्य धार्मिक विषयों को ग्रहण करना भी असंभव था। छात्र इन 'सुतन्तों' को एक दूसरे को रटकर सुनाते थे, जिससे कुछ समय में सुतन्त उन्हें कण्ठस्थ हो जाते थे। सुतन्तों की शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद भिक्षु "विनय" की शिक्षा ग्रहण करते थे। विनय की शिक्षा प्रधानतः प्रश्नोत्तर अथवा शंका-समाधान के रूप में होती थी। विनय के मनन के पश्चात् भिक्खुओं को 'धर्म' प्रचार के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। इसके लिये विभिन्न शिक्षण-शैलियाँ प्रयुक्त होती थीं, ताकि भावी शिक्षक बौद्धधर्म की समस्त विशेषताओं से पूर्णतः परिचित हो जाय। अपने साथियों के साथ प्रश्नोत्तर, शंका-समाधान, वाद-विवाद के द्वारा वह अपने धर्म-सम्बन्धी बातों की तह तक पहुँचने की चेष्टा करता था ताकि वह दूसरों को "धर्म" की शिक्षा देने के उपयुक्त हो जाय। सामान्य भिक्खुओं के अतिरिक्त बौद्ध-साहित्य में विशिष्ट प्रकार के भिक्खुओं का विवरण मिलता है जो हिन्दू संयासियों की तरह साधना तथा तपस्या के द्वारा उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति में निमग्न रहते थे।* कुछ भिक्खु सांसारिक प्रवृत्ति के भी होते थे; जो कि भौतिक बातों की जानकारी तथा शारीरिक शक्ति पर अधिक ध्यान देते थे।‡ इन विभिन्न प्रकार के भिक्खुओं की शिक्षा न केवल अलग-अलग होती थी, बल्कि उनके रहने के स्थान भी अलग-अलग रहते थे ताकि वे एक दूसरे के अध्ययन में बाधा न दे सकें।†

---

* Rhys Davids—Budhism—P. 17.

‡ R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 449.

† चुल्लवग्ग—४।४

मौखिक:-बौद्ध-काल की प्रारम्भिक शिक्षा-पद्धति वैदिक शिक्षा-पद्धति की भांति मौखिक ही होती थी। इसका प्रधान कारण सभवतः लेखन-सामग्रियों का अभाव अथवा इनकी प्राप्ति की कठिनाई थी। वैदिक शिक्षा मौखिक इसलिये भी थी कि वैदिक-मन्त्रों को लिपिबद्ध करना अधार्मिककार्य समझा जाता था। बौद्ध धार्मिक प्रवचनों के साथ यह बात लागू नहींथी। भगवान बुद्ध ने जब जन-सामान्य की भाषा को ही अपने धर्म की शिक्षा का माध्यम बनाया तब यह युक्तिसंगत नहीं कि उन्होंने धार्मिक उपदेशों को लिपिबद्ध करने की मनाही की हो। अतः विद्वानों की धारणा है कि बौद्ध-धर्म के मौखिक संरक्षण लेखन-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण ही था।* सम्भवतः इसीलिये विनय-पिटक में दिये गये विहार की सामग्रियों की सूची में किसी हस्तलिखित वस्तु का वर्णन नहीं है। लेखन-सामग्री जैसे रोशनाई, दावात, कलम, लेखनपत्र आदि वस्तुओं का वर्णन भी नहीं है। सूई-जैसी छोटी वस्तु से लेकर बड़ी-बड़ी वस्तुओं का विवरण दिया हुआ है। इससे स्पष्ट है कि लेखन-कला का विशेष उपयोग साधारणतया नहीं होता था। महावग्ग में किसी विहार के भिक्खुओं को निकटस्थ विहार में जाकर 'पातिमोक्ख' की मौखिक शिक्षा प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। इसी ग्रन्थ में एक ऐसे गृहस्थ उपासक का वर्णन है, जो किसी प्रमुख सुतान्त को सुनकर याद कर लेने के लिये भिक्षुओं को आमन्त्रित करता है। † इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बौद्ध-शिक्षा मौखिक रूप में ही सम्पादित होती थी। किन्तु लेखन-कला का प्रचलन बौद्ध भिक्खुओं में भी था, इसका भी प्रमाण है। विभंग में भिक्खुओं को लेखन-कला सीखने की सम्मति दी गई है। ‡ महावग्ग (उपालि-आख्यान) के अनुसार लेखन-कला जीविकोपार्जन का एक साधन थी। £

बौद्ध-शिक्षण-पद्धति में प्रश्नोत्तर तथा वाद-विवाद की रीतियों का प्रमुख स्थान था। ब्राह्मण-शिक्षण-पद्धति में भी इन प्रणालियों का व्यवहार लाभ-

---

* The disuse of writing was most probably due to the scarcity if any convenient writing material on which the main characters might be inscribed—R. K. Mookerji.—P. 45.

†—महावग्ग—२।१७।५।६

‡— „ —३।५।६।६

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 450.

£—महावग्ग—१,४६,१

प्रद समझा जाता था। बौद्ध-धर्म वैदिक धर्म की अपेक्षा प्रचार की कहीं अधिक आवश्यकता रखता था। प्रचार की सफलता के लिये विरोधियों को शास्त्रार्थ में परास्त करना आवश्यक होता था ताकि न केवल विरोधी की पराजय हो, बल्कि जनसामान्य में विजयी की धाक जम जाए। अतः बौद्ध भिक्खुओं की उच्च शिक्षा में वाद-विवाद की शैली प्रचुरता से व्यवहृत होती थी। बौद्ध-ग्रन्थों में कई ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनमें भिक्खुओं को ब्राह्मण-सन्यासियों से वाद-विवाद करना पड़ता था। वस्तुतः महात्मा बुद्ध को अपने ४५ वर्ष के 'बुद्धत्व' में निरन्तर विरोधी दलों से वाद-विवाद करना पड़ा था तथा अपने दलों के लोगों का शका-समाधान करना पड़ा था। अपने अस्तित्व की रक्षा तथा अपने विचारों के प्रसार के लिये बौद्ध-संघ को वाद-विवाद में पूर्णतः अभ्यस्त होना पड़ता था।

बौद्ध-साहित्य में वाद-विवाद की रीतियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। * इन विवरणों से पता चलता है कि वाद-विवाद के लिये विशेष नियम बने हुए थे। † मैत्रेय का "सप्त-दश-भूमि-शास्त्र-योगाचार्य" जो कि ४०० ईसवी में लिखा गया था, वाद-विवाद-सम्बन्धी एक मूल्यवान ग्रन्थ है। ग्रन्थ के १५ वें भाग में वाद-विवाद के नियम सात अध्यायों में वर्णित हैं। वाद-विवाद का विषय उपयोगी होना चाहिये तथा वाद-विवाद का स्थान विद्वानों का सभा-मण्डल, राज-प्रासाद, मन्त्री का कार्यालय अथवा परिषद् होना चाहिये। विवादास्पद विषय की पुष्टि के लिए निम्नलिखित आठ तरह के प्रमाण आवश्यक बतलाये गये हैं :—

(१) सिद्धान्त, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) साधर्म्य, (५) वैधर्म्य, (६) प्रत्यक्ष, (७) अनुमान, (८) आगम।

इनके अतिरिक्त विवाद में भाग लेने वाले विद्वानों की योग्यता का मानदण्ड भी निर्धारित किया गया है। उन विद्वानों को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। उन्हें स्पष्ट स्वर में लगातार बोलने की क्षमता होनी चाहिये। श्रोताओं के आकर्षण के लिये उन्हें लयात्मक ढंग से बोलना चाहिये, कभी आवाज धीमी कर लेनी चाहिये, कभी तेज।

इस तरह बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में व्याख्यान तथा तर्क का बड़ा महत्व था। सफल वक्ता के लगभग सभी आधुनिक उपकरण उपर्युक्त रीतियों में सन्निविष्ट हैं।

---

* कथावत्थु—१।१–६९

† चुल्लवग्ग—२०९,२१६

बौद्ध-संघों की शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषा था। गौतम बुद्ध के वचन लोगों में उनकी भाषा में ही प्रचारित होने चाहिये थे। * इस तरह प्रारम्भिक बौद्ध-शिक्षा-पद्धति में संस्कृत को स्थान न था। संस्कृत भाषा के साथ-साथ ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति में प्रचलित 'लोकायत' यंत्र-मंत्र-तंत्र आदि भी बहिष्कृत थे। † इस तरह बौद्ध-शिक्षा-पद्धति ने स्थानीय भाषाओं की समृद्धि तथा विकास में बड़ा योग दिया जिसके कारण ये भाषाएँ अन्य सुदूर देशों में भी प्रचलित हो गई।

विद्वत्सभा:—नैतिक शिक्षा का एक उपयोगी माध्यम बौद्ध-संघों के द्वारा आयोजित विद्वत्सभा था। यह सभा प्रति मास पूर्णिमा तथा प्रतिपदा के दिन बुलायी जाती थी। सभा में विभिन्न संघ के भिक्खु एकत्र होते थे तथा अपनी त्रुटियों को सभा के समक्ष उपस्थित करते थे। इस सभा में सभी भिक्खुओं की उपस्थिति अनिवार्य थी। यदि कोई भिक्खु बीमार पड़ जाय, तो उसे किसी अन्य भिक्खु द्वारा अपनी निर्दोषिता का संदेश भेजना पड़ता था, अन्यथा वह बीमारी की अवस्था में ही खाट आदि पर ढोकर सभा के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यदि वह इस योग्य भी न हो तो सभा उसके निवासस्थान पर ही जाती थी ताकि उसकी उपस्थिति अंकित हो सके और उसे अपने अपराधों को (यदि कुछ हों) स्वीकृत कराने का अवसर मिल सके। साधारणतया वैयक्तिक अपराध ही विचाराधीन रहते थे, संघ के सामूहिक अपराध तो दूसरे क्षेत्र के विद्वानों के समक्ष रखे जाते थे।

इस अर्धमासिक सभा के अतिरिक्त एक वार्षिक सभा भी प्रतिवर्ष बुलायी जाती थी, जिसमें सम्मानित भिक्खु अपनी पवित्रता तथा निर्दोषिता को प्रसिद्ध करने के लिये सारे संघ को चुनौती देता था।

एकान्त साधन:—कुछ भिक्खुओं को संघ के सामूहिक जीवन से आत्म-तुष्टि न होती थी। ये भिक्खु निर्जन वन-प्रान्तों अथवा पहाड़ों की एकान्त गुफाओं में अकेले निवास करते थे तथा आध्यात्मिक चिंतन में निरत रहते थे। वस्तुतः संसार से पूर्ण विरक्ति इन विजन स्थानों में ही सम्भव हो सकती थी। संघ तो एक बीच का पड़ाव था। किंतु इस जीवन के योग्य वे ही भिक्खु हो सकते थे, जिन्हें सांसारिक वस्तुओं का मोह एकदम ही छूट गया हो तथा जो

---

* चुल्लवग्ग—५।३३।१

† R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P.449.

पर्याप्त समय तक संघ का जीवन व्यतीत कर एकान्त जीवन बिताने की क्षमता प्राप्त कर चुके थे। संघ-जीवन के व्यावहारिक कार्य तथा नाना उत्तरदायित्व के भार से शान्ति पाने के लिए भी बहुत पुराने भिक्खु जंगलों में जाकर एकान्त सेवन करते थे। महात्मा बुद्ध ने स्वयम् कई बार ऐसा किया था। किन्तु इनका एकान्त वास ब्राह्मण तपस्वियों के एकान्तवास के समान न था; इनके एकान्त-वास जनपद से सन्निकट ही रहते थे, ताकि ये भिक्षाटन आदि कर सकें तथा आगन्तुक भिक्षुओं की सेवा कर सकें।

स्त्री शिक्षा—सैद्धान्तिक रूप में बौद्ध धर्म स्त्रियों के संघ में सम्मिलित होने का नितान्त विरोधी था। किन्तु, अपनी विमाता महाप्रजापति तथा अपने प्रिय शिष्य आनन्द के अनुरोध से बुद्ध ने स्त्रियों को संघ-प्रवेश की अनुमति किसी तरह दे दी थी।* इस अनुमति के बाद भी संघ में भिक्खुनियों का स्थान भिक्खुओं की अपेक्षा नीचा समझा जाता था। भिक्खुनियों के लिए आठ निर्धारित नियमों में प्रथम यह था कि "सौ वर्ष की पुरानी भिक्खुनी भी एक नये भिक्खु से प्रकाश ग्रहण करे"।† स्त्रियों के संघ-प्रवेश के नियम भी पुरुषों के संघ-प्रवेश के नियमों से कठिनतर थे। उनकी परीक्ष्यमाण अवधि दो वर्ष की थी। स्थायी भिक्खुनी बनने के लिए सम्पूर्ण संघ की सम्मति आवश्यक थी। भिक्खुनी को भिक्खु से सर्वदा अलग रहना होता था। संघ के द्वारा एक

---

* In the fifth year of Buddha's ministry, the widowed queen of Sudhodhan, asked to be allowed to leave the world under the doctrine of the Tathagat. Buddha refused the request three times but the lady cut off her hair, put on mendicant clothes and followed the train. Finding the queen and the other women, who were with her, weeping at one of the halts, Ananda the disciple took pity and made the request to the Master. This also was refused three times. Then Ananda asked him the straight question, "Is a woman, who has gone forth from a house to a houseless life in the doctrine and discipline declared by Tathagat, capable of realising the spiritual truth?" "She is capable Buddha answered. Ananda pressed home the advantage and Buddha agreed to the ordination of women.

Panikkar—Survey of Indian History—P. 26-27.

† A Bhikhuni, even of a hundred years standing must look up to a Bhikhu if only just initiated.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 463.

विशेष भिक्खु नियुक्त होता था, जो कि भिक्खुनी को प्रतिमास दो बार किसी अन्य भिक्खु के समक्ष शिक्षा तथा उपदेश दिया करता था। भिक्खुनियों का दैनिक जीवन लगभग भिक्खु की तरह ही संचालित रहता था। किन्तु आचार्य के साथ वे अकेले नहीं रह सकती थीं।

इन सब प्रतिबन्धों के होते हुए भी बौद्ध संघ ने भारतीय स्त्रियों के समक्ष उनके सांस्कृतिक विकास तथा सामाजिक सेवा के प्रचुर अवसर उपस्थित किये। बौद्ध संघ की छत्रच्छाया में अनेक भारतीय महिलाओं ने उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया तथा अपनी विद्वता से संघ को गौरवान्वित किया। महात्मा बुद्ध की शिष्याओं में "थेरी" शिष्याएँ धर्मग्रन्थों में प्रशंसित हैं। स्वयं बुद्ध ने १३ सुयोग्य थेरियों का उल्लेख किया है, जिनमें धम्मदिन्ना प्रमुख थी। इन थेरियों के धार्मिक पद्यों का संकलन "थेरी गाथा" नामक ग्रन्थ में हुआ माना जाता है। बुद्ध की विमाता महाप्रजापति ने ५०० शाक्य क्षत्राणियों के साथ संघ में प्रवेश किया। उनके अनुरोध तथा उनकी चेष्टाओं के कारण ही बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दी, यह हम देख चुके हैं। महाप्रजापति के भिक्खुनी दल का बौद्ध-जगत में बड़ा सम्मान है। धार्मिक आचरण तथा विद्वत्ता में भिक्खु-नियों का यह संघ भिक्खुओं के सम्मानित संघ से किसी प्रकार कम न था। भिक्खुनी संघ में सभी श्रेणी की स्त्रियाँ सम्मिलित थीं। अधिकांश स्त्रियाँ धार्मिक भावना से प्रेरित होकर ही संघ में सम्मिलित होती थीं, किन्तु कुछ अपने पारिवारिक कष्टों से मुक्ति पाने के लिए भी भिक्खुनी बन जाती थीं। विम्बिसार के पुरो-हित की कन्या सोमा, धनवान पिता की पुत्री अनुपमा आदि महिलाओं ने धार्मिक प्रेरणा से ही संघ में अपने को समर्पित किया था। किसी टोकरी बनाने वाले कूबड़े की पत्नी ने अपने कठोर व्यवसाय तथा कुरूप पति से मुक्ति की इच्छा से संघ की शरण ली थी। पुत्रवती किसी गौतमी ने अपने पुत्र की मृत्यु के पश्चात् स्वयं बुद्ध से दीक्षा ग्रहण की। उसकी योग्यता के कारण बुद्ध ने उसे जेतवन विहार का अध्यक्ष नियुक्त किया। बनारस राज्य की उत्तराधिकारिणी राजकुमारी सुन्दरी ने अपने भाई के देहान्त से पीड़ित होकर अपनी सारी सम्पत्ति का परित्याग कर बौद्ध संघ में शान्ति ग्रहण किया।

कई भिक्खुनियों का मानसिक परिज्ञान भी बहुत उच्चकोटि का था।* इनके प्रवचन को सुनने के लिए लोग दूर-दूर से एकत्रित होते थे। सुक्का नामक

---

* Keay—Indian Education in Ancient and Later Times.—P. 79.

एक ऐसी ही भिक्खुनी थी, जिसकी वाणी सुनकर लोग तृप्त हो जाते थे। सामाजिक सेवाकार्य में भी इन भिक्खुनियों का स्थान ऊँचा था। अपने मधुर वचन तथा ज्ञान-पद उपदेशों के द्वारा ये भिक्खुनियाँ अनेक शोक-संत त माताओं तथा बहनों को शान्ति प्रदान करती थीं। कई बीमार, उत्पीड़ित एवं निराश्रित स्त्रियों को भिक्खुनी-संघ ने आश्रय प्रदान किया था। भिक्खुनी पटचारा- अपनी दया का स्रोत दु:खिओं के दु:ख निवारणार्थ सतत प्रवाहित रखती थी।

संघ की भिक्खुनियों की शिक्षा की रीतियों के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य प्राय: मौन हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि उनकी शिक्षा भी उपेक्षित न रहती होगी। कई भिक्खुनियों की विद्वत्ता का उल्लेख अभी किया जा चुका है। ऐसी भिक्खुनियों को विवरण भी बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध हैं, जो नवागता भिक्खु- नयों की आचार्या थीं। † आचार्य के उत्तरदायित्व के सम्यक् निर्वाहके लिये 'धम्म' का पूरा ज्ञान अपेक्षित था। अत: ये आचार्या अवश्य ही इतनी योग्य हीतो होंगी कि संघ उन्हें अध्यापन का भार सौंपने में संकोच नहीं करता था।

बौद्ध काल में संघ के बाहर की गृहस्थ स्त्रियाँ भी धम्म के पालन तथा प्रसार के प्रति पर्याप्त रुचि रखती थीं। कुछ महिलाओं का धम्म के प्रति अनुराग इतिहास प्रसिद्ध है। विसाखा, अम्बपाली तथा सुपिया की धर्मपरायणता तथा दान शीलता का बौद्ध संघ बड़ा आभारी था।

इस तरह संघ के भीतर तथा संघ के बाहर दोनों ही क्षेत्रों में बौद्ध धर्म भारतीय स्त्रियों के विकास की ओर सचेष्ट रहा। किन्तु, श्री 'के' की सम्मति में बौद्ध भिक्खुनी-संघ ने भारत में स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में विशेष कार्य नहींकिया। उनके विचार में इसका प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि भिक्खु-संघ की भांति भिक्खुनी- संघ ने भी उन स्त्रियों की नियमित शिक्षा की व्यवस्था की, जो कि संघ के बाहर थीं। लंका तथा बर्मा के वर्त्तमान भिक्खुनी-संघ भी वहाँ की स्त्री-शिक्षा के लिए विशेष प्रयत्नशील नहीं हैं। "ऐसी स्थिति में यह अनुमान युक्तिसंगत नहीं कि बौद्धधर्म के मध्याह्न में भी भारत में भिक्खुनी-संघ ने स्त्री-शिक्षा के लिए विशेष कार्य किये।"* इस सम्मति को स्वीकार करते हुए भी, यह निश्चित है कि

† चुल्लवग्ग—१०।८

* It seems hardly safe, therefore, to conjecture that even when Buddhism was at its zenith in India it did very much for the education of women.

Keay—Indian Education in Ancient & Later Times.

बौद्ध भिक्खुनियों तथा बौद्ध उपासिकाओं की वास्तविक सेवाओं, उनके दृष्टान्त तथा उनकी सहानुभूति एवं आत्मीयता से बौद्ध युग में भारतीय स्त्रियों का मानसिक एवं नैतिक विकास अवश्य हुआ। बौद्ध धर्म के प्रसार एवं जन-सेवा के कार्य में भारतीय स्त्रियों ने पुरुषों का यथेष्ट हाथ बँटाया।‡

जन-सामान्य की शिक्षा

बौद्ध संघ उन भिक्खुओं का संघ था, जिन्होंने घर-बार छोड़कर अपना जीवन बौद्ध धर्म और संघ को सर्मपित कर दिया था। ये भिक्खु संघ के स्थायी सदस्य थे तथा बौद्ध विहारों में सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे। संघ इन्हीं स्थायी सदस्यों अथवा भिक्खुओं की धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करता था। संघ में उन लोगों की शिक्षा की व्यवस्था न थी जो बौद्ध धर्मानुयायी तो थे, किन्तु जिन्होंने संसार का परित्याग नहीं किया था। फिर भी संघ इन गृहस्थों के धार्मिक आचरण से सर्वथा उदासीन नहीं रह सकता था। वस्तुतः संघ का अस्तित्व ही इन 'गृहस्थ' उपासक तथा "उपासिकाओं" पर अवलम्बित था, जिनके दान से ही भिक्खुओं की अनिवार्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी।

अतः बौद्ध भिक्खुओं का यह कर्त्तव्य था कि ,अपने परिभ्रमण में वे गृहस्थों को 'धम्म' की शिक्षा दें तथा उनकी शंकाओं को दूर कर उनके हृदय में आस्था उत्पन्न करें। बहुधा गृहस्थों की धार्मिक शिक्षा राज्याश्रय में भी आयोजित होती थी। बिम्बिसार ने अपने राज्य के अस्सी हजार गाँव के लोगों को भगवान बुद्ध का उपदेश ग्रहण करने का आदेश दिया था। † बुद्ध ने विशाल जनसमूह के बीच अपने 'धम्म' की व्याख्या की और निर्वाण का मार्ग प्रदर्शित किया। इस तरह अपने धर्मानुयायी गृहस्थों की धार्मिक शिक्षा की कुछ न कुछ व्यवस्था संघ की ओर से होती थी, किन्तु इनके बच्चों की सामान्य मौलिक शिक्षा की व्यवस्था बौद्ध-संघ में न थी।

---

‡ The Buddhist convent opened out to the women opportunities for education and culture and varied spheres of social service in which they made themselves the equal of men supplementing their work in the spread of their faith.
R. K. Mookerji—Ancient Indian Education.

† महावग्ग—५।१।९

इन शिक्षाओं के लिए बौद्ध मतानुयायियों को भी संघ के बाहर तत्कालीन शिक्षा संस्थाओं का आश्रय लेना पड़ता था। बौद्ध साहित्य में विशेषतः जातकों में, इन संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। इनके आधार पर बौद्धकालीन जन-सामान्य की शिक्षा-व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित किया जाता है।

सामान्य शिक्षा—मिलिन्द ‡ पन्ह में नागसेन नामक एक ब्राह्मण की शिक्षा का वर्णन दिया हुआ है, जिससे तत्कालीन ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों शिक्षा पद्धतियों पर समुचित प्रकाश पड़ता है। सात वर्ष की अवस्था में नागसेन के पिता ने उसे किसी ब्राह्मण शिक्षक से पास शिक्षा-ग्रहण के हेतु भेजा। शिक्षण का शुल्क उसने शिक्षक को पहले ही दे दिया। शुल्क की रकम १००० मुद्राएँ थीं। नागसेन ने उक्त शिक्षक से तीन वेदों की शिक्षा प्राप्त की तथा अन्य विषयों का भी ज्ञान प्राप्त किया। किन्तु नागसेन को इनसे तुष्टि न हुई। अतः वह एक सुविख्यात बौद्ध श्रमण रोहण के समक्ष उपस्थित हुआ, जो कि संघ में न रहकर अलग कुटिया में रहा करते थे। किन्तु रोहण ने नागसेन को शिक्षा देना अस्वीकार कर दिया जब तक कि वह बौद्ध भिक्खु बनने के लिए तैयार नहीं था। नागसेन ने अपने पिता की अनुमति से भिक्खु व्रत लेना स्वीकार किया, क्योंकि उसे शिक्षा प्राप्त कर संसार में लौटने की स्वतंत्रता थी। नागसेन ने रोहण से कम ही समय में सम्पूर्ण "अभिधम्म" को कण्ठस्थ कर लिया। इसके पश्चात् नागसेन के शिक्षक ने उसे विद्याप्रसार के लिए परिभ्रमण में भेज दिया, जिसमें उसने अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों को वाद-विवाद में हराकर अपनी योग्यता का परिचय दिया।

नागसेन की शिक्षा के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि :—

(क) ब्राह्मण तथा बौद्ध शिक्षाएँ एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक थीं।

(ख) बौद्ध शिक्षा केवल संघों तक ही सीमित न थी, बल्कि यह पुराने बौद्ध श्रमणों के द्वारा, ब्राह्मण शिक्षा पद्धति पर, उनके आश्रम अथवा कुटियों में भी आयोजित रहती थी।

(ग) बौद्ध धर्म की धार्मिक शिक्षा केवल स्थायी भिक्खुओं को ही नहीं दी जाती थी, बल्कि गृहस्थों को भी इस शिक्षा को प्राप्त करने का अधिकार

‡ मिलिन्द पण्ह—१,२२-६

† The laity had to seek other centres and means of education.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education. P. 466.

था। पाटलिपुत्र का एक सम्पन्न व्यापारी, जो कि ५०० गाड़ियों के साथ यात्रा कर रहा था, "अभिधम्म" का विद्यार्थी था और इस सम्बन्ध में कुछ उपदेश करने की आकांक्षा रखता था।

(घ) शिक्षा प्रारम्भ करने के पहले ही शिक्षक को शुल्क दे देने की था का प्रचलन हो गया था। 'सूत्रकाल' तक ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति में इस प्रथा का जन्म न हुआ था। पूर्ववर्ती स्मृतियों में गुरु की दक्षिणा शिक्षा समाप्त होने ही पर दिये जाने का आदेश है।

'मिलिन्द' में ब्राह्मण तथा बौद्ध शिक्षा के पाण्य–विषयों का भी संकेत मिलता है। ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में न केवल उन सभी विषयों का समावेश था, जिसका परिचय हमें भूतकाल में मिल चुका है, बल्कि इन विषयों में और भी नये विषय जुटे दीख पड़ते हैं। प्रमुख विषयों के नाम ये हैं:—

(१) चारो वेद, इतिहास, पुराण, छन्द, ध्वनि, पद्य, व्याकरण, ज्यौतिष, खगोल, छः वेदान्त, आकस्मिक घटनाओं के अध्ययन—अपशकुन, स्वप्न, कड़क तथा तारा टूटना, भूकम्प, ग्रहण, षड्रसायन, पक्षियों तथा जंतुओं की बोलियाँ। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक। संगीत, औषधि, मंत्र-तंत्र, युद्ध-विद्या, कवित्व।

विभिन्न कलाओं (सिप्पों) की संख्या १७ थी। क्षत्रियों के लिए हाथी, घोड़े, रथ, धनुष-वाण, तलवार आदि का विशेष ज्ञान अपेक्षित था। उंगुलियों की गांठों के सहारे हिसाब बनाना, सामान्य गणना, उपज आदि का अन्दाज लगाना, लेखम्, पत्र-लेखन आदि विषय भी प्रचलित थे।

बौद्ध भिक्खुओं के पाठ्य-विषय ये कहे गये हैं:—(१) बौद्ध धार्मिक साहित्य जो नौ भागों में विभाजित था। (२) मठों अथवा विहारों के निर्माण का व्यावहारिक ज्ञान (३) विहारों को दिये गये दान की सम्पत्ति का हिसाब-किताब तथा प्रबन्ध।

जातकों में तत्कालीन उच्च-शिक्षा पद्धति का स्पष्ट परिचय मिलता है। २५२ जातक में ब्रह्मदत्त नामक एक राजकुमार की उच्च शिक्षा का वर्णन है, जिससे सामयिक शिक्षा-पद्धति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। राजकुमार ब्रह्मदत्त बनारस के राजा का पुत्र था। १६ वर्ष की अवस्था में राजा ने अपने पुत्र को उच्च-शिक्षा के लिए तक्षशिला भेजने का निश्चय किया। ब्रह्मदत्त को उसने एक चप्पल, पत्तों का बना हुआ छाता (पण्ण छतं) तथा एक हजार मुद्रा देकर तक्षशिला जाने का आदेश दिया।

ब्रह्मदत्त माता-पिता से विदा लेकर यथासमय तक्षशिला पहुँच गया। शिक्षक के निवासस्थान का पता लगाकर वह उनके द्वार पर उपस्थित हुआ। शिक्षक व्याख्यान से लौटकर बाहर ही टहल रहे थे। ब्रह्मदत्त ने चप्पल उतार दिये, छाता बन्द कर दिया, तथा आचार्य को सम्मानपूर्वक दण्डवत् किया। शिक्षक ने देखा कि आगन्तुक किशोर थका है। उन्होंने उसे कुछ भोजन तथा विश्राम की आज्ञा दी। ऐसा करने के पश्चात् ब्रह्मदत्त आचार्य के सम्मुख पुनः उपस्थित हुआ।

शिक्षक ने पूछा—तुम्हारा निवासस्थान कहाँ है ?

ब्रह्मदत्त ने उत्तर दिया—"बनारस"।

किसके पुत्र हो तुम ?

विनीत स्वर में ब्रह्मदत्त ने कहा—मैं बनारस के नरेश का पुत्र हूँ, श्रीमन् !"

"तुम्हारे तक्षशिला आने का उद्देश्य ?"

"मैं शिक्षा ग्रहण के लिए शरणागत हूँ ! आचार्य।"

"शिक्षण शुल्क तुमने लाया है ? यदि नहीं तो तुम क्या मेरी शिक्षा के बदले मेरी सेवा के लिए प्रस्तुत हो ?"

"श्रीमन्! शुल्क प्रस्तुत है।" कहकर ब्रह्मदत्त ने हजार मुद्राओं की थैली गुरु के चरणों पर रख दी।

अब वह गुरु की शिक्षा का अधिकारी हो गया और उसे विधिवत् शिक्षा मिलने लगी।

ब्रह्मदत्त के इस आख्यान तथा जातकों में वर्णित अन्य आख्यानों से प्राचीन भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं।

१. भारत में उच्च शिक्षा के कई केन्द्र थे जिनमें तक्षशिला का स्थान सबसे ऊँचा था। भारत के लगभग सभी भूभागों से प्रतिभावान् तथा उत्साही युवक तक्षशिला में शिक्षा के हेतु आते थे। तक्षशिला की ख्याति का मुख्य कारण यहाँ के सुविख्यात आचार्य थे, जिनकी विद्वत्ता की धाक सारे देश में थी। ये शिक्षक अधिकतर अपने विषय की ही पूर्ण योग्यता रखते थे। वस्तुतः तक्षशिला तत्कालीन भारत की बौद्धिक राजधानी थी (intellectual capital) थी। सभी शिक्षा केन्द्रों से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर विशेष-शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र यहाँ आते थे।

२. तक्षशिला की शिक्षा १६ वर्ष की अवस्था से ही आरम्भ होती थी। इससे साफ है कि यह उच्च शिक्षा का केन्द्र था। आधुनिक विश्वविद्यालयों की प्रवेशक-अवस्था भी लगभग यही है।

३. शिक्षा का शुल्क सामान्यतः पहले ही ले लिया जाता था। यह शुल्क लगभग १००० प्रचलित मुद्राओं की होती थी। जो छात्र शुल्क नहीं दे सकते थे, उन्हें शारीरिक श्रम के रूप में शुल्क चुकाना पड़ता था। कुछ छात्रों को शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् भी शुल्क चुकाने की अनुमति मिलती थी। बनारस के एक छात्र ने ऐसा ही किया था तथा भिक्षा के द्वारा गुरु की दक्षिणा संगृहीत की थी। जो छात्र किसी भी रूप में शुल्क नहीं दे सकते थे, उनकी शिक्षा की व्यवस्था दान के द्वारा होती थी। बनारस के एक ऐसे सुविख्यात शिक्षक का वर्णन मिलता है, जिसके ५०० विद्यार्थियों का खर्च स्थानीय जनता के चन्दे से चलता था। विद्यालयों का खर्च 'सामूहिक भोज' से भी बहुधा कम हो जाता था। प्राचीन भारत की एक प्रचलित रीति के अनुसार विद्यालय के सन्निकट के धनीमानी लोग विद्यालय के सभी विद्यार्थियों को भोजन के लिए आमन्त्रित करते थे। सामान्य लोग भी सामूहिक रूप में इन विद्यार्थियों को इस तरह का भोज दिया करते थे। तक्षशिला के ५०० विद्यार्थियों को उपर्युक्त दोनों प्रकार के भोजों में आमन्त्रित किये जाने का वर्णन मिलता है। विद्यार्थी-भोज कुछ इतना पुनीत कार्य समझा जाता था कि बहुधा विद्यार्थियों के भोजन गृहस्थों के निमंत्रण से ही चल जाते थे।

४. कुछ साधनहीन पर प्रतिभासम्पन्न छात्रों को अपने राज्य के राजा की ओर से तक्षशिला के अध्ययन का खर्च मिलता था, जो कि राजकीय छात्रवृत्ति (State Scholarship) के समान ही था। विभिन्न देशों के राजकुमारों के साथ भी कुछ विद्यार्थी राज्यों की ओर से भेजे जाते थे, जिनका खर्च भी राज-कोष की ओर से मिलता था। बनारस तथा राजगृह के राजकुमारों के अनुगमन में कई ऐसे छात्र तक्षशिला भेजे गये थे।

इस तरह उच्च शिक्षा की प्राप्ति के कई साधन थे, जिनका उपयोग विद्यार्थी अपनी आवश्यकतानुसार किया करते थे। अर्थाभाव के कारण न पढ़नेवाले छात्रों की संख्या सम्भवतः बहुत सीमित थी। विद्यार्थियों के शुल्क के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। ये शुल्क गुरु के श्रम के पारिश्रमिक न थे किन्तु विद्यालय के खर्च के लिए संगृहित होते थे। विद्यालय के खर्च में छात्रों के भोजन, रहन-सहन आदि के खर्च का मद प्रधान था। गुरु के परिवार का खर्च तथा उनका वैयक्तिक खर्च स्वभावतः विद्यालय के खर्च में ही सम्मिलित था। फलतः छात्रों के शुल्क तथा दानादि से विद्यालय का संचालन होता था न कि केवल गुरु का भरण-पोषण।

५. साधारण छात्र गुरु के साथ ही छात्रावासों में रहा करते थे। किन्तु कुछ छात्र बाहर से भी शिक्षा ग्रहण के लिए आते थे। बनारस का राजकुमार जुण्ह तक्षशिला में स्वतन्त्र मकान में रहता था तथा वहीं से नित्य विद्यालय में जाकर शिक्षा ग्रहण करता था। कभी-कभी विवाहित गृहस्थ भी अपने घर में रहकर विद्यालय जाते थे तथा विद्याध्ययन करते थे। बनारस के किसी विद्यालय के एक ब्राह्मण युवक ने तीन वेदों तथा अन्य विषयों के अध्ययन के पश्चात् विवाह कर लिया था, किन्तु उसने विवाह के बाद भी विद्याध्ययन जारी रखा था। शिक्षक उसे वाह्य विद्यार्थी (external student) के रूप में विद्यालय में उपस्थित होने की अनुमति देते रहे। इसी नगर में अन्य प्रान्त के किसी ब्राह्मण विद्यार्थी को किसी रमणी से प्रेम हो गया, और उसने उससे विवाह कर लिया। शिक्षक ने उसका पढ़ना बन्द न किया। छात्रावास से बाहर नगर में वह अपनी नव-परिणीता के साथ रहता तथा वहीं से नित्य विद्यालय आकर शिक्षण ग्रहण करता था। कुछ शिक्षकों के यहाँ एक रीति प्रचलित थी, जिसके अनुसार वे अपने ज्येष्ठ तथा गुणवान् छात्रों से अपनी युवती कन्या का विवाह कर दिया करते थे। ये जामाता भी छात्रावास से बाहर रहकर इच्छानुसार अपना अध्ययन जारी रख सकते थे।

६. एक शिक्षक के अधीन ५०० से अधिक छात्र शिक्षित नहीं हो सकते थे। किन्तु ५०० छात्रों को शिक्षित करने वाले अनेक शिक्षक थे। स्पष्टतः किसी एक शिक्षक से ५०० छात्रों का शिक्षण सम्पादित नहीं हो सकता था, किन्तु विशेषकर उस शिक्षा-पद्धति में जो नितान्त वैयक्तिक थी। अतः ये शिक्षक प्रधान शिक्षक के रूप में ही कार्य करते होंगे। इन प्रधान शिक्षकों को कई सहायक शिक्षकों से सहायता मिलती थी जो "पिट्ठ आचार्य" कहे जाते थे। पिट्ठ आचार्य के पद पर योग्यतम तथा अनुभवी छात्र ही नियुक्त होते थे। इस नियुक्ति के बिना ही कुछ अनुभवी छात्र, छात्र की स्थिति में ही, अपने छोटे साथियों को पढ़ाया करते थे। तक्षशिला के एक शिक्षक ने अपनी बनारस-यात्रा के अवसर पर अपने छात्रों की शिक्षा का भार अपने प्रमुख छात्रों पर छोड़ दिया था। अन्य शिक्षक भी इस रीति को व्यवहृत करते थे। कुरु देश का एक राजकुमार अपने शिष्यत्व काल में शिक्षण-कला में निपुण हो गया। उसने अपने साथी बनारस के राजकुमार को पढ़ाना प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप वह साथी अन्य छात्रों की अपेक्षा कहीं आगे बढ़ गया।

७. छात्रों के सुविधानुसार दिन और रात दोनों ही समय में शिक्षा दी जाती थी। शुल्क देने वाले छात्र साधारणतया दिन में ही शिक्षा प्राप्त करते थे। जिन छात्रों के शुल्क का रूप शारीरिक श्रम था, वे दिन में अधिकतर काम-काज में ही लगे रहते थे। इनकी शिक्षा सामान्यतया रात में होती थी। छात्रावास से अलग रहने वाले विद्यार्थी भी बहुधा रात ही में शिक्षण प्राप्त करते थे। संभवतः उनके लिए यही समय अधिक उपयुक्त होता था। तक्षशिला का वाह्य-विद्यार्थी जुण्ह जिसका परिचय हमें पहले मिल चुका है, रात्रि में गुरु के घर से अपने घर को जाता हुआ दीख पड़ता है। बनारस का एक विद्यार्थी, जो कि किसी विशेष अध्ययन के लिए तक्षशिला गया था सर्फ एक रात की शिक्षा के लिए शिक्षक से प्रार्थना करता है।‡

८. जातकों में तक्षशिला के पाठ्य विषयों के विवरण कई स्थानों में मिलते हैं। सो सोलसवस्सुद्देसिको हुत्वा तक्कसिलायं सिप्पं उग्गहित्वा तिण्णं वेदानं पारंगन्त्वा अट्ठारसन्नं विज्जरठानं निप्फित्ति पापुणि।

यह कहा जा चुका है कि तक्षशिला की शिक्षा विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा थी, जिसमें विषय का विशेषीकृत अध्ययन होता था। उस शिक्षा को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(क) साहित्यिक (ख) वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक।

साहित्यिक शिक्षा में सभी धार्मिक साहित्य सम्मिलित थे। तीन वेद इस शिक्षा का आधारस्तम्भ था। अथर्ववेद वेद-मण्डल में शामिल न था। तीन वेदों को काण्ठस्थ किये बिना साहित्यिक शिक्षा पूरी हुई नहीं समझी जाती थी। स्वयं बोधिसत्व ने तीनों वेदों को कण्ठाग्र कर लिया था। इन वेदों के अतिरिक्त सभी प्रचलित धार्मिक साहित्य का अध्यापन होता था। इस साहित्य में ब्राह्मण साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध धार्मिक साहित्य भी सम्मिलित था। तक्षशिला के विद्वानों में एक "विनय का विद्वान तथा एक सूत्रों के विद्वान का परिचय भी मिलता है।"

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शिक्षा के विषयों में जातक पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं। संभवतः आठरह सिप्पों से उन्हीं विषयों का तात्पर्य है। मिलिन्द पण्ह में सिप्पो में चार वेद, पुराण, दर्शन, इतिहास, आदि भी सम्मिलित कहे गये हैं। कुछ वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विषयों

---

‡ मिलिन्द पण्ह १।६

के नाम जातको से उपलब्ध हुए हैं, जिनके अनुसार निम्नलिखित विषयों की शिक्षाएँ तक्षशिला में प्रचलित थीं ।

क—हाथी सुत्र
ख—तंत्र-मंत्र
ग—मृत को जीवित करने की विद्या
घ—आखेट विद्या ।
च—जन्तुओं की बोलियों की पहचान
छ—धनुर्विद्या
ज—वशीकरण-विद्या अथवा कामतन्त्र
झ—औषधि ।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शिक्षाओं में व्यावहारिक प्रयोग भी व्यवहृत होते थे । उदाहरणार्थ चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा में जड़ी-बूटियों तथा पेड़-पौधों के पर्यवेक्षण तथा उनके औषधि सम्बन्धी गुणों की व्यावहारिक परीक्षा होती थी । आगे जीवक के जीवन-वृत में इसका पूर्ण परिचय प्राप्त होगा । धनुर्विद्या के छात्रों को अपनी व्यावहारिक निपुणता का परिचय राजदरबार तथा अन्य सुप्रसिद्ध स्थलों में देना होता था । जातकों में कई ऐसे तक्षशिला के छात्रों का विवरण मिलता है जो कि विश्वविद्यालय के स्नातक के रूप में अपनी कला का प्रदर्शन घूम-घूम कर करते थे तथा इस तरह अपने ज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग के अनेक अवसर भी प्राप्त करते थे ।

१०. तक्षशिला तथा अन्य शिक्षा केन्द्रों में पुस्तक पढ़ने की रीति प्रचलित हो गयी थी । पठित पाठों की आवृत्ति के प्रसंग में कई विद्यार्थी ऊँघते हुए देखे जाते हैं ।* स्वयं बोधिसत्व ने किसी धर्म पुस्तक को लिखित रूप दिलवायी थी तथा उस पुस्तक के उपयोग का आदेश दिया था ।† इससे स्पष्ट है कि शिक्षालयों में लेखन-कला का व्यवहार होने लगा था और शिक्षा-प्राप्ति का एक आवश्यक माध्यम यह माना जाने लगा था । एक उद्धरण में यह भी कहा गया है कि किसी धनी व्यक्ति के पुत्र के साथ उसका बाल भृत्य भी लिखना सीख गया जो कि अपने मालिक की सामग्रियों को लेकर शिक्षक के यहाँ आया करता था ।

* जातक—३,२६२
† ,, —१,४५१

११. तक्षशिला विश्वविद्यालय में ऊँच-नीच का भेदभाव न था। शुल्क देने वाले धनी-मानी विद्यार्थी तथा शारीरिक श्रम करने वाले निर्धन विद्यार्थी दोनों ही को एक ही प्रकार का सामान्य जीवन व्यतीत करना होता था। भोजन, वस्त्र, रहन-सहन आदि सबों के लिए एक ही तरह के होते थे। राजकुमारों के पास कोई वैयक्तिक कोष न होता था, जिसके द्वारा आनन्द तथा सुख की सामग्रियाँ खरीद सकें। बनारस का राजकुमार एक चप्पल, कुछ सामान्य कपड़े तथा पत्तों के छाता के साथ ही विश्वविद्यालय में दाखिल हुआ था। हजार रुपये की थैली तो उसने गुरु को ही दे दी थी। बनारस के एक दूसरे राजकुमार जुण्ह को इतने पैसे न थे कि वह अपने साथी को एक कमण्डल का मूल्य चुका देता, जिसे उसने भूल से रात्रि के अन्धकार में तोड़ दिया था। इस साथी को उसने घर लौट कर मूल्य चुकाने की प्रतिज्ञा की थी।

१२. अनेक छात्रों को उच्चतम शिक्षा-केन्द्रों के अध्ययन के पश्चात् भी मानसिक तुष्टि न होती थी। ये छात्र संसार का त्याग कर किसी प्रख्यात तपस्वी के आश्रम में रहकर सत्य की खोज में अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर देते थे। आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त कर के स्वयं तपस्वी बन जाते थे। ऐसे तपस्वियों एवं संन्यासियों के वर्णन जातकों में हैं। इनका निवास स्थान साधारणतः हिमालय का निर्जन वन प्रान्त हुआ करता था। किन्तु वहाँ भी सैकड़ों जिज्ञासु पहुँच जाते थे। किसी किसी आश्रम में तो ५०० से भी अधिक संन्यासी रहा करते थे। कभी-कभी संन्यासियों के आश्रम जनपद के सन्निकट भी अवस्थित होते थे।

व्यावसायिक शिक्षा—महावग्ग के एक उद्धरण में कुछ अकर्मण्य भिक्षुओं को इन शब्दों में भर्त्सना की गई है "ऐ भिक्षुओं! सामान्य जन भी, जो कि उजले वस्त्र में अपने जीविकोपार्जन के लिए किसी कारीगरी की शिक्षा प्राप्त करते हैं, अपने शिक्षक के प्रति सम्मान, स्नेह तथा सेवा का भाव रखते हैं।" स्पष्टतः इस उद्धरण का तात्पर्य उन व्यावसायिक शिक्षा के विद्यार्थियों से है जो अपने कारीगर शिक्षक से व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करते थे। इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि बौद्धात औद्योगिक शिक्षा में शिक्षक तथा शिक्षित सम्बन्ध, वैदिक काल की तरह ही, अत्यन्त स्नेहपूर्ण रहता था। औद्योगिक शिक्षा के प्रमुख विषय कताई, बुनाई, सिलाई तथा मकान बनाने की

रीति थे। यह कहा जा चुका है कि इन उद्योगों की शिक्षा संघ के भिक्षुओं को भी प्रासंगिक रूप में दी जाती थी, ताकि वे वस्त्र-सम्बन्धी अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर सकें तथा संघ के विहारों को उचित रूप से बनवा सकें। महावग्ग में गृहस्थों के कुछ अन्य उद्योगों का वर्णन भी मिलता है जिनसे वे अपने जीविकोपार्जन किया करते थे। गणना (हिसाब किताब) तथा रुपम (चित्रकारी) आदि अर्थोपार्जन के कुछ प्रचलित साधन थे।†

औषधि:—"विनय" तथा अन्य बौद्ध साहित्य में औषधि विज्ञान का प्रचुर विवरण मिलता है। इन विवरणों से यह पता चलता है कि ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व प्राचीन भारत में औषधि-विज्ञान पूर्णतः विकसित हो चुका था। भारतीय चिकित्सक न केवल औषधि शास्त्र में पारंगत होते थे, बल्कि वे शल्य-विद्या में भी पूर्णतः अभ्यस्त रहते थे। "विनय" में जीवक नामक एक वैद्य का विस्तृत विवरण मिलता है, जिससे तत्कालीन औषधि शास्त्र की उन्नत स्थिति पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है तथा इस व्यवसाय की शिक्षा-व्यवस्था की भी पूरी जानकारी प्राप्त होती है। संक्षेप में जीवक का जीवन वृत्त यह है:—

जीवक राजगृह की सालवती नामक राज-परिचारिका का पुत्र था। जन्म लेते ही वह कूड़े की ढेर पर फेंक दिया गया था। किन्तु राजकुमार अभय ने उसकी प्राण रक्षा की और उन्हीं के द्वारा उसका पालन पोषण हुआ। बड़े होने पर जीवक को किसी विषय के ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा हुई ताकि वह किसी राजपरिवार में रहकर प्रतिष्ठा-पूर्वक जीवकोपार्जन कर सके। इस उद्देश्य से वह तक्षशिला पहुँचा। उसने किसी विख्यात औषधि-वेत्ता के शिष्यत्व में औषधि विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण उसने सुगमता से औषधि विज्ञान की बहुत-सी बातें शीघ्र ही सीख लीं। सात वर्ष के अध्ययन के पश्चात् उसकी योग्यता की परीक्षा के लिए शिक्षक ने एक रीति सोची। "वत्स! कुदाल लेकर तक्षशिला के चारो ओर एक योजन तक परिभ्रमण करो। जिन पौधों में औषधि के गुण न हों उन्हें कोड़ लाओ।" यह था गुरु का जीवक को आदेश। जीवक ने गुरु के आज्ञानुसार एक योजन तक सारी भूमि छान डाली। किन्तु उसे ऐसा कोई भी पौधा न दीख पड़ा, जिसमें

† महावग्ग—१।४६

औषधि के कुछ न कुछ गुण न भरे हों। हत-प्रभ होकर वह गुरु के सम्मुख सिर्फ कुदाल के साथ उपस्थित हुआ और विनम्र होकर बोला--"गुरुवर ! औषधि-विहीन मुझे कोई भी पौधा नहीं मिला।" क्रोधित होने के बदले गुरु अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा बोले "प्रिय जीवक ! तुम्हारी शिक्षा पूरी हो गई, अब तुम घर वापस जा सकते हो।" राह खर्च के लिए उन्होंने जीवक को कुछ रुपये भी दिये, जो कि साकेत (अयोध्या) पहुँचते पहुँचते समाप्त हो गये। अब जीवक को अपनी कला के उपयोग के अतिरिक्त घर पहुँचन का कोई दूसरा उपाय न था। साकेत के किसी धनी सेठ की स्त्री सात वर्षों से मस्तिष्क की किसी व्याधि से पीड़ित थी। उसकी चिकित्सा कई विख्यात वैद्यों ने की थी, किन्तु वह अच्छी न हो सकी थी। जीवक को अपनी योग्यता के प्रयोग तथा परीक्षा का अच्छा अवसर था। किन्तु उसे जानता था कौन ? किसी तरह वह सेठ के पास पहुँचा। बीमारी अच्छा होने पर पारिश्रमिक लेने की शर्त्त पर उसे चिकित्सा करने की अनुमति मिली। थोड़े से घी में उन्होंने कुछ औषधियाँ पकवायीं तथा नाक के द्वारा रोगी के मस्तिष्क में इसे प्रवेश कराया। एक ही खुराक में मरीज अच्छी हो गई। सेठ ने उन्हें १६ सहस्र मुद्राएँ, घोड़ा गाड़ी, कुछ घोड़े तथा दो भृत्य पुरस्कार में दिये। जीवक ने इन सभी वस्तुओं को राजकुमार अभय को, जिसने उनकी प्राण-रक्षा तथा पालन-पोषण किया था, राजगृह पहुँच कर समर्पित कर दिया। मगध-नरेश बिम्बिसार की भगन्दर बीमारी उसने मलहम के द्वारा अच्छी कर दी। तब से वह राज्य-वैद्य और बुद्ध और उनके संघ का वैद्य नियुक्त हुआ। राजगृह के एक सेठ को जीवक ने मस्तिष्क की भयंकर बीमारी से मुक्त किया। इसमें उसे बीमार के मस्तिष्क को चीरना पड़ा। उन्होंने सेठ को बिस्तर पर लिटा दिया, उसके हाथ पैर बांध डाले, मस्तिष्क को दो भागों में चीर डाला, चीरे हुए स्थान के भीतर से मांस निकाला, इसमें से दो कीड़े निकाले, घाव को सी दिया और मलहम लगा दिया। बनारस के एक सेठ के लड़के की चिकित्सा के लिए जीवक की बुलाहट हुई। उसकी अंतड़ियाँ एक दूसरे से गुँथ गयी थीं, जिसके कारण न उसे भोजन पचता था, न नियमित शौच होता था। "जीवक ने मरीज का पेट चीर डाला, और उससे गुँथी हुई अंतड़ियाँ बाहर निकाली तब उसने अंतड़ियों को सीधा कर उनकी गुत्थयां दूर कीं, पुनः उसको पेट में यथा-स्थान रख दिया, चीरन को सी डाला और मलहम लगा दिया।" कुछ ही दिनों में मरीज का

घाव अच्छा हो गया और उसकी व्याधि भी दूर हो गई। उसके पिता ने उन्हें १६ सहस्र मुद्राओं से पुरस्कृत किया। जीवक ने अन्य कई कड़ी बीमारियां विभिन्न प्रदेशों में अच्छी कीं। स्वयं महात्मा बुद्ध की चिकित्सा कई बार उसने की।

जीवक के उपर्युक्त जीवन-वृत्तान्त से औषधि विज्ञान सम्बन्धी कई निष्कर्ष निकलते हैं:—

(१) जीवक के समय में भारत में औषधि-विज्ञान तथा चिकित्सा-शास्त्र बहुत उन्नत अवस्था में था। भारतीय वैद्य न केवल कठिन बीमारियों की पहचान तथा चिकित्सा करते थे, बल्कि वे शल्य-शास्त्र में भी पूर्णतः अभ्यस्त थे। चीरे हुए घाव को आराम करने के लिए उन्हें ऐसे मलहम ज्ञात थे, जो कि कीटाणुनाशक तथा आरोग्यप्रद दोनों ही थे।

(२) औषधि विज्ञान का अध्ययन यथेष्ट रूप में प्रचलित था। भारत के सभी प्रमुख नगरों में सुविख्यात वैद्य वर्तमान थे।

(३) तक्षशिला औषधि-विज्ञान की शिक्षा का सबसे सुविख्यात केन्द्र था, जहाँ राजगृह ऐसे सुदूर स्थानों से भी इसकी शिक्षा के लिए प्रतिभाशाली युवक जाया करते थे। तक्षशिला की औषधि-शिक्षा ७ वर्षों की होती थी जिसके उपरान्त छात्रों की अन्तिम परीक्षा होती थी। इस परीक्षा का उद्देश्य पेड़-पौधों तथा जड़ी-बूटियों के औषधि सम्बन्धी गुणों की पूर्ण जानकारी की जाँच होती थी। परीक्षा में सफल होने पर गुरु की ओर से विद्यार्थियों को घर जाने का आदेश मिलता था।

(४) यातायात की कठिनाई के बावजूद भी सुविख्यात वैद्य कठिन बीमारियों की चिकित्सा के लिए दूर-दूर देशों की यात्रा करते थे।

(५) सुयोग्य वैद्यों का पारिश्रमिक आधुनिक डाक्टरों की अपेक्षा कहीं अधिक था।

औषधि-विज्ञान की समुन्नत अवस्था की पुष्टि "मिलिन्द पण्ह" के विवरण से भी होती है। इसमें औषधि-विज्ञान के पुराने आचार्यों की सूची दी गई है। नारद, धन्वंतरि, अंगिरस, कपिल आदि परवर्ती आचार्य थे जिनमें प्रत्येक ने औषधि-विज्ञान को अपना बहुमूल्य ज्ञान दिया। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन कई विभागों में विभक्त था—व्याधि की उत्पत्ति, इसका कारण, इसका

स्वभाव, इसकी औषधि, चिकित्सा की रीति, रोगी का प्रबन्ध। औषधि-विज्ञान के छात्रों को किसी सुयोग्य शिक्षक से शिक्षा लेनी चाहिये। शिक्षक को उसे पहले ही शुल्क दे देना चाहिए। असमर्थता की हालत में वह शारीरिक श्रम के रूप में शुल्क अदा कर सकता है। गुरु की संरक्षकता में उसे चिकित्सा की सभी विधियों की पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी चाहिए तथा 'चीर-फाड़' के सभी नियमों की पूरी जानकारी रखनी चाहिए। छुरी पकड़ना, घाव चीरना, घाव धोना, सुखाना तथा मलहम लगाना आदि सभी प्रक्रियाओं की व्यावहारिक शिक्षा भी उसे लेनी होती थी।

जातकों में भी कई चिकित्सकों का वर्णन है, जिन्होंने कठिन बीमारियां अच्छी की थीं। बनारस का एक वैद्य परिवार सांप काटने की दवा में विशेष योग्यता रखता था। एक सुप्रसिद्ध वैद्य ने बनारस के राजा को शूल की कठिन बीमारी से मुक्त किया था। सीवक नामक किसी चिकित्सक को राजा सिवि की आंखें निकालने की आज्ञा दी गई। सीवक ने किसी अस्त्र का प्रयोग न किया, बल्कि कुछ जड़ी-बूटी के चूर्णों को नीले कमल के रस में मिला कर सिवि के आंखों के ऊपर लगा दिया। सिवि की आंखें स्वतः बाहर निकल आईं।

आठवाँ अध्याय

बौद्ध शिक्षा-पद्धति का परवर्ती रूप

गत अध्याय में बौद्ध शिक्षा-पद्धति के मूल स्वरूप का विवेचन किया है, बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ-साथ बौद्ध संघ के स्वरूप में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी था और फलतः बौद्ध शिक्षा पद्धति में भी महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। अब तक बौद्ध संघ केवल बौद्ध भिक्खुओं की शिक्षा की व्यवस्था करता था और यह शिक्षा प्रधानतः धार्मिक थी।* संघ के सामूहिक अनुशासन में बौद्ध भिक्खु अपने उपाध्याय से धर्म्म की मानसिक जानकारी तथा नैतिक आचरण की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करते थे। इन भिक्खुओं की शिक्षा में भौतिक विषयों (Secular subjects) का सन्निवेश न था। जो भी दो एक भौतिक विषय भिक्खुओं को जानने उचित समझे जाते थे वे सर्वथा प्रासंगिक थे। किन्तु कालान्तर में बौद्ध संघ की शिक्षा केवल धार्मिक बातों तक ही सीमित न रही, बल्कि इस शिक्षा में भौतिक विषय भी सम्मिलित होने लगे। सांसारिक विषयों का ज्ञान धार्मिक शिक्षा का एक अंग-सा बन गया और धार्मिक तथा भौतिक दोनों ही विद्याओं से विभूषित भिक्खु 'बहुश्रुत' कहलाने लगे। इसका भी प्रमाण है कि कुछ बौद्ध भिक्खु राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी वाद-विवादों में, जो कि राजाओं के द्वारा आयोजित होते थे, सफलतापूर्वक भाग लेते थे तथा राज-दरबार की नौकरी की आकांक्षा रखते थे।† वस्तुतः बौद्ध भिक्खुओं को संसार में वापस लौटने की अनुमति शुरू से थी। आगे चलकर इस अनुमति का पूर्ण उपभोग होने लगा और अस्थायी भिक्खुओं की संख्या बढ़ने लगी। राजा भर्तृहरि के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने सात बार संघ में प्रवेश किया और सात बार संसार में लौट आये।‡ संघ के पाठ्य-विषयों के विस्तार का एक बड़ा कारण ब्राह्मण

* Keay—Indian Education in Ancient and Later Times. —P. 91.

† Keay—Indian Education in Ancient and Later Times. —P. 184-88.

‡ I-Tsing—P. 179.

विद्यालयों का प्रभाव था, जिससे संघ अपने को वंचित न रख सका। हम दे चुके हैं कि ब्राह्मण-विद्यालयों के पाठ्य-विषयों में अनेक भौतिक विषय भी सम्मिलित हो गये थे। धार्मिक विषयों के विस्तार के साथ-साथ इन विद्यालयों के भौतिक विषयों में भी काफी वृद्धि हो गई थी। संघ की मर्य्यादा तथा प्रभुत्व को अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि बौद्ध भिक्खुओं को भी उन सभी विषयों की शिक्षाएँ दी जायँ, जो कि साधारणतया ब्राह्मण-विद्यालयों में प्रचलित थीं। प्रतिष्ठित भिक्खुओं के लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन भी आवश्यक माना जाता था ताकि वे शास्त्रार्थों में विजयी हो सकें तथा अपने "धम्म" की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर सकें।

अब तक संघ की शिक्षा-पद्धति में बौद्ध मतावलम्बी सामान्य जनता के बच्चों की शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। संघ केवल भिक्खुओं की शिक्षा का प्रबन्ध करता था जो कि विहारों अथवा मठों में संघ के सदस्य के रूप में रहते थे। सामान्य जनता के प्रति संघ का केवल इतना उत्तरदायित्व था कि संघ के भिक्खु अपने परिभ्रमण अथवा अन्य किसी अवसर पर उपासकों को धार्मिक उपदेश दिया करें। किन्तु इन उपासकों के बच्चों की सांसारिक शिक्षा के लिए संघ की ओर से किसी तरह की व्यवस्था नहीं थी। फलतः बौद्ध धर्मानुयायी भी अपने बच्चों की सामान्य तथा व्यावसायिक शिक्षा (gencral and vocational education) के लिए तत्कालीन ब्राह्मण-विद्यालयों अथवा अन्य संस्थाओं पर ही आश्रित थे। बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ यह स्थिति स्वभावतः अव्यावहारिक हो गई और संघ को अपने मतानुयायियों के लिए सांसारिक शिक्षा की व्यवस्था भी करनी पड़ी। इन सांसारिक विद्यार्थियों को 'ब्रह्मचारी' की संज्ञा दी जाती थी। इनके अतिरिक्त संघ की शिक्षा का द्वार उनके लिए भी खोल दिया गया जो कि अन्य धर्मावलंबी थे, किन्तु बौद्ध धर्म ग्रहण करने की आकांक्षा रखते थे। इनके लिए धार्मिक शिक्षा के प्रवेशक संस्कारों का सम्पादन करना आवश्यक न समझा जाता था। जनसामान्य के उजले वस्त्र में ही उन्हें संघ में अंगीकार किया जाता था ताकि वे कुछ समय के बाद भिक्खु के पीले वस्त्र में उपस्थित हो सकें। ये संभावित भिक्खु "मानव" कहे जाते थे। इन दोनों तरह के विद्यार्थियों को विहार में रहने की अनुमति दी जाती थी, किन्तु इन्हें साधारणतया अपने भोजन का खर्च देना पड़ता था। * संघ की

* I-Tsing—P. 105.

ओर से इनके लिए तभी व्यवस्था हो सकती थी, जब ये संघ की सेवा में आवश्यकतानुसार शारीरिक श्रम देने के लिए प्रस्तुत रहते थे। कुछ साधनहीन छात्र ऐसा करते थे। ईत्सिङ्ग के अनुसार इन सांसारिक विद्यार्थियों की शिक्षा-व्यवस्था से इन विद्यार्थियों तथा संघ दोनों ही को लाभ था।"एक ओर भिक्खुओं को दँतवन का प्रबन्ध करने तथा भोजन के समय सेवा करने के लिए सेवक मिल जाते थे, दूसरी ओर इनकी शिक्षा से विद्यार्थियों में पवित्र भावनाएँ उत्पन्न हो सकती थीं। इस तरह दोनों को लाभ था"। *

अस्तु, परवर्ती बौद्ध विहारों में न केवल पुराने श्रमण तथा नवागत भिक्खु शिक्षा-ग्रहण करते थे, बल्कि इनमें ऐसे सामान्य छात्र भी शिक्षा ग्रहण करते थे, जिनका उद्देश्य भौतिक शिक्षा-प्राप्त कर गृहस्थ जीवन व्यतीत करना था। इसवी शती पहले के लगभग से ही बौद्ध संघ जन-सामान्य की शिक्षा के लिए कटिबद्ध-सा हो गया। † अपनी शिक्षा का वृत्त विस्तृत करने की प्रेरणा बौद्ध संघ को ब्राह्मण विद्यालयों से प्राप्त हुई जिनमें पुरोहितों के अतिरिक्त सामान्य छात्र भी शिक्षा ग्रहण करते थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म की जनवादी व्यवस्था में शिक्षा के वृत्त को संकीर्ण रखना सर्वथा असंगत होता। ‡ कारण जो भी हो, बौद्ध शिक्षा पद्धति अपनी प्रौढ़ावस्था में एक उदार शिक्षा-पद्धति में परिलक्षित हुई, जिसमें सभी धर्म तथा सभी श्रेणी के लोग अपनी इच्छानुसार धार्मिक अथवा सांसारिक विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस तरह देश के असंख्य बौद्ध-विहार शिक्षा तथा संस्कृति के केन्द्र बन गये, जहाँ से प्रकाश की रश्मियाँ देश-विदेश में सतत विकीर्ण होती रहती थीं। अपनी सहानुभूति तथा बहुमूल्य सेवा का वृत्त अपने धर्म तक सीमित न रखकर बौद्ध विहारों ने एक उदार तथा जनवादी स्वरूप विकसित किया और देश के शिक्षा-प्रसार के कार्य में जन-शिक्षा-निर्देशक का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। §

---

* I-Tsing—P. 106.

† Buddhism threw itself heart and soul into the cause of the general education of the whole community from about the beginning of Christian era.

Altekar—Education in Ancient India.—P. 230.

‡ R. K. Mookerji—Ancient Indian Education.—P. 546.

§ Not confining their sympathies and valued services within the limited boundaries of church and faith, they thus

परवर्ती बौद्ध शिक्षा पद्धति में पाठ्य-विषयों के विस्तार तथा उनके विशेषीकरण की प्रवृत्ति भी यथेष्ट रूप में परिलक्षित हुई । बौद्ध धर्म के प्रसार के फलस्वरूप इसके अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गयी । किन्तु अधिकांश अनुयायी इस धर्म के आदर्शों के अनुसरण में असमर्थ थे । फलतः बौद्ध धर्माचार्यों के सामने एक बड़ी समस्या उपस्थित हो गई । यदि आदर्शों की रक्षा की जाती, तो धर्म को अपने अधिकांश अनुयायियों का परित्याग करना पड़ता । इसके लिए बौद्ध-आचार्य प्रस्तुत न थे । किन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे, जो धर्म के मूल आदर्शों को अक्षुण्ण रखना चाहते थे । ऐसी स्थिति में वौद्ध धर्म को दो भागों में विभक्त होने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा न था । बहुसंख्यक लोगों ने कट्टरपंथियों का साथ छोड़कर अपना नया सम्प्रदाय कायम किया, जो 'महायान' के नाम से विख्यात हुआ । जो लोग पुरानी लीक पर डटे रहे, उनके दल अथवा सम्प्रदाय का नाम 'हीनयान' पड़ा । हीनयान तथा महायान के शाब्दिक अर्थ हैं छोटी गाड़ी तथा बड़ी गाड़ी । वस्तुतः हीनयान के द्वारा थोड़े से ही लोग अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं । महायान अथवा बड़ी गाड़ी अधिक लोगों को लक्ष्य तक पहुँचा सकती है । इन दो मूल सम्प्रदायों अथवा शाखाओं की भी कई उपशाखाएँ हुई । "सोगेन के अनुसार हीनयान की २१ शाखाएँ तथा महायान की ८ शाखाएँ हैं । इनके अतिरिक्त और भी अप्रख्यात शाखाएँ हैं ।" १ इन उपशाखाओं में ४ के नाम बहुत ही विख्यात हैं—(१) माध्यमिक अथवा शून्यवादी, (२) योगाचार अथवा विज्ञानवादी, (३) वाह्यानुमेयवादी या सौत्रांतिक तथा (४) वाह्य-प्रत्यक्षवादी वा वैभाषिक ।२ बौद्ध धर्म की इन शाखाओं तथा उपशाखाओं के कारण बौद्ध संघ भी इन शाखाओं तथा उपशाखाओं में विभक्त हो गया । इस विभाजन के कारण प्रत्येक संघ अपने सम्प्रदाय-विशेष के अध्ययन तथा परिपुष्टि में संलग्न रहने लगा । हीनयानी संघ बौद्ध धर्म के मूल आदर्शों के संरक्षण तथा प्रसार में ही व्यस्त रहने लगे । इन संघों में हीनयानी सम्प्रदाय के अध्ययन के विशेषीकरण की प्रवृत्ति जागृत हुई । इसी तरह महायानी संघ महायान के सिद्धान्तों के विशेष अध्ययन की ओर प्रवृत्त होने लगे । अध्ययन के विशेषीकरण के साथ-साथ पाठ्य-विषयों का विस्तृतीकरण भी यथेष्ट हुआ । खासकर महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत कई प्रकार के विषय अध्यापित होने लगे । महायान में अन्य धर्मों की बातों का समावेश अधिक हुआ । फलतः महायानी

---

became the Directors of Public Instruction in the country.
R. K. Mookerji—Ancient Indian Education.—P. 546.

संघों में बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य धर्मों के साहित्य के अध्ययन भी प्रचलित हो गये। अध्ययन-अध्यापन का माध्यम स्वभावतः पाली तक सीमित न रह सका। परवर्ती बौद्ध विद्यालयों में संस्कृत का व्यवहार प्रचुरता से होने लगा। परवर्ती बौद्ध-साहित्य भी अधिकांशतः इसी भाषा में निर्मित हुए। इस तरह पाठ्य-विषय, विशेषीकृत अध्ययन, शिक्षण का माध्यम आदि बातों में परवर्ती बौद्ध विद्यालय बहुत-कुछ ब्राह्मण विद्यालयों की पद्धति पर ही परिचालित होने लगे।

चीनी यात्रियों के अनुसार बौद्ध शिक्षा

बौद्ध शिक्षा-पद्धति के परवर्ती स्वरूप के इस सामान्य विवेचन के पश्चात् हम उन तीन चीनी यात्रियों का विवरण प्रस्तुत करते हैं, जिन्होंने बौद्ध धर्म की आँख-देखी जानकारी तथा बौद्ध पुस्तकों के अध्ययन एवं संग्रह के लिए भारत की यात्रा की थी। इन विवरणों से हमें बौद्ध-शिक्षा के प्रसार तथा विकास का एक क्रम-बद्ध परिचय प्राप्त होगा तथा अन्य ऐतिहासिक बातों की जानकारी होगी, जो कि विषय से असंबद्ध न होंगे। वस्तुतः इन यात्रियों के वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से अन्य सामग्रियों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हैं। बौद्ध धार्मिक साहित्य के अध्ययन से जो बातें हमें मालूम होती हैं, वे अधिकांशतः वर्ण्य वस्तु का आदर्श स्वरूप उपस्थि करती हैं, वास्तविक स्वरूप नहीं। धार्मिक नियमों के अनुसार शिक्षा-पद्धति कैसी होनी चाहिए इसका ही संकेत हमें मिलता है। किन्तु इस आदर्श पद्धति का व्यावहारिक रूप कैसा था इसका पूरा परिचय हमें नहीं मिलता। दृष्टान्त के रूप में जो दस-बीस घटनाएँ वर्णित हैं, उनसे किसी ऐतिहासिक तथ्य का निर्धारण नहीं होता। चीनी यात्रियों के वर्णन सुने-सुनाये अथवा पढ़े-पढ़ाये नहीं अपितु अपनी आँख-देखी हुई स्थितियों अथवा घटनाओं से सम्बन्धित हैं। अतः उनके वर्णन को हम अधिक निश्चितता के साथ वास्तविक वर्णन मान सकते हैं। इन वर्णनों का मूल्य और भी बढ़ जाता है जबकि वे उन वर्णनों से मेल खा जाते ह जो कि धार्मिक ग्रंथों में नियम के रूप में लिखित हैं।

जिन तीन चीन यात्रियों ने भारत का पूर्ण परिभ्रमण कर इतिहास के लिए अपनी अमूल्य निधियाँ छोड़ रखी हैं उनका संक्षिप्त परिचय यह हैः—

(१) फाहियान (फासियान)।

१—इसने भारत की यात्रा ५वीं शताब्दी में की थी। वह सुप्रसिद्ध भारतीय गुरु कुमारजीव का शिष्य था। भारत प्रस्थान के समय कुमारजीव ने उससे कहा था "केवल धार्मिक विषयों तक ही अपने पर्यवेक्षण तथा अध्ययन को सीमित न रखना। भारतवासियों की रीति-नीति तथा उनके रश्म-रिवाजों की भी जानकारी प्राप्त करना; ताकि भारत का समग्र चित्र चीन को प्राप्त हो सकेगा।* भारत-यात्रा के लिए फाहियान ने कुछ उत्साही चीनी भिक्षुओं का एक दल तैयार किया। इस दल का नेतृत्व उसने स्वयं ग्रहण किया। मार्ग में उसे तातार जाति का एक और बौद्ध मिल गया जो भारत आने के लिए उत्सुक था। कुछ दूर जाने के बाद उसे पाँच भिक्षुओं के एक और दल से मुलाकात हुई। सभी भिक्षुओं ने अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए 'पुण्यभूमि' भारत के दर्शन कियें। फाहियान के परिभ्रमण में कुल मिला कर १५ वर्ष (३९९–४१० ई०) लगे थे। प्रस्थान के समय में मध्य भारत पहुँचते-पहुँचते उसे ६ वर्ष लग गये। पूरे ६ वर्ष उसने विभिन्न बौद्ध केन्द्रों में व्यतीत किये और ३ वर्ष उसकी वापसी यात्रा में लगे। पाटलिपुत्र में उसने बौद्ध तथा ब्राह्मण साहित्य का अध्ययन भी किया। अपनी यात्रा में फाहियान ने लगभग ३० देशों का परिभ्रमण किया। इन सभी देशों में बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव तथा बौद्ध भिक्षुओं को देखकर वह स्तब्ध रह गया था। अपने देश लौट कर उसने भारतीय संस्कृति का जो विवरण उपस्थित किया, उससे प्रभावित होकर चीनी यात्रियों का एक ताँता सा बंध गया, जो प्राकृतिक तथा मानवीय कठिनाइयों के होते हुए भी भारत की ओर कई शताब्दियों तक आकृष्ट होता रहा। हुएनत्सांग तथा ईत्सिङ्ग इन यात्रियों के प्रतिनिधि मात्र थे।

हुएन-त्सांग (चूआन-च्वांग)

फाहियान के लगभग २०० वर्ष के बाद ७वीं शती ई० में हुएनत्सांग की इतिहास प्रसिद्ध यात्रा प्रारम्भ हुई थी। उस समय चीन में सुप्रसिद्ध शुंग-वंश का आधिपत्य था तथा भारत में सम्राट् हर्षवर्द्धन की जय ध्वनि

* Nehru—Discovery of India.—P. 172.

गूंज रही थी । गोबी मरुभूमि तथा तुरफान, तस्खंद, समरकंद, बालख आदि देशों को पार करता हुआ हुएन-त्सांग उत्तर पश्चिमी मार्ग से हिमालय पार कर भारत पहुँचा था । मध्य एशिया तथा उत्तरी भारत के परिभ्रमण में उसे सोलह वर्ष (६२६–६४५) लगे थे । अपनी यात्रा में उसे अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी थीं, कई बार उसकी जान भी खतरे में पड़ गयी थी । घने जंगलों, गगनचुम्बी वर्फीली चोटियों तथा जलहीन उत्तप्त मरुभूमियों आदि को पार करता हुआ वह अदम्य यात्री भारत पहुँच सका था । मार्ग में उसे ५ दिन-रात पानी की एक बूंद भी पीने को नहीं मिली ।

भारत पहुँचने पर उसकी यात्रा अपेक्षाकृत सुगम रही, किन्तु यहाँ भी वह खतरों से बरी नहीं था । एक बार उसकी सारी सामग्री डकैतों ने लूट ली । दूसरी बार गंगा में नाव से यात्रा करते हुए कनौज के आगे जल-डाकुओं द्वारा उसकी नाव पकड़ ली गई । उन्होंने उसे नर-बलि के लिए बहुत ही उपयुक्त समझा । किन्तु अकस्समात वायुमण्डल कम्पित हो उठा और भयंकर तूफान बहने लगा । डाकुओं ने इसे ईश्वरीय कोप माना और भयातुर होकर हुएनत्सांग को मुक्ति दे दी । लौटती बार हुएनत्सांग की सुरक्षा के लिए सम्राट् हर्षवर्द्धन ने एक रक्षक कटक उसके साथ भेजा था, जिसने उसे भारतीय सरहद तक निर्विघ्न पहुँचा दिया । हुएनत्सांग ने लगभग समग्र भारत का परिभ्रमण किया तथा लोगों के धार्मिक तथा सामाजिक बातों का पूर्ण अध्ययन किया । नालन्दा विश्वविद्यालय में कई वर्ष विद्यार्थी के रूप में इसने व्यतीत किया और यहीं से धर्माचार्य की उपाधि प्राप्त की और विश्वविद्यालय का उपकुलपति नियुक्त हुआ । अपने देश के लिए हुएनत्सांग ने ६५७ बौद्ध धार्मिक पुस्तकें, सोने, चाँदी, संगमर्मर, चन्दन आदि के बने हुए महात्मा बुद्ध के कई स्मारकों को संगृहीत किया था । ये सभी वस्तुएँ २४ घोड़ों पर लदीं उसकी स्वदेश-यात्रा में अनुगमन कर रहीं थीं । * किन्तु दुर्भाग्यवश उसकी बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ सिन्धु नदी पार करने के समय जल में डूब गई । हुएन-त्सांग ने स्थविर प्रज्ञादेवी को इन पुस्तकों को भेजने के लिए आग्रह किया था । † हुएन-त्सांग ने कई वर्ष के परिश्रम के उपरान्त योगाचार्य-भूमि शास्त्र तथा अन्य पुस्तकों के चीनी अनुवाद किये, जोकि ३० खण्डों में प्रकट हुए ।

---

* Watters—Travels—P. 12.

† "Among the Sutras and Shastras that I, Huean-Tsang had brought with me I have already translated the Yoga-

ईत्सिङ्ग—हुएन-त्सांग के भारत से विदा होने के कुछ ही वर्ष बाद ईत्सिंग सन् ६७२ में भारत पहुँचा । वस्तुतः ईत्सिंग को भारत-यात्रा की प्रेरणा हुएन-त्सांग से ही प्राप्त हुई । अपने साथियों की आगा-पीछी से ईत्सिङ्ग कुछ ढीला-सा हो रहा था, किन्तु हुएनत्सांग ने उसे उत्साहित किया । "निश्चिन्तता पूर्वक पुण्य-भूमि के दर्शन करो"—ऐसा था उसके गुरु का आदेश । गुरु का प्रोत्साहन तथा आशीर्वाद प्राप्त कर ईत्सिंगने समुद्र-मार्ग से भारत के लिए सन् ६७१ ई० में प्रस्थान किया ।‡ लगभग दो वर्ष बाद वह ताम्रलिप्ती पहुँचा । रास्ते में वह कई महीने तक श्रीभाग (सुमात्रा) में संस्कृत के अध्ययन के लिए रुक गया था । ई-त्सिंग ने अपने पूर्व-यात्रियों की अपेक्षा कम स्थानों का भ्रमण किया । किन्तु प्रमुख बौद्ध-केन्द्रों को उसने अवश्य देखा । इन केन्द्रों की सूची यह है—कपिल-वस्तु, बुद्धगया, वाराणसी, शरावस्ती, कान्य-कुब्ज, राजगृह, नालन्दा, वैशाली, कुशीनगर तथा ताम्रलिप्ति । कुछ अन्य स्थानों का उल्लेख उसके विवरण में है, किन्तु सम्भवतः उसने इन्हें स्वयं नहीं देखा था । नालन्दा में ही ईत्सिंग का अधिक समय व्यतीत हुआ । पूरे दस वर्ष तक यहाँ रहकर उसने बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया । उसने लगभग ४०० बौद्ध धार्मिक पुस्तकें संगृहीत की, संगृहीत श्लोकों की संख्या ५ लाख थी । ईत्सिंग ने केवल बौद्ध साहित्य अध्ययन तक ही अपने को सीमित न रखा, बल्कि उसने संस्कृत साहित्य का भी गहरा अध्ययन किया । व्याकरण तथा कोष पर उसने पूर्ण अधिकार प्राप्त किया । स्वदेश लौटकर उसने मातृ-भाषा में ५६ ग्रन्थों का अनुवाद किया जो २३० खण्डों में प्रकट हुए । इस प्रचुर साहित्य के द्वारा ई-त्सिंग ने चीन में बौद्ध धर्म के एक नये सम्प्रदाय का जन्म दिया ।*

---

charya Bhumi Shastra and other works, in all thirty volumes. I should humbly let you know that while crossing the Indus I had lost a load of sacred texts. I now send you a list of texts annexed to this letter. I request you to send them to me if you get the chance."

Quoted in India and China by Dr. P. C. Bagchi. Nehru Discovery of India.—P. 174.

‡ ईत्सिग ने भारत आने के लिए जल-मार्ग का अवलम्बन किया । कारणों के लिए देखिए—

Nehru-Discovery of India—P. 174-75.

* R. K. Mookerji—Ancient Education.—P. 536.

फाहियान का वर्णन

५ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा

फाहियान के समय में बौद्धसंघ लगभग सारे उत्तरभारत में आच्छादित हो गये थे। बौद्ध भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा उदयन तथा पूर्वी सीमा ताम्र-लिप्ति थी। केवल उदयन में फाहियान ने ५०० बौद्ध मठों को देखा जिनमें "हीन-यान" सम्प्रदाय के ही भिक्षु थे। 'पे-तू' अथवा पंजाब में बौद्धधर्म का पूर्ण प्रसार था। किन्तु यहाँ 'महायान' सम्प्रदाय के भिक्षु भी थे। मथुरा-पर्यन्त फाहियान को बहुत-से संघाराम दीख पड़े, जोकि सभी उन्नत अवस्था में थे। उन संघारामों में रहनेवाले भिक्षुओं की संख्या लाखों थीं। यमुना के दोनों ओर २० बौद्ध विहार थे, जिनमें ३००० के लगभग भिक्षु रहते थे। भारत के लगभग, सभी तत्कालीन राजा बौद्ध-धर्मानुयायी थे। बौद्धधर्म के प्रसार के साथ-साथ इसका आन्तरिक विकास भी पूर्णतः हो गया था। फाहियान ने बौद्ध-धर्म के १८ सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।

फाहियान के वर्णन में तक्षशिला के संघारामों का उल्लेख नहीं मिलता। तक्षशिला के महत्त्व का परिचय हमें पहले मिल चुका है। फाहियान के समय में तक्षशिला की हालत स्पष्टतः शोचनीय हो गई थी। फाहियान के द्वारा वर्णित प्रमुख बौद्ध संघारामों तथा शिक्षा केन्द्रों के नाम ये हैं :—

पुरुषपुर (पेशावर)—७०० भिक्षु

हे-लो (हिड्डा)—जहाँ भगवान् बुद्ध के सिर का एक भाग सुरक्षित था।

संकाश्य—कई मठ थे। एक में १००० भिक्षु तथा भिक्षुनी थीं। दूसरे में ६०० से ७०० भिक्षु—हीनयान, महायान—दोनों ही थे।

कान्यकुब्ज—दो मठ हीनयान तथा महायान—दोनों सम्प्रदाय के भिक्षु।

श्रावस्ती—जेतवन विहार के लिए श्रावस्ती का इतिहास प्रसिद्ध है। यह विहार सात महलों का था। महात्मा बुद्ध ने यहां २५ वर्ष तक रहकर धर्मो-पदेश किया था। ९८ सन्निकट विहारों का केन्द्रस्थ 'जेतवन' शुरू में अवश्य ही एक विश्वविद्यालय के रूप में शिक्षा-प्रसार करता होगा। फाहि-यान के समय में इन विहारों में से कुछ ही बचे हुए थे।

कुशीनगर—महात्मा बुद्ध के निर्वाण-स्थान में कई मठ थे ।

वैशाली—अम्बपाली का बनाया गया तथा बुद्ध को समर्पित किया हुआ विहार अपने प्रारम्भिक वैभव में ही वर्त्तमान था ।

पाटलिपुत्र—फाहियान के समय में पाटलिपुत्र बौद्ध शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था । नगर में हीनयान तथा महायान, दोनों ही संप्रदाय के सुविशाल तथा सुन्दर विहार थे । भिक्षुओं की संख्या, दोनों मिलाकर, सात सौ के लगभग थी । इन संधारामों में न केवल प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी, बल्कि उच्चतम शिक्षा का आयोजन भी यहाँ था। सारे भारत से प्रौढ़ तथा सुविज्ञ भिक्षु तथा अन्य युवक यहाँ विद्याध्ययन के लिए आया करते थे । यहाँ के शिक्षकों की विद्वत्ता की ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी । राधा-सामी नामक ब्राह्मण अध्यापक महायान के प्रकाण्ड विद्वान थे, जिनसे कुछ अज्ञात नहीं समझा जाता था। मगध नरेश भी इन्हें गुरुवत् मानते थे । मंजुश्री नामक एक दूसरे लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्मण आचार्य थे ।

राजगृह—जीवक का बनाया हुआ विहार अच्छी स्थिति में था। करण्ड बाग में स्थित बिम्बिसार का विहार भी विद्यमान था। किन्तु भिक्षुओं की संख्या इन विहारों में कम थी ।

गया—(वर्त्तमान बोध गया) में तीन संधाराम थे । यहाँ के भिक्षु बड़े ही कर्त्तव्यनिष्ठ तथा धार्मिक थे ।

बनारस—भिक्षुओं से परिपूर्ण दो संधाराम थे।

चम्पा—इस प्रारम्भिक बौद्ध विहार में भी कुछ भिक्षु थे ।

ताम्रलिप्ति—बौद्धधर्म का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ २२ संधाराम थे ।

बौद्ध विहार तथा संधारामों की उपरोक्त सूची से हम बौद्ध शिक्षा के प्रसार का अन्दाज लगा सकते हैं। समस्त उत्तरी भारत में बौद्ध शिक्षा-केन्द्र वितरित थे, जो भिक्षुओं एवं जनसामान्य की शिक्षा की व्यवस्था किया करते थे । फाहियान के विवरणों के आधार पर इन शिक्षाओं के संगठन, पाठ्य-विषय तथा पाठन-पद्धति का एक संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जाता है—

संगठन—बौद्ध शिक्षालय अपनी मौलिक अवस्था में बौद्ध संघों में ही केन्द्रित थे । संघों के खर्च राजाओं तथा सेठों के दान तथा सामान्य जनता के

सामूहिक चन्दों से चलता था। लगभग सभी विहारों के साथ मकान, भूमि तथा बाग संलग्न रहते थे। विहारों की प्रदत्त भूमि की उपज, उसके निवासी जीव-जन्तु आदि सभी विहार की ही सम्पत्ति थे। ये दान बहुधा धातु पर अंकित कर दिये जाते थे। कोई भी राजा विहार की सम्पत्ति को छीनने अथवा वापस लेने की धृष्टता नहीं कर सकता था। इन स्थायी दानों के अतिरिक्त राजे-महाराजे तथा सेठ-साहुकार समय-समय पर भिक्षुओं को भोजन के लिए आमंत्रित करते थे। इन अवसरों पर बहुधा स्वयं राज-परिवार के लोग भिक्षुओं के समक्ष भोजन परोसते थे। सामान्य जनता की ओर से नियमित रूप में भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ दान दी जाती थीं। साधारणतया दान की ऋतु निर्धारित रहती थी, किन्तु अन्य समयों में भी दान दिये तथा अंगीकृत किये जाते थे। इस तरह बौद्ध संघों को जीवन की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में किसी तरह की चिन्ता न रहती थी। शुरू में ये संघ अधिकतर भिक्षाटन पर ही अवलम्बित थे। स्थायी दान तथा नियमित आवर्त्त सामूहिक दान की व्यवस्था न थी। किन्तु कालान्तर में ये संघ भारतीय समाज की एक स्थायी संस्था बन गये जो कि आर्थिक मामलों में बहुलांश में स्वतन्त्र थे। संघों की स्थायी सम्पत्ति कहीं-कहीं इतनी अधिक थी कि इन्हें भिक्षाटन की आवश्यकता ही न होती थी। संघों के संचालन के नियम लगभग वे ही थे, जो कि "विनय" में निर्धारित थे। बौद्ध भिक्षुओं के दैनिक नियमित कार्यों में तीन मुख्य थे—जनोपकारी धार्मिक कार्य, सूत्रों के गान तथा साधना।

पाठ्य-विषय—फाहियान के समय बौद्ध-संघों में सांसारिक विषयों की शिक्षा का समावेश संभवतः न हुआ था। सामान्यतः संघ की शिक्षा "धर्म" से ही सम्बन्धित रहती थी। फाहियान जिन ग्रंथों को प्रतिलिखित किया था वे ये थीं:—

विनय (२) सरवास्तिवाद, जिसमें लगभग सात हजार गाथाएँ थीं (३) सम्युक्ताभिधर्म-हृदय-शास्त्र, जिसमें भी लगभग सात हजार गाथाएँ थीं (४) अढ़ाई हजार गाथाओं का एक सूत्र-ग्रन्थ (५) परिनिर्वाण-वैपुल्य-सूत्र का एक अध्याय (६) महासंघिक अभिधर्म।

ये सभी ग्रंथ धार्मिक नियम तथा धार्मिक उपाख्यानों से ही सम्बन्धित थे। किन्तु लगभग सभी संघों में संस्कृत का अध्ययन तथा अध्यापन होता था।

शिक्षा के क्षेत्र में भी बौद्ध संघ दो शाखाओं में विभक्त हो गया था । महायानी संघ अपने विचारों से ही सम्बन्धित धार्मिक शिक्षा दिया करते थे । इसी तरह हीनयान की धार्मिक शिक्षा हीनयानी संघों में होती थी । पाटलिपुत्र के बौद्ध विहार में तीन वर्ष रहकर फाहियान ने संस्कृत लिखना-पढ़ना सीखा तथा कई संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया था ।

शिक्षण :—पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध शिक्षण-पद्धति भी प्रारम्भ में ब्राह्मण-शिक्षण-पद्धति की तरह मौखिक ही थी । फाहियान के समय में भी शिक्षण-पद्धति मौखिक ही रही । लगभग सभी संघों में फाहियान ने शिक्षण की यही रीति प्रचलित पायी । धार्मिक ग्रंथों की लिखित प्रति उन्हें केवल पाटलिपुत्र तथा ताम्रलिप्ति के महायान-मठों में प्राप्त हुई । उससे पता चलता है कि समक्ष उत्तर भारत में मौखिक ही शिक्षण होता था, केवल पूर्वी सीमा पर इस नियम की अवहेलना होती दीख पड़ती है ।

मौखिक शिक्षण की सभी प्रचलित रीतियाँ फाहियान के समय में भी व्यवहृत होती थीं । ब्राह्मण-शिक्षण-पद्धति की तरह अध्ययन में श्रवण, मनन तथा साधनात्मक चिन्तन सन्निहित थे । नैतिक आचरण के प्रति पूर्ण ध्यान दिया जाता था । संघों की शिक्षा प्रधानतः वैयक्तिक थी, किन्तु सामूहिक शिक्षा की व्यवस्था भी थी । संघ के सभी भिक्षुओं को नियमित रूप से "धार्मिक गोष्ठी" में एक जगह एकत्र होना पड़ता था । इस गोष्ठी में विविध धार्मिक प्रश्नों पर संघ के आचार्यों के द्वारा प्रकाश मिलता था ।

फाहियान के विवरणों में अनेक ऐसे सम्प्रदायों का विवरण मिलता है जो बौद्ध संघ के बाहर थे, किन्तु बौद्ध भिक्षुओं की तरह जन-सेवा के कार्य में यथेष्ट रुचि रखते थे । ये धार्मिक सम्प्रदाय ब्राह्मण अथवा हिन्दूधर्म के ही नवीन रूप थे । गुप्त साम्राज्य के उत्थान के फलस्वरूप ब्राह्मणधर्म राजधर्म के रूप में पुनः प्रतिष्ठित हो गया था और फलतः ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान स्वाभाविक था । हिन्दूधर्म के ये नये बैरागी सम्प्रदाय बौद्धधर्म से भी पूर्णतः प्रभावित थे और जन-सामान्य से अपने को सम्बन्धित रखने की चेष्टा करते थे । उनकी प्रेरणा से मगध में कई ऐसी सार्वजनिक संस्थाएँ प्रचलित थीं, जो जनसामान्य की अनेक सेवाएँ किया करती थीं । किन्तु

शिक्षा के क्षेत्र में इनकी क्या देन थी, इसका स्पष्ट पता हमें नहीं चलता ।

हुएन–त्सांग तथा ई-त्सिंग के विवरण

सातवीं सदी में भारतीय शिक्षा

हुएन-त्सांग का विवरण :—

पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था । गुप्त-वंश ब्राह्मणधर्मानुयायी था, जिससे गुप्तकाल में ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के प्रचुर अवसर मिले । फाहियान के समय में ही इस पुनरुत्थान के लक्षण प्रतीत होने लगे थे । उसके जाने के बाद ब्राह्मणधर्म की प्रधानता पूर्णतः स्थापित हो गयी थी । फलतः हुएन-त्सांग का भारत फाहियान का बौद्ध भारत नहीं था; अपितु वह "ब्राह्मण देश" था । ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के साथ-साथ संस्कृत का प्रभुत्व भी पुनः स्थापित हो गया था, तथा इसी भाषा में बौद्ध विद्वान भी अपनी रचनाएँ साधारणतया करने लगे थे । ब्राह्मण धर्म के नये स्वरूप में संन्यासियों के कई दल उठ खड़े हुए थे, जो कि बौद्ध भिक्षुओं की तरह संसार का पूर्ण परित्याग कर अध्ययन तथा साधना में संलग्न रहते थे । हुएन-त्सांग ने ब्राह्मण-शिक्षण-पद्धति का भी कुछ विवरण दिया है, जिससे पता चलता है कि कि ब्राह्मण शिक्षा के भी अनेक केन्द्र देश में विद्यमान थे । इन शिक्षालयों के सामान्य स्वरूप तथा शिक्षा-पद्धति लगभग वही थी, जो कि सूत्र-ग्रंथों में निर्धारित थी । हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान के साथ-साथ बौद्धधर्म भी महायान की ओर अधिक झूकाव दीख पड़ता था ।

लगभग सभी बौद्ध केन्द्रों में महायान तथा हीनयान, दोनों ही सम्प्रदाय के भिक्षु वर्त्तमान थे । साथ ही इन केन्द्रों में अनेक देव-मन्दिर तथा ब्राह्मण पुजारी भी होने लगे । हुएन-त्सांग का उद्देश्य हिन्दू-संस्कृति का अध्ययन न था, किन्तु वह इस अध्ययन से अपने को विमुख न रख सका । फलतः उसके विवरण में हमें बौद्ध शिक्षणपद्धति के साथ-साथ हिन्दू शिक्षण पद्धति का भी प्रासंगिक वर्णन मिलता है ।

ब्राह्मण शिक्षा—सामान्यतः ब्राह्मण विद्यार्थी तीस वर्ष की अवस्था तक विद्याध्ययन करते थे, जिसके पश्चात् वे अपने गार्हस्थ्य-जीवन के विभिन्न व्यापारों में प्रवृत्त होते थे । शिक्षा की समाप्ति पर पहला कार्य गुरु

के ऋण से उऋण होना अथवा दक्षिणा देना होता था। किन्तु ऐसे विद्यार्थी भी अनेक थे जो कि अपना समस्त जीवन विद्यार्जन तथा ज्ञान-प्राप्ति में उत्सर्ग कर देते थे। ये लोग किसी एकान्त स्थान में रहकर अध्ययन तथा चिन्तन किया करते थे और इधर-उधर रमते हुए अपना जीवन व्यतीत करते थे। ऐसे आजीवन ब्रह्मचारियों का देश में बड़ा सम्मान था। राजे-महाराजे भी उनके दर्शन को लालायित रहते थे। इन संन्यासी विद्यार्थियों के लिए संसार की कोई भी वस्तु मूल्यवान न थी। ज्ञान ही उनके जीवन का लाभ था और इसी लक्ष्य की ओर वे सतत प्रयत्नशील रहते थे।* सुसम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी ये ज्ञानपिपासु भीख द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते हुए ज्ञान की खोज तथा प्रसार में हजारों मील का चक्कर काटा करते थे। इन विद्यार्थियों के द्वारा समस्त देश में उच्चतम ज्ञान की ज्योति सतत विकीर्ण होती रहती थी।

बौद्ध-शिक्षा :—

हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान के समक्ष भी हुएन-त्सांग के समय में क्रियाशील बौद्ध-संघों की संख्या ५००० हजार थी, जिनमें लगभग २१२,१३० भिक्षु रहते थे।‡ संघ के भिक्षु विभिन्न शाखाओं में विभक्त थे। शाखाओं के अनुसार भिक्षुओं का विवरण इस प्रकार है :—

क—हीनयान	१०७,६३०
(१) स्थविर	३६,८००
(२) सम्मतीय	६३,५३०
(३) सरवास्तिवादिन	४,१००
(४) अन्य	३,५००
ख—महायान	४८,६००
ग—हीनयान तथा महायान संयुक्त ..	४६,३००
घ—ऐसे भिक्षु जिनके सम्प्रदाय वर्णित नहीं हैं	६,३००
मोट—	२१२,१३०

* Light more light, although I perish in the light-Goethe.
‡ R. K. Mookerji—Ancient Indian Education--Page--523.

ये विभिन्न सम्प्रदाय के भिक्षु विभिन्न विहारों तथा मठों में संघ के रूप में आयोजित थे तथा अपने-अपने सम्प्रदायों का विशेष अध्ययन किया करते थे। हुएन-त्सांग के द्वारा देखे गये कुछ प्रमुख मठों का संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जाता है। इनमें बौद्ध-शिक्षा के प्रसार, उसके स्वरूप तथा अन्य कई बातों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

गज—गज देश में सरवास्तिवादिन सम्प्रदाय के १० मठ थे, जिनमें ३०० भिक्षु रहते थे। लोकोत्तरवादिन हीनयान का यह केन्द्र था। यहाँ कई सहस्र भिक्षु निवास करते थे।

कपिस :—महायान सम्प्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र था। मठों की संख्या १००० के लगभग थी, जिनमें ६ हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। ६३० ई० की वर्षा ऋतु में हुएन-त्सांग यहीं ठहरा था। उस समय यहाँ ३०० भिक्षु थे, जो सभी हीनयान सम्प्रदाय के थे। कपिस में एक मठ का निर्माण सम्राट् कनिष्क के द्वारा चीनी नजरबन्दों को रखने के लिए हुआ था। गांधार तथा चीनी मुक्ति में भी इसी तरह के दो मठ कनिष्क ने बनवाये थे।

लम्प :—यहाँ दस मठ थे, किन्तु भिक्षुओं की संख्या कम थी। यहाँ के सभी भिक्षु महायानी थे। यहाँ के एक बौद्ध विद्वान् ने चीन-भ्रमण किया था तथा मठ-सम्बन्धी एक संस्कृत-ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में किया था।

गांधार :—किसी समय बौद्धधर्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ १००० मठ थे, किन्तु सभी गिरी अवस्था में थे।

गांधार की राजधानी पुरुषपुर में कनिष्क के एक सुप्रसिद्ध विहार का भग्नावशेष वर्त्तमान था। नालन्दा के उत्थान के पहले पुरुषपुर बौद्ध-शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र था। पार्श्व नामक बौद्ध विद्वान यहीं रहते थे, जिन्होंने मध्य भारत के सुप्रसिद्ध ब्राह्मण शिक्षक अश्वघोष को बौद्धमत स्वीकार कराया था। अभिधर्मकोष-शास्त्र के रचयिता वसुबन्धु यहीं के आचार्य थे। अन्य कई बौद्ध विद्वान् गन्धार के संघों को सुशोभित कर चुके थे। किन्तु हुएन-त्सांग के समय में इस शिक्षा-केन्द्र की अवस्था शोचनीय थी। हीनयान-सम्प्रदाय के कुछ भिक्षु ही पुराने गौरव के स्मृति स्वरूप विद्यमान थे।

पुष्करावती—यहाँ मध्य भारत के अनेक बौद्ध भिक्षु रहते थे। अधर्म-अधिधर्म-प्रकरण-पद-शास्त्र के रचयिता वसुमित्र यहीं के बौद्ध आचार्य थे।

पुलश—लगभग ५० हीनयानी भिक्षुओं का एक मठ यहाँ था। ईश्वर नामक एक बौद्ध विद्वान् ने एक धार्मिक ग्रन्थ की रचना यहीं की थी, जो कि अप्राप्य है।

उदयन—किसी समय में बौद्ध शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था। यहाँ के मठों की संख्या १४०० तथा भिक्षुओं की संख्या १८००० कही जाती थी। किन्तु अधिकांश मठ भग्नावस्था में थे। भिक्षुओं की संख्या भी अत्यन्त कम हो गई थी।

बोलोर—यहाँ सैकड़ों मठ तथा हजारों भिक्षु थे। किन्तु भिक्षुओं का धार्मिक ज्ञान ऊँचा नहीं था। इनके व्यावहारिक आचरण भी धर्म के अनुकूल न थे।

तक्षशिला :—पुराने मठ नष्टप्राय हो गये थे। महायानी भिक्खु कुछ संख्या में विद्यमान थे। नगर के पास ही कुमारलब्ध नामक सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् के मठ का भग्नावशेष विद्यमान था। कुमारलब्ध, अश्वघोष, देव तथा नागार्जुन बौद्ध-जगत् के चार जाज्वल्यमान सूर्य कहे गये हैं।

कश्मीर :—इस प्रान्त में बौद्ध मत उन्नत अवस्था में था। हुएन-त्सांग के समय में यहाँ १०० बौद्ध मठ थे, जिनमें ५००० भिक्खु रहते थे। बौद्धधर्म के कश्मीर प्रवेश के प्रचलित इतिहास की पुष्टि हुएन-त्सांग ने भी की है। इसके अनुसार आनन्द के शिष्य अर्हत मध्यान्तिकी ने सर्व प्रथम कश्मीर में बौद्धधर्म का प्रचार किया था। अशोक ने पाटलिपुत्र के संघ से ५०० अर्हतों को कश्मीर भेजा था तथा उनके लिए ५०० मठ बनवाये थे। उन अर्हतों ने ही कश्मीर में स्थविर सम्प्रदाय का जन्म दिया।

कश्मीर में हुएन-त्सांग का बड़ा सम्मान हुआ था। उसने यहाँ २ वर्ष तक रहकर कई सूत्रों तथा शास्त्रों का अध्ययन किया। उसकी देखरेख में कई ग्रन्थ प्रतिलिपित हुए।

चीन भुक्ति :—यहाँ दस मठ थे। आनन्द-पद मठ में विनीतप्रभ नामक एक बौद्ध विद्वान थे। हुएन-त्सांग ने उनसे १४ मास तक अभिधर्म की शिक्षा ग्रहण की थी।

नभसावन—बौद्धधर्म का प्राचीन केन्द्र था। अशोक की धर्मसभा में यहाँ के भिक्खु भी आमंत्रित हुए थे। सरवास्तिवादिन सम्प्रदाय के ३०० भिक्खु हुएन-त्सांग के भ्रमण में वर्त्तमान थे। सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार काल्यामनीपुत यहीं के विद्यार्थी थे।

आनंधर—यहाँ पचास से अधिक मठ थे, जिनमें २००० भिक्खु रहते थे। यही के चन्द्रवर्मा नामक विद्वान से हुएन-त्सांग ने ४ मास तक अभिधर्म की शिक्षा ग्रहण की थी।

मथुरा—बीस से अधिक मठ यहाँ थे। भिक्खुओं की संख्या २००० थी। फाहियान के समय में भी यहाँ के बौद्ध-संघ की यही स्थिति थी।

स्थानेश्वर—यहाँ तीन बौद्ध विहारों में ७०० से अधिक हीनयानी श्रमण रहते थे।

श्रुघ्नन—लगभग १०० श्रमण यहाँ के पाँच विहारों में वितरित थे। इनमें से अधिकांश हीनयानी थे। यहाँ के आचार्य बड़े ही विद्वान थे तथा "धर्म्म" की अच्छी व्याख्या करते थे। जयगुप्त नामक विद्वान से हुएन-त्सांग ने चार मास तक श्रौतांनिक शाखा की शिक्षा ग्रहण की थी।

मतिपुर—हीनयान शाखा के यहाँ दस मठ थे, जिनमें ८०० भिक्खु रहते थे। आस-पास में भी कई मठ थे। इन्हीं मठों में एक में गुणप्रभ नामक बौद्ध आचार्य रहते थे जिनकी लिखी एक सौ पुस्तकें कही जाती हैं। यहाँ कई मास रहकर हुएन-त्सांग ने गुणप्रभ का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वसन्देश-शास्त्र' का अध्ययन किया था।

कान्यकुब्ज :—हुएन-त्सांग के समय में यह बौद्धधर्म का सबसे बड़ा केन्द्र था। हुएन-त्सांग ने यहाँ १०० मठ देखे, जिनमें १०,००० से अधिक भिक्खु रहते थे। महायान तथा हीनयान, दोनों ही शाखाओं के श्रमण यहाँ थे। कन्याकुब्ज सम्राट् हर्षवर्द्धन के अधिकृत नगरों में था। उसने बौद्ध-धर्म की समुन्नति तथा प्रसार के लिए जो कुछ भी किया, वह इतिहास-प्रसिद्ध है। कन्याकुब्ज की समृद्धि हर्ष ही की देन थी। फाहियान के समय में यहाँ केवल दो बौद्ध मठ थे। कन्याकुब्ज में तीन मास रहकर हुएन-त्सांग ने वीर्यसेन नामक आचार्य से शिक्षा ग्रहण की थी।

अयोध्या :—३००० भिक्खुओं के १०० मठ थे। वसुबन्धु, श्रीलब्ध तथा असंग नामक दिवंगत सुप्रसिद्ध आचार्यों के पुराने मठ भी हुएन-त्सांग ने यहाँ देखे।

विशोक :—इस प्रान्त में २० संघ थे, जिनमें सम्मतिया सम्प्रदाय के ३०० भिक्खु रहते थे। यहाँ के बड़े विहार में देवश्रमण तथा गोप नामक विद्वान पहले रहा करते थे। धर्मकाल ने सात दिन के वाद-विवाद के पश्चात् १०० हीनयान विद्वानों को यहीं परास्त किया था।

श्रावस्ती :—प्राचीन गौरव के स्मारक के रूप में यहाँ केवल कुछ भिक्खु रह गये थे। फाहियान ने यहाँ ९८ मठ देखे थे, अब केवल १ बचा हुआ था। जेतवन विहार पूर्णतः ध्वस्त हो गया था।

कपिलवस्तु :—इसकी भी दशा अत्यन्त शोचनीय थी । लगभग एक हजार मठों के भग्नावशेष वर्त्तमान थे । जीवित मठ केवल एक था, जिसमें ३० भिक्खु थे ।

वाराणसी :—अधिकांश लोग अन्य धर्मानुयायी थे । फिर भी बौद्धधर्म के ३०० सम्मतिया श्रमण यहाँ रहते थे ।

सारनाथ :—भगवान बुद्ध के समय का हिरण-पर्व उपवन मठ अबतक मौजूद था । इसके आठ विभाग थे, जो कि एक अहाते में घिरे हुए थे । प्रकोष्ठों की सजावट कलापूर्ण थी । ३०० सम्मतिया भिक्खु यहाँ रहते थे ।

वैशाली :—तीन-चार के सिवा वैशाली में पुराने मठ नष्ट हो गये थे । सुप्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र की यह दयनीय दशा हुएन-त्सांग के लिये अत्यन्त कष्टकर थी ।

मगध :—मगध प्रान्त में ५० से अधिक मठ थे । श्रमणों की संख्या १० हजार से अधिक थी । ये सभी महायान शाखा के अनुयायी थे । यहाँ के एक विहार में तीर्थिकाओं ने बौद्धों को कभी परास्त किया था, जिसका बदला नागार्जुन के शिष्य देव ने पाटलिपुत्र में लिया था ।

तिलोषिक विहार :—नालन्दा के लगभग २० मील पश्चिम में इस विहार का सुविशाल भव्य भवन अवस्थित था । इसमें चार बड़े आंगन थे, कमरे तीन महल के थे । सभी प्रान्तों के सुप्रसिद्ध विद्वान यहाँ जुटे हुए थे ।

महाबोधि विहार :—लंका के राजा के द्वारा निर्मित यहाँ का बौद्ध विहार बड़ा ही भव्य तथा कलात्मक था । सारा विहार ३०-४० फीट ऊँची दीवार से घिरा हुआ था । इस चहारदीवारी के भीतर तीन महल के अनेक कमरे थे । महायानी शाखा के १ हजार भिक्खु यहाँ रहते थे, जो कि विनय के आदर्शों का अक्षरशः पालन करते थे ।

नालन्दा :—बौद्ध जगत् में नालन्दा जाज्वल्यमान प्रकाशपुंज की तरह अपना आलोक प्रसारित कर रहा था । यहाँ के आचार्यों तथा छात्रों की संख्या १०००० थी । शीलभद्र यहाँ के प्रधान थे, जिनकी विद्वत्ता तथा सच्चरित्रता अद्वितीय थी । नालन्दा-विश्वविद्यालय का पूर्ण विवरण आगे विश्वविद्यालय के प्रकरण में उपस्थित किया जायगा ।

मुङ्गेर :—आधुनिक मुंगेर के सन्निकट ईरन के पर्वतीय प्रान्त में कई बौद्ध विहार थे, जिनके भिक्खुओं की संख्या ४००० से अधिक थी । ये

भिक्खु अधिकांशतः हीनयान शाखा के अनुयायी थे । तथागुप्त तथा-क्षान्ति सिंह नामक दो सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान यहाँ रहते थे, जिनसे हुएन-त्सांग ने एक वर्ष तक शिक्षा ग्रहण की थी । मुङ्गेर के पूर्व हुएन-त्सांग ने कई स्थान देखे जिनमें चम्पा, पुण्यवर्द्धन, ताम्रलिप्ति आदि थे। इन सभी स्थानों में बौद्धधर्म उन्नत अवस्था में था ।

दक्षिण भारत :—कलिंग-मार्ग से होते हुए हुएन-त्सांग ने दक्षिण भारत का परिभ्रमण भी किया । कलिंग के अधिकांश लोग ब्राह्मणधर्मा-नुयायी थे । किंतु बौद्धों के दस मठ थे जिनमें ५०० भिक्खु रहते थे । दक्खिन कोसल में बौद्धमत का अच्छा प्रभाव था। यहाँ के सौ मठों में महायान शाखा के १०,००० भिक्खु रहते थे । परमविख्यात बौद्ध विद्वान नागार्जुन की जन्मभूमि यहीं थी । इनके सम्मान में सातवाहन-वंश के स्थानीय राजा ने पाँच महल का एक आश्चर्य-जनक मठ पहाड़ियों को खोदकर बनवाया था । फाहियान का 'कपोत-मठ' सम्भवतः यही था । मठ के सभी कमरे अत्यन्त ही कलापूर्ण तथा मोहक थे । मन्दिरों में भगवान बुद्ध के पूरे आकार की सोने की ५ मूर्त्तियाँ थीं । अनेक खिड़कियों के द्वारा कमरों में प्रकाश तथा हवा समुचित रूप में आती थी । एक विशेष रीति के द्वारा मठ के निवासियों को स्वच्छ, तथा मीठा जल हमेशा प्राप्त होता रहता था । सबसे ऊपरी महल में पुस्तकालय था । नीचे के कमरों में सामान्य लोग थे जो कि उपासक अथवा प्रबन्धक थे । बीच के तीन महलों में बौद्ध श्रमण रहा करते थे । बौद्ध जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान देव ने यहीं नागार्जुन का शिष्यत्व ग्रहण किया था ।

आंध्र तथा तेंगी में भी बौद्धमत का अच्छा प्रभुत्व था । यहाँ छिट-पुट रूप में २० संघ थे जिनमें ३००० भिक्खु निवास करते थे । राजधानी के समीप एक सुविख्यात तथा कलात्मक विहार था, जिसमें भगवान बुद्ध की एक अत्यन्त ही रमणीय मूर्त्ति थी ।

वेजवाड़ा :—यहाँ असंख्य पुराने मठ थे । उस समय केवल बीस मठ क्रियाशील थे जिनमें १००० भिक्खु रहते थे ।

चोला :—इस देश में बौद्धधर्म की अवस्था गिरी हुई थी । किंतु द्रविड़ देश में १० संघ थे जिनमें स्थविर-सम्प्रदाय के १० हजार हीनयानी

भिक्खु थे। काञ्जिपुर दक्षिण भारत का सुविख्यात बौद्ध शिक्षा-केन्द्र था जहाँ दूर-दूर के भिक्खु ज्ञानार्जन के लिए आया करते थे। लंका के कुछ भिक्खुओं से हुएन-त्सांग ने योग-विद्या के संबंध में पूछ-ताछ की थी।

कोनकान, महाराष्ट्र, भरोच, मालवा आदि प्रान्तों में भी बौद्ध-धर्म का पूर्ण प्रसार हो गया था। मालवा में सैकड़ों मठ थे जिनमें २० हजार भिक्खु निवास करते थे। सूरत, कच्छ, उज्जैन, सिंध, कामरान आदि देशों में कई बौद्ध विहार थे।

पश्चिमी विहारों में बौद्ध शिक्षा के लिए वलभी प्रसिद्ध थी जहाँ १०० संघारामों में ६००० भिक्ख्‌ु रहते थे।

बौद्ध संघों तथा विहारों के उपरोक्त विवरण से बौद्ध-शिक्षा के विस्तार तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। बौद्ध विद्यालय न केवल उत्तरी भारत में क्रियाशील थे, बल्कि दक्षिणी भारत के सुदूर प्रान्तों में भी ये विद्यमान थे।

बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों ने बौद्ध-जगत् के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों को समुत्पन्न किया, जिससे स्पष्ट है कि इन शिक्षा-केन्द्रों के अध्यापन बहुत ही उच्च-कोटि के थे। असंग, वसुबंधु, पार्श्व, अश्वघोष, नारायण-देव, वसुमित्र, ईश्वर, कुमारलब्ध, नागार्जुन, देव, गुणप्रभ, धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति, दिङ्नाग, महाकात्यायन आदि की विद्वत्ता तथा आध्यात्मिक ज्ञान का ऋणी समस्त जगत् था। हुएन-त्सांग के समय में भी इन शिक्षा-केन्द्रों में कई लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान वर्त्तमान थे, जिन्होंने धार्म्मिक ग्रन्थों की रचना की थी तथा जिनसे हुएन-त्सांग ने स्वयं शिक्षाग्रहण की थी नगरधन विहार के चन्द्रवर्मा, श्रुघ्न के जयगुप्त, मतिपुर के मित्रसेन, कन्याकुब्ज के वीर्यसेन, तिलोषिक के प्राज्ञभद्र, मुङ्गेर के तथागतगुप्त तथा क्षान्ति सिंह आदि बौद्ध आचार्यों से हुएन-त्सांग ने उपदेश ग्रहण किया था—यह हम देख चुके हैं। नालन्दा में तो उसने शीलभद्र के आचार्यत्व में दस वर्ष तक विद्याध्ययन किया। कांचीपुर के बौद्ध मठ में उसने 'सीलोन' के भिक्खुओं से योगमंत्र सीखे। लौटती यात्रा में भी उसने जुमृ में कुछ विद्वानों, भिक्खुओं से दो वर्ष तक शिक्षा ग्रहण की। कई सुप्रसिद्ध मठों की प्रशंसा हुएन-त्सांग ने विविध वाक्यों में की है। पुरुषपुर, पुष्करावती, उदयन, श्रुघ्न, तिलोषिक,

आदि स्थानों में "दूर-दूर के विद्वान रहते तथा विद्याध्ययन करते थे। इन विद्वानों का धार्म्मिक ज्ञान तथा आचरण बड़ा ही प्रशंसनीय था।" बौद्ध गया में सभी भिक्खु "अक्षरशः विनय का पालन करते थे।" दक्खिन के कांचीपुर में भी "लंका आदि देशों से विद्याध्ययन के लिए भिक्खु आया करते थे।" इस तरह, प्रायः सभी प्रमुख बौद्ध मठ बौद्ध शिक्षा के अखिलभारतीय केन्द्र के समान थे और धार्म्मिक विषयों की उच्चतम शिक्षा दिया करते थे। नालन्दा इन विद्या-केन्द्रों का प्रतिनिधि-स्वरूप था, जिसका पूरा विवरण अलग दिया जायगा।

बौद्ध विद्यालयों के पाठ्य-विषय :—यह कहा जा चुका है कि हुएन-त्सांग के समय में बौद्ध-धर्म कई उप-शाखाओं में विभक्त हो गया था, जो कि मूल शाखा महायान तथा हीनयान शाखाओं से संबंधित थीं। फलतः अधिकांश विद्यालय अपनी शाखा तथा उपशाख से संबंधित धार्म्मिक साहित्य की ही शिक्षा दिया करते थे। इस तरह उपरोक्त सभी बौद्ध शिक्षा-सामान्य बौद्ध शिक्षा-केन्द्र नहीं, अपितु ये ऐसे केन्द्र थे जहाँ शाखा-सम्बधी विशेषीकृत शिक्षा सम्पादित होती थी। उदाहरणार्थ, उद्यन में विनय के पाँच हीनयानी संकलन ही अध्ययन तथा अध्यापन के विषय थे। अयोध्या में औत्रांतिक साहित्य के दो बड़े विद्वान वसुबन्धु तथा श्रीलब्ध शिक्षा प्रदान किया करते थे। कुछ केन्द्रों में केवल अभिधर्म-साहित्य की शिक्षा दी जाती थी।

सामान्यतः बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों की शिक्षा बौद्ध धार्म्मिक साहित्य तक ही सीमित रहती थी। विनय, अभिधर्म तथा सूत्र—ये ही शिक्षा के प्रधान विषय होते थे। किंतु कहीं-कहीं अन्य विषयों के अध्ययन भी प्रचलित थे। उदाहरणार्थ, लघमन के एक बौद्ध विद्वान ने तंत्र-मंत्र से संबंधित एक प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत में लिखा था जो कि चीनी भाषा में अनुवादित हुआ था। उद्यन के कुछ मठों के बौद्ध भिक्खु प्रेत-विद्या में भी सिद्ध-हस्त थे। कांची के बौद्ध विद्यालय में हुएन-त्सांग ने योग की शिक्षा ग्रहण की थी। बौद्ध संघों में अधिकतर बौद्धमतानुयायी विद्यार्थी ही शिक्षा ग्रहण करते पाये गये थे। तीर्थिका तथा ब्राह्मण भी कुछ संघों में बौद्ध साहित्य का अध्ययन करते थे। श्रुघ्न तथा कुक्कुटाराम में तीर्थिकाओं तथा बौद्धों के वाद-विवाद का विवरण मिलता है। गुणमति बोद्धिसत्त्व ने तिलोषिक विहार के सन्निकट सांख्याचार्य माधव को वाद-विवाद में परास्त किया

था । अतः बौद्ध-विद्यालय नितान्त साम्प्रदायिक विद्यालय न थे, जिनके द्वार अन्य मतानुयायियों के लिए वन्द थे । संघों की शिक्षा सभी के लिए खुली हुई थी । अन्य मतावलम्वी सुयोग्य व्यक्ति भी संघ में आचार्य के पद पर नियुक्त हो सकते थे । सत्य की प्राप्ति सत्य की स्वतंत्र खोज से ही हो सकता है—यह था इन विद्यालयों का आदर्श । *

संघों की उच्च शिक्षा के ग्रहण के लिए छात्रों की प्राथमिक तैयारी आवश्यक थी । अतः इस शिक्षा के सम्पादन के लिए अनेक शिक्षक थे, जिनके द्वारा प्रायः सभी छात्र प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते थे । इस प्राथमिक शिक्षा का विवरण भी हुएन-त्सांग ने दिया है, जिससे पता चलता है कि बौद्ध छात्रों के पाठ्य-विषय भी लगभग वही थे जो कि ब्राह्मण छात्रों के । यह भी पता चलता है कि पाठ्य-विषयों में धार्मिक तथा सांसारिक-दोनों ही तरह के विषय सम्मिलित थे, ताकि इनके अध्ययन से छात्रों की मानसिक क्षमता कुछ ऐसी हो जाय, जिसके आधार पर उच्च शिक्षा की भित्ति सुगमतापूर्वक खड़ी की जा सके । चूँकि उच्च शिक्षा के विषय भी अनेक थे, इसलिए इन सभी सम्भावित विषयों का प्रारम्भिक ज्ञान छात्रों को प्राथमिक विद्यालय में प्राप्त कर लेना आवश्यक था। प्रचलित पद्धति के अनुसार ५–६ वर्ष की अवस्था में छात्र शिक्षा ग्रहण के लिए भेजे जाते थे । प्रारम्भ में उन्हें "सिधम्" की शिक्षा दी जाती थी, जो कि 'सिद्धिरस्तु" अथवा "सफलता हो" का संक्षिप्त रूप है। तात्पर्य यह था कि छात्रों की पहली पाठ्य-वस्तु कुछ ऐसी होनी चाहिए थी, जिससे उसे शीघ्र सफलता मिले । "सिधम्" अथवा वर्णमाला का उपयोग इस आशय से होता था कि बारह अध्यायों में संस्कृत भाषा के वर्णों का पूरा ज्ञान हो जाय । व्यंजन और स्वर के संयोगजनित रूपों अथवा मात्राओं का पूरा ज्ञान भी बच्चों को हो जाता था । इसके पश्चात् उन्हें सात वर्ष की अवस्था में "पाँच शास्त्रों" में प्रवेश कराया जाता था । पाँच शास्त्र थे :—व्याकरण, शिल्पस्थानविद्या, चिकित्साविद्या, हेतुविद्या, अध्यात्मविद्या । व्याकरण तथा अध्यात्मज्ञान धार्मिक साहित्य के अध्यापन तथा विवेचन के आधारस्तंभ थे। उसी तरह शिल्पविद्या तथा चिकित्सा के आधार पर प्रचलित सभी वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक शिक्षाएँ दी जाती

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 529.

थीं । इस तरह की प्राथमिक शिक्षा लगभग सभी बौद्ध विद्वान अपने बाल्य-काल में प्राप्त करते थे । सुप्रसिद्ध बौद्ध व्याख्याता कुमारजीव ने इन पाँच शास्त्रों का अध्ययन किया था । विद्वान गुणप्रभ ने इन पाँच शास्त्रों के अतिरिक्त ज्योतिष, गणना, औषधि तथा प्रेत-विद्या का भी अध्ययन किया था । अस्तु, बौद्धधर्म के आचार्यों के लिए उन विषयों की शिक्षा भी प्राय: अनिवार्य थी, जिनके द्वारा वे जनसामान्य की सेवा भलीभाँति कर सकें । बौद्धधर्म में आत्मोन्नति के साथ-साथ जन-सेवा का समन्वय बराबर से रहा है ।

शिक्षण पद्धति :—हुएन-त्सांग के समय में बौद्ध-विद्यालयों की शिक्षण-पद्धति में कोई विशेष परिवर्त्तन हुआ नहीं दीख पड़ता । श्रवण, मनन तथा साधनात्मक चिंतन ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति की ये तीन प्रमुख रीतियाँ बौद्ध शिक्षा पद्धति में भी कुछ संशोधित रूप में शुरू से ही चली आ रही थीं । इनके अतिरिक्त आचार-विचार-संबंधी व्यावहारिक शिक्षा भी पूर्ववत् जारी रही । व्यावहारिक भौतिक विषयों जैसे औषधि आदि की शिक्षा प्रयोगात्मक थी ।। उच्च शिक्षा में पत्रोत्तर तथा वाद-विवाद की पुरानी पद्धति न केवल पूर्णत: व्यवहृत होती रही, बल्कि इस पद्धति की और भी समुन्नति हुई, ताकि बौद्ध आचार्य वाद-विवाद की कला में पूर्णत: सिद्ध हो जायँ । चौथी शताब्दी के उपरान्त बौद्धधर्म को न केवल अन्य धर्मों से सैद्धान्तिक लोहा लेना पड़ा, बल्कि इसे आन्तरिक विरोधों का भी सामना करना पड़ता था । इस समय तक बौद्धधर्म कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था, जो कि धर्म की सैद्धान्तिक बातों में अपने को स्वतंत्र मानता था तथा जिनमें मतभेद काफी गहरा रहता था ।* अत: बौद्ध आचार्यों तथा नेताओं के लिए वाद-विवाद की कला में पूर्ण निपुणता प्राप्त करनी होती थी । प्राय: सभी उच्च शिक्षा-केन्द्रों में व्याख्यान तथा तार्किक संभाषणों की रीतियों की विशेष शिक्षा दी जाती थी । इस कला में सिद्धहस्त बौद्ध विद्वान पुरस्कृत तथा प्रशंसित होते थे । वाद-विवाद की योग्यता की नियमित परीक्षा हुआ करती थी तथा कुशल वक्ता कई तरह से सम्मानित किये जाते थे । हुएन-त्सांग के अनुसार इन विद्वानों को सुसज्जित हाथी पर

---

* The tenets of these schools keep these isolated, and controversy runs high. — Travels

बैठाया जाता था तथा इनके आगे-पीछे अनेक अनुचर चला करते थे। इनके विपरीत जो विद्वान जनसमूह अथवा विद्वत्सभा में अपनी योग्यता का परिचय न दे सकते थे अथवा वाद-विवाद में हार जाते थे, उनके मुँह मिट्टी से पोत दिये जाते थे, शरीर धूल से भर दिया जाता था, ये जंगलों में भगा दिये जाते थे अथवा गढ़े में ढकेल दिये जाते थे। संघों की सामान्य सामाजिक व्यवस्था भी कुछ ऐसी बनी हुई थी; जिसमें सामाजिक श्रेष्ठता का मानदण्ड व्याख्यान-संबंधी निपुणता ही था। जो भिक्खु विनय, अभिधर्म और सूत्र में से किसी एक धर्मग्रन्थ की मौखिक व्याख्या कर सकते थे, वे किसी पुराने भिक्खु की सेवा से बरी कर दिये जाते थे; जो दो की व्याख्या कर सकते थे वे श्रेष्ठ की उपाधि धारण करते थे; जो तीन की व्याख्या कर सकते थे उनकी सेवा के लिए अन्य भिक्खु दिये जाते थे; जो चार व्याख्या कर सकते थे, उनकी सेवा के लिए सामान्य भृत (lay servants) अर्पित किये जाते थे। जो पाँच की व्याख्या कर सकते थे वे हाथी पर चढ़ते थे; जो पाँच से अधिक धर्म-ग्रन्थों का मौखिक भाष्य कर सकते थे वे हाथी पर चढ़ते थे तथा उनके पीछे कई अनुचर चला करते थे।

वस्तुतः बौद्ध-भारत में भी व्याख्यान तथा वाद-विवाद की सभाएँ शिक्षा-प्रसार के बहुत ही उपयोगी तथा सबल अंग थे। भारत के विभिन्न प्रान्तों से अपने-अपने विषयों के सुयोग्य आचार्य किसी सुप्रसिद्ध विहार में आकर व्याख्यान अथवा तर्क के द्वारा अपनी योग्यता का परिचय दिया करते थे तथा अपने विचारों की पुष्टि में ज्ञान-भंडार की अमूल्य निधियाँ जगत् के समक्ष उड़ेल देते थे। हुएन-त्सांग ने कई ऐसे महत्वपूर्ण सभाओं का उल्लेख किया है, जिन्हें उसने स्वयं देखी थी अथवा जो उसके आगमन के पहले आयोजित हुई थीं। उसके समय की सभाओं में सबसे महत्त्व-पूर्ण कन्नौज की सभा थी जिसे हर्षवर्द्धन ने ६४३ में बुलायी थी। इस सभा का उद्देश्य महायान की श्रेष्ठता तथा हुएन-त्सांग की योग्यता प्रति-पादित करना था'। इस सभा में २० राजे तथा हजारों बौद्ध-ब्राह्मण एवं जैन धर्मों के विद्वान आमंत्रित हुए थे। हर्षवर्द्धन हर पाँचवें वर्ष इस तरह की सभा का आयोजन किया करता था जो कि 'महामोक्ष

परिषद्' के नाम से विख्यात था। हुएन-त्सांग के पहले कई महत्त्वपूर्ण सभाएँ हुई थीं, जिनके विवरण यथास्थान दिये जा चुके हैं। इन सभाओं में न केवल समस्त उत्तर भारत के विद्वान भाग लिया करते थे, किंतु दक्षिण भारत से भी पौद्ध विद्वान अपने विचारों की दिग्विजय के लिए उत्तर भारत की यात्रा किया करते थे। नागार्जुन के शिष्य देव ने कुक्कुटारम में तीर्थिकाओं को परास्त किया था।

आचरण-संबंधी व्यावहारिक शिक्षा शिक्षक की विभिन्न सेवाओं में स्वभावतः होती रहती थी। संघ का सामूहिक जीवन भी इस शिक्षा के प्रचुर अवसर उपस्थित करता था जिसका परिचय हमें मिल चुका है। हुएन-त्सांग के विवरण में 'कर्मदान' नामक एक संघ के पदाधिकारी का परिचय मिलता है, जो कि संघ की भौतिक आवश्यकताओं से संबंधित सभी वस्तुओं का प्रबन्धक था। यह पदाधिकारी कोई सुयोग्य तथा अनुभवी भिक्खु हुआ करता था। संघ के सभी सामान्य भिक्खुओं को 'कर्मदान' की आज्ञाएँ माननी होती थीं, बहुधा उसकी इन आज्ञाओं में निम्नश्रेणी के शारीरिक कार्य भी थे। इन्हें भी सामान्य भिक्खुओं को सहर्ष करना होता था। इन सेवाओं से भिक्खु को मुक्ति तभी मिल सकती थी जब वह अपने अध्ययन के द्वारा कम-से-कम एक धार्मिक विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेता था तथा इसपर सफलतापूर्वक व्याख्यान दे सकता था। इस प्रथा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस तरह सभी बौद्ध भिक्खुओं को कुछ समय तक अपनी शारीरिक सेवाएँ अपने शिक्षक तथा संघ को अर्पित करनी होती थीं।

नैतिक समुन्नति के लिए आत्मचिंतन भी एक उपयोगी माध्यम माना जाता था। आत्मचिंतन की रीतियाँ विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न थीं। हुएन-त्सांग के अनुसार हीनयानी भिक्खु 'मौन-चिंतन' बैठकर, खड़े होकर अथवा आगे-पीछे स्वतंत्रतापूर्वक घूमकर" किया करते थे। किंतु महायानी भिक्खु साधनात्मक चिंतन करते थे[२] जिसे समाधि अथवा प्रज्ञा कहा जाता था। नैतिक आचरण का महत्त्व बौद्ध शिक्षा-पद्धति में भी बहुत बड़ा था और उच्चकोटि के आचरणवाले भिक्खुओं को विशेष सम्मान प्राप्त

रहता था। बहुधा नैतिक आचरण की जाँच के लिए विशेष सभाएँ आयोजित होती थीं, जिनमें शुद्ध आचरणवाले महात्माओं को विशेष रूप में पुरस्कृत किया जाता था। नैतिक नियमों की अवहेलना पर संघ के द्वारा कई तरह के दण्ड निर्धारित थे, जो कि अपराध के अनुपात में ही हलके या कठोर हुआ करते थे। अन्तिम दण्ड संघ से निष्कासन था जो कि एक भिक्खु के लिए महान कष्टकर होता था।

(ख) इत्सिंग का विवरण—

इत्सिंग के विवरण से न केवल पूर्वकथित बौद्ध शिक्षा-पद्धति की पुष्टि होती है, बल्कि प्राथमिक शिक्षा-संबंधी कुछ विशेष बातों की जानकारी प्राप्त होती है। इस विवरण से यह भी स्पष्ट है कि इत्सिंग के समय में देश की बौद्धिक क्रियाशीलता अत्यन्त उन्नत थी।‡

संघ-प्रवेश का इच्छुक (भावी भिक्खु) किसी सुयोग्य शिक्षक, जो कि स्वयं उच्च भिक्खु होते थे, के समक्ष उपस्थित होता था। उचित अभिवादन के पश्चात् वह अपना मनतव्य उनसे प्रकट करता था। विविध प्रश्नों तथा अन्य युक्तियों के द्वारा शिक्षक उसकी नैतिक स्थिति का अनुमान लगाते थे। दुराचारी तथा अन्य रूप में समाज-विरोधी होने पर वह शिक्षक के द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता था। यदि वह इस जाँच में अस्वीकृत नहीं हुआ तो वह शिक्षक तथा संघ का परीक्ष्यमाण सदस्य हो जाता था। कुछ दिनों के पश्चात् उसे नैतिक नियमों के पाँच महामंत्रों की शिक्षा दी जाती थी। उसे हिंसा, चोरी, झूठ, जाल-फरेब तथा मादक द्रव्यों से सदा के लिए मुँह मोड़ना पड़ता था। अब वह उपासक कहलाने लगता था। बौद्ध-संघ तथा धर्म में प्रवेश करने का यह पहला कदम था। तत्पश्चात् शिक्षक उसे उचित वस्त्र तथा भिक्षाटन की सामग्री-प्रदान कर संघ के सम्मुख समर्पित करते थे। संघ की स्वीकृति पर 'पबज्जा' का सम्पादन होता था। उसके शिक्षक के समक्ष संघ के आचार्य के द्वारा उसे "दस शिक्षाएँ" दी जाती थीं। अब वह सामनेर कहलाने लगता था। २० वर्ष की अवस्था में वह अपने उपाध्याय के द्वारा "उपसम्पदा" के लिए प्रस्तुत

---

‡ This valuable picture of Buddhist learning and education in the monastries at the time of I-Tsing's visit shows a great amount of intellectual activity going on:—

Keay—Indian Education in Ancient and Later Times —P. 98.

किया जाता था । इसके सम्पादन के पश्चात् वह "उपसम्पन्न" भिक्खु बन जाता था तथा संघ का प्रौढ़ तथा पूर्ण सदस्य हो जाता था । 'उपसम्पदा' की तिथि, मास तथा घंटा—ये सभी संघ के खाते में लिख लिये जाते थे ताकि भविष्य में उक्त उपसम्पन्न की श्रेणी निश्चित की जा सके । उपसम्पन्न भिक्खु संघ अथवा अपने शिक्षक को कोई कृतज्ञता सूचक सामान्य भेंट दिया करता था।

प्राथमिक शिक्षा—इसके पश्चात ही संघ की वास्तविक आध्यात्मिक शिक्षा उसे दी जाती थी । सर्वप्रथम शिक्षक "प्रतिमोक्ष" का अध्यापन करते थे । इसके पश्चात् 'विनय' की शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। यह अध्यापन नियमपूर्वक लगातार चलता रहता था। प्रतिदिन सुबह को छात्रों की परीक्षा होती थी, ताकि वे पठित विषयों को स्मरण कर रहे हैं अथवा नहीं—इसका पता चले । विनय की समाप्ति के पश्चात सूत्रों तथा शास्त्रों के अध्यापन होते थे । इनके अतिरिक्त इत्सिग के समय में कुछ अन्य पुस्तकें भी धार्मिक साहित्य के अध्यापन के अनिवार्य अंग बन गई थी। इन पुस्तकों में प्रधान ये थीं–

(क) मात्रिचेत के दो ग्रन्थ जो कि १५० तथा ४०० पद्यों के थे । पाँच और दस शिक्षाओं (सिलाओं) के मनन के पश्चात ही इन्हें बौद्ध-भिक्खुओं को पढ़ना पड़ता था । हीनयानी तथा महायानी, दोनों ही प्रकार के भिक्खुओं के लिए इनके अध्ययन अनिवार्य थे ।

(ख) अश्वघोष का बुद्धचरित काव्य

(ग) नागार्जुन की श्रीलेखा तथा जातकमाला

कुछ भिक्खु योग, तर्क तथा अन्य विषयों की भी विशेषीकृत शिक्षा प्राप्त करते थे । योगशास्त्र का अध्ययन योगाचारशास्त्र से प्रारम्भ होता था तथा असंग के ८ शास्त्रों के अध्ययन के साथ समाप्त होता था । तर्क के विशेष अध्ययन के लिए 'जिन' के आठ शास्त्रों के अध्ययन आवश्यक थे ।

हुएन-त्सांग ने बौद्ध भिक्खु के दो प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है—उपाध्याय तथा कर्माचार्य । पहले का उत्तरदायित्व शिष्य की वैयक्तिक मानसिक शिक्षा से संबंधित था तथा दूसरे का शिष्य के व्यावहारिक आचरण से ।

नैतिक शिक्षा का महत्त्व पहले की तरह ही अक्षुण्ण था । 'विनय' के नियमों के पालन बडी तत्परता से किये जाते थे । कर्माचार्य का पद ही

इस बात का द्योतक है । उपाध्याय भी शिष्य के वैयक्तिक आचरण के प्रति सर्वदा सचेष्ट रहते थे । जब कभी वे शिष्य की ओर से किसी प्रकार की त्रुटि होते देखते थे तुरत ही उसकी चेतावनी उसे दे देते थे तथा उसके निराकरण के लिए आवश्यक शिक्षा तथा प्रायश्चित्त निर्धारित करते थे । गुरु शिष्य का पुराना वैयक्तिक संबंध अब भी अपने प्राचीनतम रूप में वर्त्तमान था । शिष्य-गुरु की सेवाओं में सुबह से शाम तक संलग्न रहता था । शिक्षक भी उसे पुत्रवत् मानते थे तथा रुग्ण होने पर उसकी औषधि, सेवा तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करते थे ।

संघ के बाहर की प्राथमिक शिक्षा का विवरण भी ईत्सिंग ने दिया है ।* इस शिक्षा के ग्रहण के बाद ही सामान्य विद्यार्थी संघ की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उपयुक्त हो सकते थे । प्रचलित प्रथा के अनुसार सामान्य विद्यार्थियों की शिक्षा ६ वर्ष की अवस्था में शुरू होती थी । पहली पुस्तक "सिद्धिरस्तु" ही कहलाती थी, जिसमें संस्कृत वर्णमाला के ४९ वर्णों की शिक्षा संयोजित रहती थी । वर्णों की पहचान के उपरान्त ३०० सरल श्लोक पढ़ाये जाते थे, जिनमें १०००० मात्राएँ रहती थीं । पहली पुस्तक ६ महीने में समाप्त होती थी । इसके पश्चात् आठ वर्ष की अवस्था में पाणिनि के सूत्रों की एक पुस्तक पढ़ाई जाती थी, जिसमें १ हजार श्लोक रहते थे । इन श्लोकों को छात्र आठ महीने में घोंक डालते थे । इसके पश्चात् १० वर्ष से १५ वर्ष की अवस्था तक 'धातु' तीन खिलों तथा "काशिकावृत्ति" के अध्ययन होते थे । अन्तिम पुस्तक पाणिनि के सूत्रों का सर्वोत्तम भाष्य थी । यह १८ हजार श्लोकों में लिखी गई थी । इसके लेखक जयादित्य नामक एक सुप्रसिद्ध विद्वान् थे । हुएन-त्सांग के भारतागमन के लगभग ३० वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु हुई थी । व्याकरण की शिक्षा के पश्चात् छात्रों को गद्य तथा पद्य की रचना सिखलायी जाती थी । इसके साथ ही हेतुविद्या (Logic) तथा दर्शन की शिक्षा भी प्रारम्भ हो जाती थी । हेतुविद्या की प्रचलित पुस्तकों में नागार्जुन की प्रारम्भिक "न्याय-द्वार-तर्क-शास्त्र" सबसे प्रमुख थी । जातकमाला तथा सुहृल्लेख नामक दो ग्रन्थों के अध्ययन भी आवश्यक थे ।

चिकित्सा विद्या के अध्ययन तथा अध्यापन आठ विभागों में होते थे—घाव-फुंसी, गले के ऊपर की बीमारियाँ, नीचे की बीमारियाँ;

---

* I-Tsing—Life—Ps. 170—2, 175.

भूत-प्रेत की बीमारियाँ; विष-निवारक औषधियाँ; बच्चों की बीमारियाँ दीर्घायु होने की रीतियाँ शरीर को सबल रखने की रीतियाँ। इत्सिङ्ग के अनुसार इन सभी विभागों के लिए अलग-अलग पुस्तकें थीं; किन्तु बाद में ये एक ही पुस्तक में संकलित कर ली गयीं। यही संकलित पुस्तक सर्वत्र व्यवहृत होती थी। चीर-फाड़ की रीतियों का कुछ संकेत इत्सिग ने दिया है, जिससे अनुमान किया जाता है कि शल्यक्रिया चिकित्सा-विद्या का एक प्रमुख अंग इत्सिग के समय में भी थी। शिल्पस्थान विद्या के सम्बन्ध में ईत्सिग ने कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु यह निश्चित है कि प्राथमिक शिक्षा के विषयों में यह भी एक अनिवार्य विषय था। इस तरह इत्सिग के समय में भी प्राथमिक शिक्षा ५ विद्याओं से सम्बन्धित थी, जिसका विस्तृत विवरण हुएन-त्सांग ने दिया था।

उच्च शिक्षा—व्याकरण, शिल्प, चिकित्सा, हेतु तथा अध्यात्म, इन पाँच विद्याओं के सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन विषयों से सम्बन्धित उच्च शिक्षा प्रारम्भ होती थी। व्याकरण की उच्च शिक्षा में साहित्य की शिक्षा भी सम्मिलित थी। इसके लिए निम्नलिखित काव्य-पुस्तकें व्यवहृत होती थीं—

(क) पतंजलि का सुप्रसिद्ध महाभाष्य जो कि 'चूर्णि' के नाम से प्रसिद्ध था। इसमें २४००० श्लोक थे। सामान्यतः इसके अध्ययन के लिए ३ वर्ष अपेक्षित थे।

(ख) भर्तृहरिशास्त्र—२५ हजार श्लोकों का भर्तृहरि का भाष्य था। यह बहुत ही समादृत ग्रन्थ था।

(ग) वाक्य-पदीय—भर्तृहरि-कृत एक दूसरा ग्रन्थ था, जिसमें ६०० श्लोक थे। भाष्य के रूप में ७००० अतिरिक्त श्लोक भी इस ग्रन्थ में सम्मिलित थे।

(घ) भर्तृहरि का एक व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ जिसमें ३००० श्लोक थे। १४००० श्लोकों का एक भाष्य भी इसमें सम्मिलित था, जो कि धर्मपाल का लिखा कहा जाता था।

इन पुस्तकों के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी व्याकरण-विद्या में पारंगत समझे जाते थे तथा उन्हें 'बहुश्रुत' की संज्ञा मिलती थी। इसी तरह धार्मिक विषयों की विशेषीकृत शिक्षा भी आयोजित रहती थी। इत्सिग के समय में उच्च शिक्षा के सुप्रसिद्ध केन्द्रों में नालन्दा तथा वलभी थे।

बौद्ध-संघों में शारीरिक स्वास्थ्य उपेक्षित न रहता था, और इसके लिए नियमित व्यायाम निर्धारित थे। ईत्सिंग के अनुसार सुशिक्षित व्यक्तियों—भिक्खु तथा सामान्य लोगों का प्रचलित व्यायाम टहलना था। यह व्यायाम नियमित रूप से किया जाता था। टहलने का समय सामान्यतः सुबह तथा शाम रहता था। विहार के आस-पास कुछ दूर तक बौद्ध श्रमण नित्य एक विशेष उद्देश्य के साथ घूमा करते थे। यह उद्देश्य था शुद्ध हवा प्राप्त करना तथा अपने को नीरोग एवं स्वस्थ रखना। नियमित रूप से खुली हवा में टहलने की स्वास्थ्य-सम्बन्धी उपादेयताओं से हम पूर्णतः परिचित हैं। इस उपयोगी एवं सरल व्यायाम से बौद्ध भिक्खु एवं अन्य विद्यार्थी लाभ उठाया करते थे।

दसवाँ अध्याय

प्राथमिक शिक्षा

प्राचीन भारत में प्राथमिक शिक्षा का क्या स्वरूप था—यही ठीक-ठीक ज्ञात नहीं। प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय साहित्य में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त सूत्र-ग्रंथों में भी ब्राह्मण-विद्यालयों के अतिरिक्त अन्य शिक्षा-संस्थाओं का उल्लेख नहीं मिलता। मनु ने वैश्यों के लिए कई तरह के कर्त्तव्य निर्धारित किये हैं, जिनमें नाप-जोख, खरीद-बिक्री वाणिज्य-व्यापार आदि सम्मिलित हैं। इन विषयों से सम्बन्धित ज्ञान स्वभावतः वंशानुगत व्यावहारिक रूप में प्रदत्त होता रहता था। किन्तु यह भी संभव है कि इन विषयों की विधिवत् शिक्षा के लिए वैश्यों तथा व्यवसायियों के द्वारा विशेष विद्यालय स्थापित थे जिनमें दैनिक कारवार सम्बन्धी उपयोगी शिक्षा प्रदान की जाती थी। यह भी निर्विवाद है कि मनु के बहुत दिन पहले ही भारत में लिखना-पढ़ना पूर्णतः प्रचलित था।* वस्तुतः लेखन-कला से भारतीय प्रागैतिहासिक काल से ही परिचित थे। प्राचीनतम मिट्टी के बर्तन पर ब्राह्मी लिपियाँ अंकित हैं। मोहनजोदड़ो की लिखावट तो अभी तक पढ़ी न जा सकी है।† इनकी शिक्षा भी किसी-न-किसी रूप में व्यावसायिक ज्ञान के सिलसिले में आयोजित रहती थी। ई० पूर्व ४५० के लगभग विरचित एक बौद्ध 'सील' में बच्चों के कुछ खेलों का विवरण है। इनमें से एक खेल 'अक्खरिका' कहा जाता था, जिसमें वायु अथवा किसी साथी की पीठ पर सांकेतिक लिपि को बालक अनुमान से पहचाना

---

* Keay—Indian Education in Ancient and Later Times—P. 166.

† Nehru— Discovery of India—P. 96.

‡ Keay—Indian Education in Ancient and Later Times—P. 167.

करते थे। बालकों के बीच उस खेल के प्रचलन से यह स्पष्ट है कि उस समय कुछ लोगों में पढ़ना-लिखना प्रचलित था। ये लोग व्यवसायी वर्ग के थे, जिनके व्यावहारिक धन्धों में पढ़ने-लिखने की आवश्यकता अवश्य ही बहुत अधिक रहती होगी। मेगास्थनीज तथा अन्य विदेशी लेखकों के विवरणों से इस बात की पुष्टि होती है कि पढ़ने-लिखने की शिक्षा की किसी-न-किसी प्रकार की व्यवस्था अवश्य थी। यह शिक्षा किस रूप में दी जाती थी, यह स्पष्ट नहीं। संभवतः कारबार तथा वाणिज्य-व्यवसाय से सम्बन्धित होकर ये अनायास ही व्यावहारिक रूप में प्रचलित थीं। यही भी संभव है कि इनकी शिक्षा भी विधिवत् रूप से उपरोक्त उन प्राथमिक स्कूलों में दी जाती होगी, जो कि व्यावसायिक वर्ग के द्वारा आयोजित रहे होंगे।

जहाँ तक ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति का सम्बन्ध है, बहुत दिनों तक प्राथमिक शिक्षा को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त न था। यह शिक्षा उच्च धार्मिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा से ही संलग्न रहती थी। यह शिक्षा भी, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बहुत दिनों तक प्रधानतः मौखिक थी। अतः प्राथमिक शिक्षा के विषय भी प्रारम्भ में मौखिक शिक्षा से ही सम्बन्धित थे। प्राथमिक शिक्षा के छात्रों को वैदिक मंत्रों के पढ़ने-लिखने की शिक्षा नहीं दी जाती थी, बल्कि उन्हें यह शिक्षा दी जाती थी कि वे वैदिक मंत्रों का शुद्ध उच्चारण कैसे करें। स्वर, मात्रा, बल, संधि आदि मौखिक उच्चारण के विभिन्न अवयवों के सम्यक् ज्ञान के लिए छात्र पूर्णतः अभ्यस्त कराये जाते थे।

> गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
> लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विकृतिः क्रमः॥
> स्वरितोदात्त नीचत्वं श्वासो नादोऽङ्गमेव च।
> एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छंदोभाषामधीयता॥
> पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः।
> स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम्॥†

ईसा के १००० वर्ष पहले तक भारतीय आर्य लेखनकला से पूर्णतः परिचित हो चुके थे तथा इस कला का प्रयोग, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रारम्भ हो गया था। किन्तु बहुत दिन बाद तक भी इस कला का उपयोग वैदिक मंत्रों के अध्ययन-अध्यापन के लिए

† तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—२४······

एकदम नहीं होता था। यह पहले कहा जा चुका है कि वैदिक मंत्र ईश्वरीय वाक्य समझे जाते थे, तथा इन्हें लिपिबद्ध करना अधार्मिक कार्य माना जाता था। फलतः वैदिक विद्यालयों में पढ़ने-लिखने का सम्बन्ध व्याकरण, छन्द आदि वेदांगों तक ही सीमित रहा। स्वयं वेद-मंत्रों की शिक्षा मौखिक ही होती रही। इस कठिनाई के समक्ष भी प्राथमिक शिक्षा का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होने लगा और उपनिषत्काल के व्यक्तिवाद में उसे विकसित होने का अनुकूल अवसर मिला। उपनिषद् साहित्य के एक राजा का यह कथन कि "मेरे राज्य में कोई भी निरक्षर नहीं है।" सर्वथा निराधार नहीं था।

न मे स्तेनो जनपदे नानाहिताग्निर्नाविद्वान् ॥*

सूत्र-काल में उपनयन तीन वर्णों के लिए अनिवार्य कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा की अभूतपूर्व प्रगति हुई। डा० अल्तेकर के अनुसार सूत्रकालीन भारत में कम-से-कम ८० प्रतिशत व्यक्ति साक्षर अवश्य थे। †

बौद्धधर्म के प्रतिष्ठापन तथा प्रसार से प्राथमिक शिक्षा के विस्तार की गतिविधि को बड़ा प्रश्रय मिला। जनवादी धार्मिक क्रान्ति स्वभावतः जन-सामान्य की शिक्षा से उदासीन न रह सकती थी। फलतः बौद्धसंघ क्रमशः शिक्षा-प्रसार की ओर भी मुड़ता गया। देश के असंख्य विहार तथा संघाराम शिक्षा-संस्थाओं में परिवर्तित हो गये। बौद्ध भिक्खुओं तथा भिक्षुनियों के द्वारा बहुसंख्यक ग्रामीण जनता स्थानीय भाषा के माध्यम से शिक्षित हुई। ‡ अशोक के शिलालेख इस बात के प्रमाण हैं कि ई०पूर्व ३री शती में बोलचाल की भाषा में शिक्षित लोगों की संख्या काफी थी। § मौर्य-साम्राज्य की विशालता तथा सुव्यवस्था ने शिक्षा-प्रसार को अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं। अतः धार्मिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त मौर्यकालीन राजनीतिक सुशान्ति एवं आर्थिक तथा व्यावसायिक समृद्धि ने भी शिक्षा-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

* छांदोग्य उप०—५।२।५

† Altekar—Education in Ancient India—P. 174.

‡ It is probable that learning was fostered by the numerous monstries, and that the boys and girls in hundreds of villages learned their lesson from the monks and nuns V. A. Smith quoted by J. M. Sen in History of education in India—P. 9.

§ V. A. Smith—Asoka—P. 138.

इन मिले-जुले कारणों के फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ने लगा। ई० पूर्व २री शती में प्राथमिक शिक्षा को भारतीय शिक्षा-पद्धति में स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हुआ, जो कि उसे अबतक प्राप्त न था। इसी समय से 'अक्षर-स्वीकरणम्' की प्रथा प्रचलित होने लगी, जिसके द्वारा बालकों को अक्षरों की शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी।† साधारणतया यह संस्कार ६ वर्ष की अवस्था में सम्पन्न होता था। बुद्ध तथा लव-कुश इसी अवस्था में शिक्षा प्रारम्भ करते वर्णित हैं।‡

५वीं शती के लगभग उपयनयन की अनिवार्यता समाप्त-सी होने लगी थी। स्पष्टतः तीनों वर्णों की प्राथमिक शिक्षा पर इसका अवश्य प्रभाव पड़ा। इस समय तक स्त्रियों के प्रति भी कई सामाजिक प्रतिबन्ध उपस्थित हो गये थे। शूद्र तो कभी खुले रूप में प्राथमिक शिक्षा के लिए अंगीकृत न थे। † इस तरह ५ वीं शती के पश्चात् भारत में प्राथमिक शिक्षा का क्षेत्र काफी संकीर्ण हो गया। इस काल में अधिक-से-अधिक सैकड़े ४० व्यक्ति साक्षर थे, जहाँ कि सूत्रकाल के प्रारम्भ में भारत की साक्षरता लगभग ८० प्रतिशत थी।£

प्राथमिक शिक्षा के ह्रास का यह क्रम जारी रहा और सन् ८०० से १२०० ई० की अवधि में इसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। राजनीतिक अव्यवस्था, मुसलिम आक्रमण तथा बौद्धधर्म के पतन से प्राथमिक शिक्षा को बहुत बड़ा आघात पहुँचा। फलस्वरूप १२ वीं शती के अन्त में भारत में प्राथमिक शिक्षा सैकड़े १० से अधिक न थी।†

प्राथमिक स्कूलों के संगठन तथा प्रबन्ध के सम्बन्ध में हमें बहुत कम जानकारी है। वैदिक विद्यालयों के अतिरिक्त अन्य शिक्षा-संस्थाओं, विशेषतः प्राथमिक शिक्षालयों, के बारे में प्राचीन साहित्य लगभग मौन हैं। व्यवसाय-सम्बन्धी प्राथमिक शिक्षा तो पारिवारिक स्कूलों में वशंगत हुआ करती थी। किन्तु लेखन के पूर्ण प्रचलन के बाद प्राथमिक स्कूलों की स्थापना स्वतन्त्र रूप में भी होने लगी। हम देख चुके हैं कि वैश्यों तथा वणिकों की बस्तियों

---

† Altekar—Education in Ancient India—P. 174.

‡ ललितविस्तार १०, उत्तररामचरित, २ रघुवंश—३

J. M. Sen—History of Education in India—P. 18.t

£ Altekar—Education in Ancient India—P. 175.

† Altekar—Education in Ancient India—P. 184.

में स्वतन्त्र शिक्षक नियुक्त होने लगे थे, जो वाणिज्य-व्यवसाय के आवश्यक विषयों की शिक्षा दिया करते थे। ऐसे शिक्षक तथा इनके शिक्षालयों का प्रबन्ध सामूहिक रूप से व्यावसायिक समाज के द्वारा होता था। कालान्तर में इन विद्यालयों का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया और अन्य प्रकार के व्यावसायिक भी ऐसे शिक्षालय स्थापित करने लगे। पूर्वकथित उपालि-आख्यान से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक बौद्ध-युग में लेखा, गणना तथा रूप की शिक्षा प्रदान करनेवाले प्राथमिक शिक्षालय संघ के बाहर गाँवों में वितरित थे। संभवतः इन शिक्षालयों का प्रबन्ध ग्रामीण जाता के द्वारा सामूहिक रूप से होता था। ललितविस्तार के अनुसार प्राथमिक स्कूल लिपिशाला कहे जाते थे तथा उसके शिक्षक दारकाचार्य।

लिपिशालमुपनीयते स्म कुमारः। तत् विश्वामित्रो नाम दारकाचार्यः।

किन्तु इन लिपिशालाओं के बारे में विशेष बातें ज्ञात नहीं हैं।

महायान शाखा के आविर्भाव के बाद बौद्ध संघों में सांसारिक विषयों की शिक्षा भी होने लगी थी। उस समय के बाद संघों के द्वारा प्राथमिक शिक्षा पूर्णतः वितरित होने लगी, यद्यपि प्रारम्भ से ही संघ इस ओर क्रियाशील थे। हम देख चुके हैं कि इत्सिग ने संघों के उच्च शिक्षा के साथ-साथ प्राथमिक शिक्षा का भी उल्लेख किया है।

ईसवी सन् ४०० तक शिक्षा-प्रसार के लिए राज्य-संस्थाएँ न थीं। वैयक्तिक रूप में ही अधिकांश शिक्षक शिक्षा-दान दिया करते थे, तथा इनका भरण-पोषण समाज की ओर से होता था। ५वीं शती के पश्चात् कुछ राज्याश्रित संस्थाएँ संचालित होने लगी थीं। इन संस्थाओं से बहु-संख्यक छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त कर निकलने लगे थे। ऐसे छात्र बहुधा शिक्षा प्राप्त कर प्राथमिक शिक्षा के शिक्षक के रूप में क्रियाशील होने लगे थे। ऐसे शिक्षकों का उल्लेख राजतरंगिणी में है।†

कहीं-कहीं प्राथमिक स्कूलों का संस्थापन धनी-मानी व्यक्तियों के द्वारा होता था, किन्तु सामान्यतः सामूहिक रूप में समस्त गाँव की ओर से ही पाठशाला संचालित रहती थी। दक्षिण भारत में प्राप्त कई शिलालेखों में ऐसे स्कूलों का उल्लेख है। कहीं-कहीं तो इन स्कूलों के खर्च आदि के लिए विशेष प्रकार के कर भी लगाये जाते थे।

---

† Altekar—Education in Ancient India—P. 179.

इन विभिन्न रूपों में प्राचीन भारत में प्राथमिक पाठशालाएँ संस्थापित होती थीं। पाठशालाओं के शिक्षक बहुधा गाँव के पुरोहित ही होते थे। ये पाठशालाएँ गाँव केमन्दिर से संलग्न रहती थीं। पुरोहित पुजारी तथा शिक्षक, दोनों का कार्य करते थे। इन शिक्षकों के निर्वाह के लिए कहीं-कहीं मन्दिर को जमीन ही अर्पित कर दी जाती थी। पाठशालाओं के कुछ शिक्षक छात्रों नियमित शुल्क लिया करते थे। यह शुल्क रुपये-पैसे अथवा अन्न के रूप में गृहीत होता था। ग्रामीण पाठशालाओं की औसत आय, अँगरेजी काल के पूर्व, गाँव की पटवारी के बराबर थी। श्री मथाई की सम्मति से पाठशालाओं का इतिहास ग्राम-समुदाय के इतिहास से संलग्न है तथा पाठशालाओं का उद्भव इतना ही पुराना है, जितना कि ग्राम-समुदाय का।* समुदाय के पुरोहित अपने धार्मिक कर्त्तव्यों के साथ-साथ शिक्षा-वितरण भी किया करते थे। कालान्तर में अन्य वर्ण के लोग भी शिक्षक होने लगे। कुछ विद्वान इस विचार से सहमत नहीं। उनके मत में प्राथमिक पाठशालों का विकास ग्राम-समुदाय के विकास से बहुत पीछे हुआ।† इस विकास के विभिन्न कारण तथा विभिन्न परिस्थितियाँ थीं। इतना अवश्य है कि ये पाठशालाएँ अधिकांशत: गैरसरकारी संस्थाएँ थीं, जिनके खर्च आदि का प्रवन्ध ग्राम-समुदाय के द्वारा ही होता था। यह भी निश्चय है कि भारत के प्राथमिक शिक्षालय जनतन्त्रात्मक थे तथा इनका स्वरूप धार्मिक की अपेक्षा व्यावसायिक ही अधिक था।‡

पाठ्य-विषय—

प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ में धार्मिक तथा व्यावसायिक ज्ञान से ही सम्बन्धित थी। फलत: प्राथमिक शिक्षा के पाठ्य-विषय इस प्रकार के ज्ञानार्जन के ही आश्रित रहते थे। वैदिक विद्यालयों में, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, प्राथमिक शिक्षा प्रधानत: मंत्रों के शुद्ध उच्चारण की रीतियों तक ही सीमित थी। पढ़ना-लिखना के पूर्ण प्रचलन के बाद भी इन विद्यालयों में इनका उपयोग बहुत दिनों तक नहीं होता था। मंत्रों के मौखिक संरक्षण की शिक्षा में स्वभावत: पढ़ना-लिखना को आवश्यकता होती थी।

---

*John Mathai—Village Govt. in British India—Chapter II. J. M. Sen—History of Elementary Education in India—P. 37.

† Keay—Indian Education in Ancient and Later Times—Ps. 1175-176.

‡ John Mathai—Village Govt. in British India—P. 40.

किन्तु इन विद्यालयों में सहायक विषयों की शिक्षाओं से पढ़ना-लिखना का उपयोग क्रमशः होने लगा था। व्यावसायिक विद्यालयों की शिक्षा सामान्यतः व्यावहारिक रूप में वंशगत होती थी। किन्तु कालान्तर में इस प्रकार के ज्ञान के लिए भी स्वतन्त्र विद्यालय स्थापित हुए, इसका उल्लेख हो चुका है। इन विद्यालयों में पढ़ना-लिखना की व्यावहारिक शिक्षा अवश्य होती थी। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन भारत में पढ़ना-लिखना तथा अंकगणित का वह महत्त्व न था जो कि आज है। कागज तथा मुद्रण-यंत्र के अभाव में पढ़ना-लिखना की उपयोगिता सीमित थी। हाँ, उनकी आवश्यकता व्यावहारिक दैनिक कार्यों, विशेषतः व्यावसायिक कार्यों में, अवश्य होती थी। फलतः शुरू में इन विषयों की शिक्षा इसी रूप में दी जाती थी। ई० पूर्व १००० के लगभग भारत में लिखना का पूर्ण प्रचलन हो गया था। इस समय के बाद से प्राथमिक विद्यालयों में लिखना की शिक्षा प्रारम्भ हो गई थी। ई० पूर्व ४५० के लगभग लिखना का इतना प्रचलन हो गया था कि बच्चे 'अक्खारिका' के रूप में लिखना-सम्बन्धी खेल खेला करते थे। महावग्ग के उपालि-उपाख्यान से इस बात की पुष्टि होती है कि भारत की प्राथमिक शिक्षा में लिखना-पढ़ना तथा अंकगणित का समावेश इस समय तक हो चुका था। * राजगृह के उपालि के माता-पिता अपने पुत्र के भावी जीवन के लिए चिन्तित थे। कौन-सा व्यवसाय उसके लिए उत्तम होता—इसकी चिन्ता उन्हें थी। उपालि के माता-पिता ने सोचा, "यदि उपालि को 'लेखा' (लिखना) की शिक्षा दी जाय तो वह हमलोगों की मृत्यु के पश्चात् सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है। किन्तु, उसकी उंगलियाँ लिखना सीखने में व्यथित हो जायँगी। यदि उपालि को गणना (अंकगणित) की शिक्षा दी जाय तो वह हमलोगों की मृत्यु के पश्चात् सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है। किन्तु गणना सीखने में उसका वक्ष रोग-ग्रस्त हो जायगा। यदि उपालि को 'रूप' की शिक्षा दी जाती है तो हमलोगों की मृत्यु के पश्चात् उसका जीवन सुखमय हो सकता है। किन्तु इसकी के सीखने में उसके नेत्रों को हानि पहुँचेगी।" इस तरह उपर्युक्त किसी भी शिक्षा को उपयुक्त न समझकर उपालि के माता-पिता ने उसे बौद्धसंघ में दाखिल कर देना ही उत्तम समझा, क्योंकि संघ-जीवन ही एक ऐसा जीवन था जहाँ उपालि को कष्ट-रहित

---

* महावग्ग—१।४९

सुखमय जीवन प्राप्त हो सकता था। इस आख्यान से यह स्पष्ट है कि महा-वग्ग के समय प्राथमिक शिक्षा में लिखना, अंकगणित तथा रूप (व्यावहारिक वाणिज्य अंकगणित) की शिक्षा पूर्णतः प्रचलित हो गई थी तथा यह शिक्षा संघ के बाहर सामान्य प्राथमिक स्कूल में दी जाती थी। कलिंग के राजा खारवेल ने (ई० पूर्व १५७ में) अपने बचपन में इन विषयों की शिक्षा पायी थी। ललित-विस्तार में भी बच्चे लिखना सीखते वर्णित हैं। जातक १२५ में लिखने की काठ की तख्ती (फलक) तथा वर्णक—काठ की कलम का उल्लेख है।* पाली में रचित 'सिंगलोवाद सुत्त' में माता-पिता का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है कि वे अपने पुत्रों को ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दें। इसी सुत्त में शिक्षक तथा शिष्य के कर्त्तव्य निर्धारित हैं, जिसके अनुसार शिक्षक को ज्ञान तथा विज्ञान तथा कथा-कहानी अपने शिष्य को की शिक्षा देनी चाहिये।† इस प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का तात्पर्य संभवतः उपर्युक्त लिखना, अंकगणित आदि से भी होगा। अशोक के समय तक प्राथमिक शिक्षा काफी विकसित हो गई थी तथा इस शिक्षा में लिखना-पढ़ना का पूर्ण सन्निवेश था। अशोक के शिलालेख इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। इन शिलालेखों से यह भी स्पष्ट है कि प्राथमिक शिक्षा बोलचाल की भाषा की शिक्षा से ही अधिक सम्बन्धित थी। ई० सन् २५० के पश्चात् संस्कृत का पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया और फलतः इसके बाद प्राथमिक शिक्षा भी संस्कृत से विशेषतः प्रभावित होने लगी। इत्सिग के अनुसार कुछ प्रारम्भिक ज्ञान के पश्चात् छात्रों को ८ वर्ष से ११ वर्ष की अवस्था तक पणिनि तथा अन्य व्याकरण-सूत्रों की शिक्षा दी जाती थी।

सन् ८०० के पश्चात् संस्कृत का ह्रास प्रारम्भ हो गया और स्थानीय भाषाओं की उन्नति होने लगी। फलतः प्राथमिक शिक्षा के पाठ्य-विषयों में पुनः बोलचाल की भाषाओं को प्रधानता मिलने लगी। किन्तु जो बच्चे उच्च शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे, उनके लिए संस्कृत का अध्ययन प्राथमिक वर्गों

---

* Keay—Indian Education in Ancient and Later Times—Page 168.

† Buhler—Indian Palaeography—Page 5.

‡ Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 169.

¶ Rhys Davids......Buddhism

में भी आवश्यक था। संस्कृत में विशेषतः पाणिनि तथा कोष ही पढ़ाये जाते थे। दक्षिण भारत के शिलालेखों से पता चलता है कि उच्च शिक्षा में भी बोलचाल की भाषाएँ जैसे तेलगू, कनारिन, मराठी आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वस्तुतः ६ वीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत मृत भाषा सी हो गई थी। अस्तु, इस भाषा के शिक्षण की आवश्यकता प्राथमिक वर्गों में प्रायः नहीं थी। स्थानीय भाषाओं के अतिरिक्त प्राथमिक स्कूलों में देशी हिसाब, जमाखर्च, खरीद-बिक्री, जमीन की नाप-जोख आदि उपयोगी विषयों की शिक्षाएँ जारी रहीं।

ब्राह्मण-पद्धति के पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा की प्रधानता थी। किन्तु सामान्य प्राथमिक स्कूलों में धार्मिक शिक्षा बालकों को नहीं दी जाती थी।

शिक्षण-पद्धति :—कागज तथा पाठ्य-पुस्तक के अभाव में प्राथमिक शिक्षा के सम्पादन में आज की अपेक्षा कहीं अधिक कठिनाई थी। धनी बच्चे सामान्यतः काठ की तख्ती (फलक) का प्रयोग लिखने के लिए करते थे। एक शिला-चित्र में भगवान बुद्ध आयताकार काठ-पट पर लिखना सीखते दिखलाये गये हैं।*

साधनहीन बच्चे जमीन पर बालू अथवा धूल बिछाकर पतली लकड़ी अथवा उंगलियों से लिखा करते थे। शिक्षक श्यामपट पर एक अक्षर लिख देते थे। बालक इसे उच्चरित करते तथा अपने-अपने काष्ठपट पर अंकित करते थे। इस पद्धति का विवरण ललितविस्तार में है।†

तत्तबोधिसत्त्वाधिष्ठानेन तेषां दारकाणां मातृकां वाचयतां यदा अकारं परिकीर्तयन्ति स्म तदा प्रनित्यजः, संस्कारशब्दो निश्चएति स्म।

भाषा की शिक्षा अक्षरों के ज्ञान से प्रारम्भ की जाती थी। स्वतंत्र अक्षरों के पश्चात् संयुक्ताक्षरों की शिक्षा होती थी। अक्षरों की शिक्षा में लगभग ६ मास व्यतीत होते थे। लगभग १ वर्ष तक अंकों की शिक्षा होती थी, जिसके आधार पर अंकगणित पढ़ाये जाते थे। गणित की शिक्षा भी लिखना की शिक्षा की तरह ही दी जाती थी। गुणा की तालिका (पहाड़ा) आदि शिष्य शिक्षक की अनुकरण पर दुहराते थे तथा तख्ती पर लिखते थे। शिक्षक के स्थान पर बहुधा बालचट भी पाठ देते थे।

---

* Altekar—Education in Ancient India—P. 177.
† Altekar—Education in Ancient India—P. 178.

काष्ठ-पट पर लिखने के पश्चात् बालकों को ताड़पत्र पर लिखने का अभ्यास कराया जाता था। शिक्षक किसी नुकीली वस्तु से ताड़पत्र पर एक अक्षर हलकी रीति से अंकित कर देते थे। इसी के अनुकरण पर छात्र कोयले की रोशनाई से अक्षर लिखते थे। कई दिनों तक यह अभ्यास चलता था। शिक्षक द्वारा लिखित एक ही आदर्श लेखन पत्र कई शिष्यों के द्वारा उपयुक्त हो सकता था। एक अक्षर में पूर्ण अभ्यस्त होने के पश्चात् शिक्षक द्वितीय आदर्श पाठ देते थे और दूसरे ताड़-पत्र पर दूसरा अक्षर अंकित किया जाता था। इसी क्रम से लिखने का अभ्यास प्राथमिक स्कूलों में होता था। मुद्रण-यंत्र के अभाव में सुलेखन पर जोर देना स्वाभाविक भी था।

शिक्षा के आधुनिक दृष्टिकोण से देखे जाने पर प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा कई रूपों में अपूर्ण प्रतीत होती है। प्राथमिक पाठशालाओं का उद्देश्य नितान्ततः व्यावहारिक ज्ञानार्जन था। बालकों को उन्हीं विषयों की शिक्षा दी जाती थी, जिनसे उनके जीवन का रोजमर्रे का सम्बन्ध था। लिखना, पढ़ना और गणित, इनके व्यावहारिक स्वरूप ही प्राथमिक पाठशालाओं के प्रधान पाठ्य-विषय थे। जीवन को समुन्नत तथा संस्कृत बनानेवाले विषयों की शिक्षा प्रायः नहीं के बराबर थी। साथ ही, बालकों की कलात्मक प्रवृत्तियों को विकसित होने के अवसर भी नहीं मिलते थे। बालकों का मानसिक विकास दैनिक व्यापारों के निर्वाह तक ही सीमित रह जाता था। शिक्षण-पद्धति भी अधिकांशतः शुष्क तथा रटन्त थी। किन्तु इन त्रुटियों के बावजूद भी, प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा प्रचलित प्राथमिक शिक्षा से कई रूपों में अच्छी थी। आज की अपेक्षा पुराने प्राथमिक स्कूलों का कार्यक्रम जीवन से कहीं अधिक संबद्ध था। प्राथमिक स्कूलों में शिक्षित छात्र अपने सामान्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति की क्षमता प्राप्त कर लेते थे। उनका पढ़ना, लिखना तथा हिसाब-सम्बन्धी ज्ञान कोरा किताबी नहीं, बल्कि व्यावहारिक होता था। प्राथमिक स्कूलों की यह विशेषता तो हाल तक कायम थी। शिक्षण के क्षेत्र में कई आधुनिक प्रयोग भारत में प्राचीन काल ही से प्रचलित थे। मोंटेसरी द्वारा प्रतिपादित 'लेखन' के महत्त्व तथा रीति से भारतीय प्राथमिक विद्यालय बहुत पहले परिचित हो चुके थे।* लिखना के प्रारम्भिक पाठों में खुदे अक्षरों पर ऊँगली घुमाने की उपयोगिता तथा शैक्ष-

---

* Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 179.

णिक महत्त्व से भारतीय शिक्षक पूर्णत: अवगत थे । प्राथमिक स्कूलों के छात्रों की शिक्षा वर्गीय नहीं, अपितु वैयक्तिक होती थी। इस पद्धति के अनुसरण से शिक्षण की गति वैयक्तिक आवश्यकताओं एवं क्षमताओं के अनुकूल मोड़ी जा सकती थी । साथ ही, छात्रों को अपनी क्षमताओं के उपयोग के अवसर मिलते थे । आधुनिक वर्गवृद्ध शिक्षण में ये सुविधाएँ उपलब्ध नहीं । बालचट-पद्धति प्रथा के द्वारा सुयोग्य छात्रों को आत्म-विकास का मौका मिलता था तथा उत्तरदायित्व सम्हालने का प्रशिक्षण भी उन्हें होता था। उच्च ब्राह्मण-विद्यालयों से अलग रहते हुए भी, प्राचीन भारत के प्राथमिक विद्यालय उनके आदर्शों तथा आचारों से अवश्य ही अनुप्राणित रहते थे। इन विद्यालयों में भी गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध की तह में एक आध्यात्मिक आदर्श था, एक आत्मीयता थी, जिनका अभाव आधुनिक प्राथमिक विद्यालयों स्पष्ट में है ।

इस तरह भारत की प्राथमिक पाठशालाएँ, अपनी त्रुटियों के वावजूद भी, शताब्दियों तक जन-सामान्य के बीच उपयोगी शिक्षा सफलतापूर्वक वितरण करती रहीं। * वस्तुत: इन्हीं पाठशालाओं एवं औद्योगिक शिक्षालयों के द्वारा भारतीय समाज के व्याहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति शताब्दियों भर होती रही। इन्हीं शिक्षा-संस्थाओं के द्वारा उसे वह आर्थिक स्थिरत्व तथा संपन्नता प्राप्त हुई जिसके लिए वह संसार में विख्यात था । यदि भारत के उच्च वैदिक विद्यालयों ने भारतीय संस्कृति के सुरम्य फूल खिलाये तो भारत के प्राथमिक एवं औद्योगिक शिक्षा-संस्थाओं ने इनके लिये वह उद्यान प्रस्तुत किया, जिनके बिना संभवत: न फूल उग सकते, न खिल सकते । वृक्षों की छाया, एक छाजन, एक वर्ण कुटीर में अवस्थित, न पुस्तक, न कागज, न चार्ट, न नक्शे; ऐसी परिस्थितियों में भारत के प्राचीन प्राथमिक शालाओं ने जो कुछ किया, वह श्लाघनीय है ।†

With only the shade of a tree, or a veranda for schoolroom..it must be admitted that the results achieved by the teachers of these primary schools were not altogether unworthy, and they helped through long centuries to give to India some elements of a popular education.

* Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 179.

† Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 179.

ग्यारहवाँ अध्याय

व्यावसायिक शिक्षा

प्राचीन भारत की उच्च शिक्षा-पद्धति प्रधानतः आध्यात्मिक ज्ञान से संबंधित थी। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का कोई आयोजन ही न था। इन विषयों की शिक्षा की सुव्यवस्था शुरू से विद्यमान थी, अन्यथा भारतीय समाज को वह औद्योगिक निपुणता तथा आर्थिक सम्पन्नता न प्राप्त होती, जिसके लिए वह शताब्दियों तक संसार-प्रसिद्ध था। प्राचीन भारत न केवल देशवासियों की औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, बल्कि यहाँ के औद्योगिक उत्पादन अन्य देशों में भी बहुलता से भेजे जाते थे। सीमा-प्रदेश के किरातों के साथ कपड़े, दरी तथा चमड़े का व्यवसाय पूर्णरूप से चालू था।* सामुद्रिक मार्ग से प्राचीन भारतीय आर्य भलीभांति परिचित थे तथा बेबिलोन (बाभेरू) आदि पाश्चात्य देशों से भारत का व्यावसायिक संबंध था। ई० पूर्व ५ वीं शती में भारतीय व्यापारियों का एक उपनिवेश मिस्र के मेम्फिस नगर में विद्यमान था।† सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत और पश्चिम का व्यावसायिक संबंध और भी दृढ़ हो गया। सम्भवतः अति प्राचीन काल में ही भारत का व्यावसायिक संबंध दक्षिण-पूर्वी देशों तथा द्वीपों से भी स्थापित हो चुका था। जातकों में भारतीय व्यवसायियों की अनेक यात्राओं का उल्लेख है। सामुद्रिक व्यापार के लिए जहाजों की आवश्यकता थी। फलतः प्राचीन भारत में जहाज बनाने का व्यवसाय काफी व्यवस्थित तथा समुन्नत था। ये जहाज सुदृढ़ तथा सुविशाल होते थे। जातकों के अनुसार एक

---

* Advanced History of India—P. 47.

† There was a colony of Indian merchants living at Memphis in Egypt about 5th Cent. B. C.
Nehru—Discovery of India—P. 95.

जहाज में सैकड़ों आदमी बैठ सकते थे । जहाज के व्यवसायियों को पर्याप्त आर्थिक आय होती थी तथा इनके जहाज देश-विदेश में आते-जाते और विभिन्न तरह के माल ढोया करते थे ।* व्यापारिक समृद्धि के फलस्वरूप देश की औद्योगिक समृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती गई तथा औद्योगिक गृह-कारखानों में अनेक तरह की उपयोगी वस्तुएँ तैयार होने लगीं ।† रेशमी, ऊनी तथा मलमल आदि महीन सूती कपड़ों की माँग इन कारखानों से बराबर पूरी होती रही । इनके अतिरिक्त अस्त्र-शस्त्र, कारपोजी, सुगन्धित द्रव्य, हाथी-दाँत, सोना तथा रत्न भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय की सुप्रसिद्ध वस्तुएँ थीं ।‡ कर्मकार तरह-तरह के लकड़ी के सामान—पलंग, कुर्सी, रथ, नाव, जहाज आदि तैयार किया करते थे । मिट्टी के बर्तन बहुत मजबूत, आकर्षक तथा उपयोगी होते थे । कारीगरों को राज्याश्रय भी समुचित मात्रा में प्राप्त रहता था । अशोक ने कुशल कारीगरों की सुरक्षा के लिए कड़े नियम बनाये । इन्हें किसी प्रकार की हानि तथा शारीरिक क्षति पहुँचानेवाले को कठोर दण्ड दिया जा सकता था । अस्त्र-शस्त्र तथा जहाज बनानेवालों को राज्य की ओर से नियमित पारिश्रमिक अथवा वेतन भी मिलते थे । बढ़ई, लोहार आदि व्यवसायियों के कार्यों के पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण के लिए भी विशेष प्रकार के नियम निर्धारित थे ।§ सूत्रकाल में व्यावसायिक अध्ययन में भी विशेषीकरण की प्रणाली पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गई थी । दुर्भाग्यवश, औद्योगिक शिक्षा के संबंध में प्राचीन साहित्य में बहुत ही कम सामग्री उपलब्ध है । कुछ बिखरे प्रमाणों के आधार पर प्रमुख व्यवसायों तथा उद्योगों की शिक्षा-व्यवस्था का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जाता है ।

सैनिक शिक्षा—राजकुमारों की शिक्षा का पूर्ण विवरण पहले प्रस्तुत किया जा चुका है । हम देख चुके हैं कि कौटिल्य के समय तक इनकी शिक्षा में राजनीति, दण्डनीति तथा वार्ता आदि विषय भी सम्मिलित हो चुके थे । राजकुमारों के लिए निर्धारित पाठ्य-विषय, जहाँ तक कि अस्त्र-

---

* Cambridge History of India—Vol. I, P. 212.
‡ Rhys. Dasids—Budhui India— P. 47.
‡ Rhys. Davids—Buddhist India—P. 98.
§J. M. Sen—History of Elementary Education in India—P. 32.

शस्त्र से संबंध था, सभी क्षत्रिय कुमारों के लिए उपयुक्त थे ।† किंतु सामान्य सैनिक के लिए राजनीति, दण्डनीति आदि की आवश्यकता न थी । मनु के अनुसार भी राजकुमारों के लिए वेद, राजनीतिशास्त्र तथा वार्ता की शिक्षा आवश्यक थी ।‡ कतिपय राजकुमारों के लिए संस्कृत-व्याकरण की शिक्षा पूर्णतः बोधगम्य न होती होगी । सम्भवतः यही कारण है कि कथासरित्सागर में वर्णित राजा को संस्कृत-व्याकरण का ज्ञान न था ।

क्षत्रियों के पाठ्य-पुस्तकों में वैदिक ज्ञान के लिए लगभग वही पाठ्य-पुस्तकें व्यवहृत होती थीं, जो कि ब्राह्मण-विद्यालयों में प्रचलित थीं । किंतु जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, क्षत्रिय राजकुमारों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये-नये पाठ्य-पुस्तकें भी विरचित तथा निर्धारित होती गई थीं । कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए आवश्यक था । राजनीति, दण्डनीति के अतिरिक्त इसमें वार्ता भी सम्मिलित थी। अर्थशास्त्र के संक्षिप्त संस्करण के रूप में ३ री शती ईसवी में 'नीतिसार' नामक एक पुस्तक कामन्दक के द्वारा विरचित हुई । यह पुस्तक भी क्षत्रिय-कुमारों की शिक्षा के लिए उपयुक्त थी । अर्थशास्त्र तथा नीतिसार की शुष्क बातें तथा शुष्क विवरण-शैली स्वभावतः बहुत-से कुमारों को रुचिकर न प्रतीत होती थी । अतः छठी शताब्दी के लगभग कुछ ऐसे पुस्तकों की रचना हुई, जो कि शुष्क राजनीतिक तथा अन्य बातों को रोचक कथा-कहानी के रूप में उपस्थित करती थीं । पंचतंत्र इन पुस्तकों में प्रथम था । अनेक कथा-कहानियों के द्वारा इसमें वैयक्तिक तथा सामाजिक उलझनों का स्पष्टीकरण किया गया है । हितोपदेश भी इसी प्रकार का कथा-संग्रह था, जो कि क्षत्रियों की शिक्षा में व्यवहृत होता था । अन्य कथा-कहानियों में कथा-सरित्सागर भी था । रामायण तथा महाभारत के आख्यान तथा वीर-गाथाएँ अवश्य ही अध्ययन के रोचक विषय थे । ७ वीं शती के लगभग राजस्थान में स्थानीय वीर-गाथाओं का प्रचलन हुआ, जो कि क्षत्रिय कुमारों की शिक्षा के उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करती थीं ।

---

† मनु—७।४३—

‡ Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 57.

क्षत्रियों की शिक्षा भी सामान्यतः ब्राह्मणों के द्वारा ही सम्पादित होती थी। महाभारत में पाण्डव-कौरव के गुरु द्रोणाचार्य थे। किंतु यह कहा जा चुका है कि अर्जुन ने स्वयं अभिमन्यु को शिक्षा दी थी। ब्राह्मण पुरोहितों की यह चेष्टा रहती थी कि क्षत्रियों की शिक्षा भी उन्हीं के द्वारा सम्पादित हो। मनु के अनुसार क्षत्रियों के लिए शिक्षण वर्जित था।‡ वार्ता की शिक्षा के लिए अन्य वर्ण के लोग उपयुक्त हो सकते थे, सैनिक ज्ञान भी अन्य वर्ण के शिक्षकों के द्वारा सम्पादित हो सकता था। किंतु, व्यावहारिक रूप में ब्राह्मण-शिक्षकों का प्रभुत्व क्षत्रियों की व्यावसायिक शिक्षा पर भी पूरा था। § अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को अपने ब्राह्मण पुरोहित के समक्ष सर्वदा शिष्य के समान ही व्यवहार करना चाहिए था।† वस्तुतः ब्राह्मण-पुरोहितों के हाथ में क्षत्रिय-कुमारों की शिक्षा राजस्थान में बहुत बाद तक भी प्रचलित थी। श्री टॉड की सम्मति में इस प्रथा का प्रभाव क्षत्रियों की शिक्षा पर अच्छा न पड़ता था।* किंतु, सामान्यतः यह बात लागू न थी। अधिकांश ब्राह्मण शिक्षक सुयोग्य तथा कर्तव्य-परायण तथा सच्चरित्र होते थे। इनके संरक्षण में अधिकांश क्षत्रिय-कुमार उत्तम शिक्षा प्राप्त करते थे।£

सैनिक शिक्षा के छात्रों के लिए भी एक विशेष प्रकार का उपनयन निर्धारित था। किंतु इस प्रथा का उल्लेख साहित्य क्षत्रिय तथा रामायण-महाभारत में मिलता नहीं। सम्भवतः यह प्रथा पीछे प्रचलित हुई तथा यह क्षत्रियों की शिक्षा तक ही सीमित रही। इस प्रथा के अनुसार 'उपनयन' के लिए एक शुभ तिथि निश्चित की जाती थी। इस तिथि को भावी छात्र उपवास रखता था। हवन तथा ब्राह्मण-भोजन के पश्चात् शिष्य को कुछ द्रव्य अर्पित किये जाते थे। वैदिक मंत्र के उच्चारण के साथ शिक्षक शिष्य को कई शस्त्र ग्रहण कराते थे। यह शस्त्र भिन्न वर्ण के छात्र के लिए भिन्न होता था—ब्राह्मण के लिए धनुष, क्षत्रिय के लिए असि, वैश्य के लिए

---

‡ मनु १०।७७

§ Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P.. 59.

† अर्थशास्त्र

* Tod—Rajasthan—Ps. 63, 5112.

£ Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 60.

भाला तथा शूद्र के लिए दण्ड । शिक्षक को इस प्रकार के सात अस्त्रों का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए था ।*

शिक्षा की समाप्ति 'छुरिका-बन्धन' के द्वारा होती थी । इस प्रथा के अनुसार शिक्षा समाप्त होने पर एक विशेष समारोह आयोजित होता था । हवन आदि के पश्चात् गुरु शिष्य के वस्त्र में एक भुजाली बाँध देते थे । यही उसके सैनिक शिक्षा के स्नातक होने का प्रमाण था । छुरिका-बन्धन की यह प्रथा राजपुताना के राजपूत परिवारों में १९ वीं शदी के प्रारम्भ में भी 'खड्ग-बंधाई' के नाम से प्रचलित थी । £ टाड के अनुसार इस प्रथा के द्वारा राजपूत युवक अस्त्र-ग्रहण कर सैनिक-जीवन में प्रवेश करते थे ।† यह प्रथा मध्ययुगी यूरोप की उस प्रथा से बहुत साम्य रखती थी, जिसमें यूरोप के कुलीन वीर नवयुवक 'नाइट' की उपाधि प्राप्त करते थे ।

क्षत्रियों की शिक्षा बहुत समय तक अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल रही । किंतु कालान्तर में यह शिथिल तथा लीक-बद्ध हो गई । समय की बदलती परिस्थितियों के साथ यह प्रगतिशील न बन सकी और वर्त्तमान की अपेक्षा अपने कार्यक्रम की प्रेरणा भूत से ही पाती रही । फलतः यह समसामयिक न बन सकी और सैनिक-ज्ञान के क्षेत्र में पीछे पड़ गई । किंतु जहाँ तक मानवीय ज्ञान तथा संस्कृति का सम्बन्ध था, यह शिक्षा-पद्धति पूर्णतः सफल थी । राजकुमारों तथा क्षत्रिय कुमारों के समक्ष इस पद्धति ने जन-सेवा तथा कर्तव्य-परायणता का उच्च आदर्श उपस्थित किया । यह सही है कि बहुत-से क्षत्रिय इस आदर्श तक न पहुँच सके । किन्तु यह आदर्श ही उनके क्षत्रियत्व का गौरव-पूर्ण प्रकाशस्तम्भ था जिसके लिए भारतीय क्षत्रिय बराबर सुप्रसिद्ध रहे हैं ।‡

चिकित्सा—प्राचीन भारत में चिकित्सा एक सम्मानित तथा लाभ-प्रद व्यवसाय था । चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा बहुत ही उन्नत अवस्था में

---

* Altekar—Education in Ancient India—Page 293.
£ Altekar—Education in Ancient India—P. 294.
† Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 61.
‡ Tod Rajasthan—P. 63, 512.

But in formulating it and holding it before the rising generation of the young Kshatriyas, India has much of which to be proud.

3 Keay—......P. 62.

थी। इस शिक्षा का उल्लेख बौद्ध-कालीन शिक्षा-पद्धति के प्रसंग में पहले किया जा चुका है। उस समय तक्षशिला चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। तक्षशिला की ख्याति बहुत दिन बाद तक बनी रही और देश-विदेश से चिकित्सा-विद्या के अध्ययन के लिए सुयोग्य विद्यार्थी यहाँ आते रहे। ईसा की प्रथम शताब्दी के पश्चात् चिकित्सा-शास्त्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। चरक तथा सुश्रुत का आविर्भाव विश्व के चिकित्सा-विज्ञान के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। चरक ने औषधि पर ग्रन्थ लिखा तथा सुश्रुत ने शल्य-विद्या पर। इन ग्रन्थों में व्याधियों की उत्पत्ति, उनके लक्षण, उनकी पहचान, औषधि-निर्धारण आदि सभी विषयों पर विस्तृत विवेचन है। शल्य-विद्या के सम्पूर्ण अंगों तथा रीतियों का विवरण सुश्रुत में दिया गया है। छोटे-छोटे घाव-फुंसी से लेकर, हाथ-पैर काटना, पेट चीरना आदि तक की पूर्ण विधि का विवेचन किया गया है। सुश्रुत के अनुसार शल्य-विद्या के विद्यार्थी के लिए मृत शरीर के विश्लेषण के द्वारा शरीर के विभिन्न तथा सूक्ष्मतम अंगों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।† नाक की शल्य-क्रिया (Rhinoplasty) से भारतीय चिकित्सक प्राचीन काल में ही परिचित थे।

चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन के लिए भारत शताब्दियों तक विश्व-विख्यात था। ८ वीं शती में बगदाद के सुप्रसिद्ध खलीफा हारुन-अल-रशीद ने अपने देश के सुयोग्य युवकों को औषधि-विज्ञान के अध्ययन के लिए तक्षशिला भेजा था। साथ ही, कई भारतीय चिकित्सक उसके दरबार में आमंत्रित हुए थे। औषधि-विज्ञान से संबंधित कई संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था।‡

मनुष्य की चिकित्सा के साथ-साथ प्राचीन भारत में पशु-चिकित्सा की व्यवस्था भी थी। ई० पूर्व ४ थीं अथवा ३ री शती में पशु-चिकित्सा के लिए

---

† The dissection of dead bodies is a sine qua non of the student of surgery and this high authority lays particular stress on knowledge gained from experiment and observation.

Dr. P. C. Roy quoted by Mazumder in Education in Ancient India.—Ps.108-109.

‡ Dr. Dr. P. C. Roy quoted by Mazumder in Education in Ancient India—P. 109.

अनेक चिकित्सालय भी खुले हुए थे।* शालिहोत्र पशु-चिकित्सा के जन्मदाता कहे जाते हैं। नकुल और सहदेव पशु-चिकित्सा में दक्ष थे। जैन तथा बौद्धधर्म के आविर्भाव से पशु-चिकित्सा के विकास को बलवती प्रेरणा मिली। अशोक के समय में पशु-चिकित्सक पर्याप्त संख्या में उपलब्ध थे जिनकी सेवाएँ अशोक ने अपने राज्य के पशु-चिकित्सलयों के लिए व्यवहृत की थीं। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने सेनाविभाग के हाथियों तथा घोड़ों की चिकित्सा के लिए सुयोग्य चिकित्सकों की नियुक्ति की सिफारिश की है।† हाथी-घोड़े की बीमारियों एवं उनकी चिकित्सा के संबंध में कई पुस्तकें लिखी गई थीं।

पशु-चिकित्सा की शिक्षा कैसे आयोजित थी, इसकी जानकारी कम है। सम्भवतः इसकी शिक्षा वैयक्तिक रूप में वंशगत होती थी। कुशल पशु-चिकित्सक पिता अपने पुत्र अथवा परिवार के अन्य व्यक्ति को अपनी कला की शिक्षा दिया करता था। कभी-कभी बाहरी लोग भी इन पारिवारिक विद्यालय में दाखिल हो जाते होंगे। राजकीय सेना-विभाग भी सम्भवतः अपने गजों तथा अश्वों की चिकित्सा की शिक्षा के लिए अपने संरक्षण में विशेष प्रकार के विद्यालय का आयोजन करता था।‡

चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन के लिए एक विशेष प्रकार का उपनयन निर्धारित था। किसी शुभ दिन को यह संस्कार सम्पादित होता था। इस अवसर पर एक विशेष प्रकार की वर्गाकार वेदी बनती थी। दूर्वा, समिधा, पुष्प आदि हवन की सामग्रियाँ एकत्र की जाती थीं। पहले शिक्षक तथा बाद में विद्यार्थी घी तथा मधु के साथ हवन करते थे। धन्वन्तरि, अश्विनीकुमार, इन्द्र, प्रजापति तथा सूत्रकार, जो कि औषधि-विज्ञान से संबंधित थे, विशेषतः पूज्य थे। शिक्षक तथा शिष्य अग्निकुण्ड की परिक्रमा करते थे। इसके पश्चात् उपस्थित ब्राह्मण तथा वैद्य पूजे जाते थे। अन्त में अग्नि के समक्ष शिष्य को निम्नलिखित प्रतिज्ञा करनी होती थी।

१. वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, दंभ आदि से रहित होकर विद्याध्ययन में निरत रहेगा।

---

* Nehru—Glimpses of world History—Ps. 151, 154.
† Nehru—Discovery of India—P. 97.

‡ अर्थशास्त्र—२

२. सिर के बाल तथा नख कटाकर, रेशमी कपड़े से विभूषित ब्रह्मचर्य-व्रत का वह पूर्ण पालन करेगा ।

३. गुरु के आदेशानुसार वह अपने कर्तव्यों का पूर्ण पालन करेगा ।

४. विद्यार्थी-जीवन समाप्त होने पर वह ब्राह्मण, गुरु, मित्र, निर्धन आदि की, पारिश्रमिक तथा औषधि के मूल्य के बिना ही, उचित चिकित्सा करेगा ।

प्रतिज्ञा के दो उद्देश्य स्पष्ट हैं । आयुर्वेद के विद्यार्थी को न केवल अपना छात्र-जीवन आदर्श-रूप में व्यतीत करना था, बल्कि उसे अपना व्यावसायिक जीवन भी आदर्श रूप में ही व्यतीत करना था, ताकि वह अपने व्यावसायिक ज्ञान का सदुपयोग कर सके । चिकित्सा-शास्त्र की मूल प्रेरणा अर्थोपार्जन नहीं, बल्कि जीव-कल्याण की भावना थी, हालाँकि, जैसा हम पहले देख चुके है, चिकित्सकों की आर्थिक आय यथेष्ट थी ।

उपनयन के पश्चात् छात्रों को कुछ दिन के लिए परीक्ष्यमाण के रूप में रखा जाता था । सुश्रुत के अनुसार परीक्षा की अवधि ६ महीने की होती थी । यदि इस अवधि में परीक्ष्यमाण छात्र निर्दिष्ट शारीरिक तथा मानसिक मानदण्ड से नीचे गिर गया, तो आयुर्वेद के अध्ययन के लिए वह अनुपयुक्त समझा जाता था ।†

क्षत्रिय तथा वैश्य शिक्षक अपने वर्ण के छात्रों को औषधि-विज्ञान की शिक्षा दे सकते थे । सम्भवतः ब्राह्मण छात्र भी इनके द्वारा यह शिक्षा ग्रहण कर सकते थे । वैदिक शिक्षा की तरह आयुर्वेद की शिक्षा केवल ब्राह्मण शिक्षकों के हाथ में न थी ।

सामान्यतः तीन वर्ण के लोग आयुर्वेद का अध्ययन करते थे । किंतु शूद्रों को भी उपनयन ग्रहण करने की अनुमति थी, यदि वे अन्य रूपों में उपयुक्त रहते थे । इस तरह आयुर्वेद की शिक्षा का द्वार सभी वर्णों के लोगों के लिए खुला था ।‡

वैदिक विद्यालयों की तरह आयुर्वैदिक विद्यालयों में भी निर्धारित तिथियों में छुट्टी रहा करती थी। प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा आदि को सभी विद्यालय बन्द रहते थे । वर्षा, विद्युत्, तूफ़ान, बवंडर आदि में

---

† सूत्रस्थान २

‡ Thus the study of Ayurveda was open to all the castes.
R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 306.

विद्यालयों का कार्य स्थगित रहता था। वैदिक विद्यालयों के अन्य प्रतिबंध भी आयुर्वेद-विज्ञान के अध्यापन में लागू थे ।

समावर्तन—आयुर्वेद के स्नातकों को, वैदिक स्नातकों की तरह, समावर्तन उपदेश दिये जाते थे । इन उपदेशों में स्नातक के व्यवसाय-सम्बन्धी कर्तव्यों का पूर्ण निर्देश दिया जाता था । उपदेशों की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं ।

अनुज्ञातेन प्रविचरता (त्वया) पूर्वं गुर्वर्थोपान्वाहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यम् । कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रेत्य च स्वर्गमिच्छता त्वया गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्माशासितव्यम् । अहरहरुत्तिष्ठता चोपविशता च सर्वात्मना चातुराणामारोग्ये प्रयतितव्यम् । जीवहेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यम् । मनसापि च परस्त्रियो नाभिगमनीयास्तथा च सर्वमेव परस्वम् । निभृतवेशपरिच्छदेन भवितव्यम् । अशौण्डेनापापेनापापसहायेन च श्लक्ष्णशुक्लधर्म्यशर्म्यधन्यसत्यहितमितवचसा देशकालविचारिणा स्मृतिमता ज्ञानोत्थापनकरणसंपत्सु नित्यं यत्नवता च न कदाचित् अनपवादप्रतिकाराणां मुमूर्षूणां च तथैवासन्धिनहितेश्वराणां स्त्रीणामनध्यक्षाणां चौषधमनुविधातव्यम् । न च कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्राथवाऽध्यक्षेण । आतुरकुलं ....चानुप्रविश्य वाङ्मनो बुद्धीन्द्रियाणि न क्वचित्प्रणिधातव्यानि अन्यत्रातुरादातुरोपकार्थादातु गतेष्वन्युषु वा भावेषु । न चातुरकुलप्रवृत्तयो वहिर्निसारयितव्याः । ह्रसितं चायुः प्रमाणमातुरस्य न वर्णपितव्यम् जानतापि तत्र यत्रोच्यमानमतुरस्यान्यस्य वाप्युपधाताय संपद्यते ।

विज्ञानवतापि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञाने विकथितव्यम् । आप्तादपि हि विकथ्यभानदत्यमर्थमुद्विजन्त्येकं । न चैव ह्यस्ति सुतरामायुर्वेदस्य परम् । तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमिच्छन् गच्छेत्—। कृतस्नो हि लोकोबुद्धिमताचार्यः शत्रुश्चा बुद्धिमतामेव । अतश्चाभि समीक्ष्य बुद्धिमताऽमिच स्यापि यशस्यं.... पौष्टिकं .....लौक्यमुपदिशता । वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति ।१

"अनुमति पाकर चिकित्सा प्रारम्भ करने के पूर्व तुम्हें अपने गुरु को यथाशक्ति पारितोषिक देना चाहिए । तुम्हें कर्म, अर्थ, यश तथा स्वर्ग की इच्छा से गो, ब्राह्मण तथा अन्य प्राणियों की सेवा करनी चाहिए। तुम्हें अपने रोगियों के स्वास्थ्य के लिए प्रतिदिन उठते-बैठते सतत प्रयत्नशील

१. चरकसंहिता विमानस्थान ८, ६–८

रहना चाहिए । यदि तुम्हारे प्राण संकट में हों, तो भी तुम्हें अपने रोगी की उपेक्षा न करनी चाहिए । दूसरे की स्त्री तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में कुविचार कदापि नहीं रखना चाहिए । तुम्हारे वस्त्र साधारण हों, दिखलाऊ नहीं । मदिरापान से बचो, पाप मत करो, न पाप करनेवाले का साथ दो । तुम्हारा वचन विनम्र, संस्कृत, सत्य तथा संगत होना चाहिए । तुम्हें अपने ज्ञान तथा अपने यंत्रों के परिवर्द्धन की पूरी चेष्टा करनी चाहिए । उन रोगियों को दवा न दो, जिनका रोग निश्चयपूर्वक असाध्य हो, जो मरणासन्न हों, जो स्त्री हो तथा अपने पति अथवा अभिभावक के समक्ष न हो । स्त्रियों से किसी तरह का शुल्क ग्रहण न करो, यदि इसके लिए उन्होंने अपने पति अथवा अभिभावक की स्वीकृति प्राप्त न की हो । जब तुम रोगी के घर में प्रविष्ट हो, तुम्हारा समस्त ध्यान रोगी पर ही केन्द्रित रहना चाहिए । किसी विषय की चिन्ता न कर तुम्हें केवल रोगी की आकृति, उसकी चेष्टाएँ तथा उसकी औषधि के सम्बन्व में ही सोचना-विचारना चाहिए । रोगी तथा उसके परिवार की सारी बातें तुम्हें गुप्त रखनी चाहिए । यदि किसी रोगी के निकट-मृत्यु की सूचना से उस रोगी तथा उसके सम्बन्धियों को डर जाने की सम्भावना हो तो वैसी सूचना, निश्चित होते हुए भी, मत दो ।"

"अपने कार्य में दक्ष होने पर भी तुम्हें अपनी योग्यता की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए । अहंकारी मित्र अथवा सम्बन्धी से भी कुछ लोग खिंच जाते हैं । आयुर्वेद पर पूर्ण अधिकार असम्भव है । अतः तुम्हें निरन्तर अपने ज्ञान की वृद्धि में सचेष्ट रहना चाहिए । बुद्धिमान चारों ओर से ज्ञान प्राप्त करते हैं, मूर्ख केवल ईर्ष्या करते हैं । एक बुद्धिमान चिकित्सक अपने शत्रु के अनुशीलन तथा अन्वेषण से भी लाभ उठाता है, यदि उनसे वह संसार में समृद्धि तथा यश पा सकता है ।"

उपर्युक्त उपदेशों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत के प्राचीन चिकित्सक अपने व्यवसाय के उत्तरदायित्व के पूर्ण निर्वाह के लिए अत्यन्त सचेष्ट रहते थे । एक चिकित्सक के लिए रोगी का आरोग्य अधिक महत्त्व रखता था, न कि उसका अपना पारिश्रमिक अथवा शुल्क । रोगी के कल्याण के लिए चिकित्सक को अपनी जान की परवाह भी नहीं करनी थी । अपने व्यावसायिक ज्ञान के संवर्द्धन के लिए चिकित्सक को सतत जागरूक रहना चाहिए था, ताकि वह नये-नये अनुसन्धानों एवं प्रयोगों से लाभ

उठा सके। इन व्यावसायिक उपदेशों के साथ-साथ आयुर्वेद के स्नातकों को वैयक्तिक आचरण-सम्बन्धी उपदेश भी दिये जाते थे। चिकित्सक को सदाचारी, सत्यवादी तथा मृदुभाषी होना चाहिए। उसे अप ी योग्यता अथवा अपनी विद्वत्ता के सम्बन्ध में अहंकार नहीं करना चाहिए। उसे दूसरों के गुणों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए तथा उन गुणों के ग्रहण में संकोच नहीं करना चाहिए। मदिरापान तथा अन्य त्याज्य कर्म उसके लिए सर्वथा वर्जित था। परस्त्री तथा पर-सम्पत्ति की ओर उसे कभी कुदृष्टि नहीं डालनी थी। गो-ब्राह्मण की सेवा उसके अनिवार्य कर्म थे। इस तरह, व्यावसायिक शिक्षा में भी छात्र के वैयक्तिक आचरण पर समुचित ध्यान दिया जाता था। भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति की यह विशेषता थी कि बुद्धि का विकास नैतिक विकास के साथ संश्लिष्ट रहा करता था। यह विशेषता व्यावसायिक शिक्षा में भी विद्यमान थी। फलतः मस्तिष्क तथा हृदय की वह असंबद्धता प्राचीन शिक्षा-पद्धति में प्रादुर्भूत न हो सकती थी, जो कि आज की शिक्षा-पद्धति की आम बात है। इस असंबद्धता के कारण ही बौद्धिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा के समक्ष भी आज का मानव विश्रृंखल तथा सांघातिक दीख पड़ता है।* प्राचीन शिक्षा-शास्त्री इस बात पर सतर्क रहते थे कि व्यावसायिक शिक्षा में भी नैतिकता का वहिष्करण न हो। व्यावसायिक निपुणता तभी पूर्णतः उपादेय हो सकती है, जबकि उसके साथ आत्मिक नैतिकता संश्लिष्ट रहे। आधुनिक शिक्षण-पद्धति में जबतक नैतिकता का समावेश न होगा, तबतक नब्ज पकड़ने के पहले रुपये पकड़ने की परिपाटी का अन्त होना कठिन है।

औद्योगिक शिक्षा—इस अध्याय के प्रारम्भ में यह कहा जा चुका है कि प्राचीन भारत के औद्योगिक उत्पादन बड़े ही उच्चकोटि के होते थे। भारत की औद्योगिक निपुणता की तह में यहाँ की विशिष्ट औद्योगिक शिक्षा-पद्धति थी, जिसमें औद्योगिक ज्ञान उत्तरोत्तर समृद्धिशील होता गया। प्राचीन भारत के औद्योगिक विद्यालय जीवित शिक्षा-संस्थाएँ थे, जहाँ औद्योगिक ज्ञान का संश्लिष्ट अध्ययन, वास्तविक जीवन की पृष्ठभूमि पर

* One of the great lessons of the spiritual heritage of India is that man's intellectuality must grow to spirituality —Radha Krishnan—address delivered in Mc. Gill Univer-city, Montreal. October 5—"The Indian Nation." Dt. the 7th October, 1954.

स्वाभाविक ढंग से आयोजित रहता था। औद्योगिक शिक्षा प्रधानतः गृह अथवा पारिवारिक शिक्षा थी, जिसमें औद्योगिक ज्ञान वंशगत अथवा परिवारगत हुआ करता था। प्रारम्भ में इन शिक्षा-गृहों में कारीगर शिक्षक के पुत्र, पौत्र तथा उसके परिवार के अन्य सदस्य ही शिक्षित होते थे। किंतु कालान्तर में इन पारिवारिक शिक्षा-गृहों में बाहरी सदस्य भी शिक्षा के लिए स्वीकृत होने लगे। किंतु इन बाहरी सदस्यों के साथ भी कारीगर-शिक्षक का संबंध वही रहा, जो कि उसके पुत्र अथवा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ था। इस तरह वैदिक शिक्षा की तरह औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में भी शिक्षक और शिक्षित का वैयक्तिक संबंध था, जो कि गुरु-शिष्य अथवा पिता-पुत्र के आध्यात्मिक आदर्श पर प्रतिष्ठापित था। शिक्षक और शिक्षित का यही पुनीत संबंध औद्योगिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम एवं पाठन-पद्धति निरूपित करता था। नारद के अनुसार छात्रत्व-ग्रहण तथा अंगीकृत करने के समय शिक्षित तथा शिक्षक, दोनों ही को प्रतिज्ञा-बद्ध होना पड़ता था।* शिक्षक की प्रतिज्ञा की मुख्य बातें ये थीं।

१. निश्चित अवधि के भीतर शिक्षक को उद्योग-संबंधी पूरी शिक्षा छात्र को दे देनी होगी।

कूर्मपुराण के अनुसार, ऐसे शिक्षक, जो छात्रों की शिक्षा जानबूझ कर स्थगित करते रहें, निन्दनीय तथा हीन हैं। एक वर्ष तक शिक्षा को टालने वाले शिक्षक महान पातकी समझे जाते थे।

२. शिक्षक को अपने शिष्य को सर्वदा पुत्रवत् समझना होगा। शिष्य गुरु के परिवार का एक अभिन्न अंग रहेगा तथा उसके भोजन-वस्त्र, रहन-सहन इत्यादि सभी बातों का उत्तरदायित्व शिक्षक पर ही रहेगा।

३. उद्योग-संबंधी सारा ज्ञान गु शिष्य को हर्ष-पूर्वक प्रदान करेंगे। कोई भी बात शिष्य से गुप्त न रखी जायगी।

४. शिष्य के शारीरिक श्रम तथा औद्योगिक ज्ञान का उपयोग शिक्षक अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए न करेंगे। शिष्य के दैनिक कार्यों का आयोजन उसके हितों के विचार से ही होना चाहिए।

कात्यायन के अनुसार ऐसे शिक्षक दण्ड के भागी हैं, जो अपने शिष्य को

---

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 349-50.

ऐसे कार्यों में लगाते हों, जिनसे उनकी औद्योगिक शिक्षा का कोई लगाव न हो।

शिष्य के लिए भी इसी तरह की शर्तें थीं।

१. निर्धारित अवधि की समाप्ति के पहले शिष्य गुरु का परित्याग, बिना किसी अनिवार्य कारण के, नहीं करेगा।

२. जो शिष्य स्वेच्छा से गुरु का परित्याग कर दे, उसे पुनः गुरु के समीप आना पड़ेगा, उसे कोड़े लगाये जा सकें तथा प्रायश्चित्त रूप में उसे विभिन्न दण्ड भोगने पड़ेंगे। यदि वह अपने संबंधियों की सम्मति से भागा हो तो उन संबंधियों के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जा सकती है।†

३ निश्चित अवधि के पहले शिक्षा समाप्त कर लेने पर भी शिष्य गुरु से अलग नहीं हो सकता था। शेष अवधि में उसे गुरु के लिए औद्योगिक श्रम करना था। याज्ञवल्क्य ने उसकी पुष्टि की है।* कम अवधि में शिक्षा ग्रहण कर लेने का श्रेय वस्तुतः शिक्षक को था, जिसकी निपुणता के कारण ही शिष्य अपनी शिक्षा कम समय में समाप्त कर लेता था। इसी प्रकार यदि निश्चित अवधि के भीतर शिष्य कारीगरी न सीख सका तो शिक्षक को अधिकार था कि वह शिक्षा की अवधि बढ़ा दें।

शिक्षक तथा शिक्षित का यह निकटतम पारिवारिक सम्बन्ध औद्योगिक शिक्षा के लिए आदर्श पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता था। निरन्तर साथ रहने के कारण छात्र न केवल शिक्षक के औद्योगिक ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करता था, बल्कि वह शिक्षक के समस्त व्यक्तित्व से पूर्णतः परिचित तथा प्रभावित हो जाता था, जिसकी छाप भी उसकी औद्योगिक कला में स्वभावतः पड़ी रहती थी। गुरु के परिवार में रहकर औद्योगिक शिक्षा का छात्र न केवल उद्योग-विशेष की यांत्रिक विधियों की जानकारी प्राप्त करता था, अपितु वह उन सभी परिस्थितियों के अध्ययन का प्रचुर अवसर प्राप्त करता था, जिनसे ग्राम का औद्योगिक कार्यालय संबद्ध रहता था। आधुनिक शिक्षण-प्रणाली में औद्योगिक ज्ञान की शिक्षा अधिकतर असंबद्ध रूप में दी जाती है, जिससे उद्योग और जीवन का पूर्ण समन्वय नहीं हो पाता। प्राचीन

---

† मनु...४।१६४; ८।२९९-३० गौतम—२।४३-४

* याज्ञवल्क्य—२।१८७

पद्धति में यह ज्ञान वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन से सर्वथा संश्लिष्ट रहा करता था। गु के परिवार तथा पास-पड़ोस के हर्ष-विषाद में सम्मिलित होकर शिष्य औद्योगिक ज्ञान के साथ-साथ उन सभी सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन अनायास ही करता जाता था, उद्योग जिनका एक अंग मात्र था।

औद्योगिक शिक्षा की उपरोक्त पद्धति का संकेत दो प्राचीनतम अभिलेखों में मिलता है, जिनकी खोज कुछ ही दिन पूर्व हुई है। इन अभिलेखों से पता चलता है कि 'कुणिक' नामक सुविख्यात शिल्पकार के दो अन्तेवासी शिष्य थे, जिनके नाम थे गोमित्क तथा नक। इन दोनों शिष्यों ने शिल्पकला की शिक्षा कुणिक के साथ रहकर ही प्राप्त की थी। इन शिष्यों के द्वारा पत्थर की दो भव्य मूर्त्तियाँ निर्मित हुई थीं, जो यक्ष तथा मनसा देवी के नामों से विख्यात हैं।

व्यावसायिक समितियाँ (guilds)।

विभिन्न उद्योगों की सुव्यवस्था तथा समृद्धि के लिए स्थानीय सहयोग समितियाँ थीं, जो कि उद्योग-सम्बन्धी-समस्त बातों पर नियन्त्रण रखती थीं। ये समितियाँ "श्रेणी" के नाम से विख्यात थीं। प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग श्रेणी होती थी, जो कि उद्योग-विशेष से ही सम्बन्धित रहती थी। उद्योग का आयोजन, औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन, उनका वितरण आदि समस्त बातों की देखरेख उस उद्योग की श्रेणी के द्वारा होती थी। श्रेणी के प्रबन्ध तथा अनुशासन में उद्योग की शिक्षा भी व्यवस्थित होती थी। यह शिक्षा उद्योग के विशेषज्ञ कारीगर के घर पर ही दी जाती थी। वस्तुतः प्रत्येक सुविज्ञ कारीगर का घर पारिवारिक विद्यालय था जहाँ अनेकानेक छात्र औद्योगिक शिक्षा प्राप्त किया करते थे।

श्रेणी के सदस्य सामान्यतः वंशगत हुआ करते थे। पिता की मृत्यु अथवा अस्वस्थता के बाद उसका स्थान पुत्र को ही मिलता था। नये सदस्यों के लिए कुछ शुल्क भी निर्धारित रहता था। समिति को अधिकार था कि उसके

And it is not only technique that is thus learnt there, but something more valuable, there is life with it's problems, its human relationship, culture and religion, relieving the mechanical monotony of a mere workshop—a thing which is as necessary to art as technique itself:—

R.. K. Mookerji—P. 82-92.

नियमों की अवहेलना करनेवाले सदस्य को उचित आर्थिक दण्ड दे । इस रूप में श्रेणी को जो आमदनी होती थी वह दानादि में खर्च की जाती थी । कालान्तर में श्रेणियों के अधिकारों का क्षेत्र विस्तृत हो गया था । उद्योग के क्षेत्र में उसका प्रभुत्व राजा तक मानते थे ।* श्रेणी का अध्यक्ष "श्रेष्ठी" परम सम्मानित व्यक्ति था । पुरोहित के बाद राजा की दृष्टि में इसका ही स्थान था ।

कारीगरों की नियुक्ति, कार्य की अवधि, पारिश्रमिक का रूप, उत्पादन की वस्तु तथा परिमाण आदि सभी बातें श्रेणी के द्वारा ही निर्धारित होने लगी थीं ।† साथ ही, श्रेणी के उत्तरदायित्व अथवा कर्त्तव्यों का वृत्त भी बढ़ गया था । सदस्यों के हितों की सुरक्षा करना श्रेणी का प्रधान उत्तरदायित्व था । पारस्परिक सहयोग आदि भ्रातृ-भावनाओं को प्रोत्साहित करना भी इसका एक प्रधान कार्य था ।

व्यावसायिक सहयोग-समितियों का उद्भव कब हुआ, यह ठीक-ठीक निश्चित नहीं। संभवत: ये बहुत ही प्राचीन काल से भारतीय औद्योगिक क्षेत्र में प्रचलित थीं । उद्योगों की समृद्धि तथा उनके विशेषीकरण के साथ ही इनका विकास हुआ होगा—ऐसा अनुमान किया जाता है। जातकों के अनुसार १८ प्रकार की सहयोग-समितियाँ थीं, किन्तु उनमें ४ ही के नाम वर्णित हैं—काष्ठकारसंघ, लौहकारसंघ, चर्मकारसंघ तथा रंगकारसंघ । गौतम तथा वृहस्पति के अनुसार खेतिहर, पशुपालक, वणिक् साहुकार, शिल्पकार, चित्रकार तथा नर्त्त के संघ प्रमुख थे । वाल्मीकि-रामायण में राम की खोज में भरत का अनुगमन करते हुए नगरवासियों के दल में औद्योगिक वर्ग के लोग भी सम्मिलित थे । कर्मकार, बुनकर, जौहरी आदि कई व्यवसायियों के विवरण भी दिये गये हैं । इन शब्दों का प्रयोग सामूहिक अर्थ में ही हुआ

---

* "The merchant-guilds were of such authority that the king was not allowed to establish any laws repugnant to these trade unions."

Cambridge History of India Vol. I.—P. 269..

† "The existence of trade associations which grew partly for economical reasons, better employment of Capital, facilities of intercourse, partly for protecting the legal interest of their class is surely to be traced to an early period of Indian culture"—Nehru—The Discovery of India P.—94.

है। संभवतः ये शब्द तत्कालीन औद्योगिक श्रेणियों को ही द्योतित करते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में तो इन समितियों का निश्चित उल्लेख मिलता है।* भारत के औद्योगिक इतिहास में इन सहयोग-समितियों का महत्त्वपूर्ण स्थान बहुत दिन बाद तक भी विद्यमान रहा। विलियम वार्ड के विवरण के अनुसार अंगरेजी शासन के प्रारम्भ में अहमदाबाद में बुनकरों की एक सहयोग-समिति थी जो कि पूर्णतः संगठित तथा क्रियाशील थी। किन्तु अंगरेजी राज्य के प्रतिष्ठापन के पश्चात् भारत की औद्योगिक समृद्धि का पूर्ण ह्रास हुआ और फलतः ये सहयोग-समितियाँ भी विलुप्त हो गईं। किन्तु आज भी कुछ ग्रामीण औद्योगिक केन्द्रों में व्यावसायिक समितियाँ किसी-न-किसी रूप में मौजूद हैं और अपने अतीत गौरव का आभास देती हैं।

श्रेणियों की सुव्यवस्था में भारत की औद्योगिक शिक्षा भी सुसंगठित तथा समृद्धिशील थी। फलतः भारत के औद्योगिक उत्पादन बहुत ही उच्चकोटि के होते थे।§ जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन उत्पादनों में कारीगर की वैयक्तिक छाप रहती थी, जिससे वस्तु का रूप कलात्मक हो उठता था।

भारतीय दृष्टिकोण में उद्योग महज जीविकोपार्जन का साधन नहीं, अपितु एक धर्म माना गया है, जिसके सम्यक् निर्वाह के लिए कड़े नियम निर्धारित थे। इन नियमों अथवा रीतियों की उपेक्षा से कारीगर का लोक-परलोक, दोनों ही बिगड़ सकते थे। फलतः भारतीय कारीगरों की कार्य-सम्बन्धी प्रेरणा केवल भौतिक नहीं, बल्कि धार्मिक भी थी। भारत की औद्योगिक समुन्नति का एक दूसरा कारण समाज की वर्ण-व्यवस्था था, जिसमें व्यावसायिक विद्या वंशगत होती गई। वर्ण-व्यवस्था के चाहे और परिणाम जो हों, इतना निर्विवाद है कि इस व्यवस्था में औद्योगिक कुशलता बड़ी ही उच्चकोटि की होती थी। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन भारत की औद्योगिक शिक्षा प्रचलित सांस्कृतिक शिक्षा से सर्वथा विभिन्न थी। फलतः छात्रों को औद्योगिक निपुणता तो हो जाती थी, किन्तु सांस्कृतिक विषयों की विधिवत् शिक्षा से वे वंचित रह

---

*अर्थशास्त्र ... ४।१

§ Keay—P. 21.

जाते थे । साहित्य तथा दर्शन-जैसे विषयों की शिक्षा स्वभावतः पारिवारिक औद्योगिक विद्यालयों में न हो सकती थी। किन्तु कथा-कहानी, पौराणिक उपाख्यान, रामायण तथा महाभारत, इनकी मौखिक अथवा पठित शिक्षा तो पारिवारिक विद्यालयों में अनायास ही होती रहती थी। ग्राम के सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों में अनेक तरह की उपयोगी बातों की शिक्षा आकर्षक रूप में छात्रों को मिला करती थी। बहुधा संन्यासियों तथा साधु-संतों का समागम भी गाँवों में होता रहता था । उनके धर्मोपदेश में सम्मिलित होकर कारीगर-छात्र स्वभावतः धार्मिक तथा नैतिक बातों की शिक्षा ग्रहण किया करता था। इसका भी प्रमाण है कि प्राचीन भारत के कलाकार तथा कारीगर साहित्यिक तथा अन्य सांस्कृतिक विषयों की जानकारी रखते थे। ५ वीं शती में दासपुर (मालवा) के बुनकर-संघ के कुछ सदस्य ज्योतिष तथा ग्राम-गीत में दिलचस्पी लेते वर्णित हैं। सम्भवतः यह बात अन्य स्थानों के कलाकारों तथा कारीगरों के साथ भी लागू थी। इसलिए, यह अनुमान युक्तिसंगत है कि कारीगरों को सामान्य सांस्कृतिक शिक्षा भी किसी-न-किसी रूप में, उपलब्ध रहती थी। ८ वीं तथा ९ वीं शताब्दी के बाद ही कारीगरी की शिक्षा पूर्णतः व्यावसायिक होती दिखायी पड़ती है। उसके दो कारण थे—एक तो था इस काल में साक्षरता की कमी, जिसका परिचय हमें प्राथमिक शिक्षा के प्रसंग में मिल चुका है। दूसरा कारण था हाथ की कारीगरी के प्रति एक दूषित दृष्टिकोण का आविर्भाव जिसमें हाथ के कार्य निन्दनीय अथवा हेय समझे जाने लगे थे। किन्तु फिर भी, जहाँ तक औद्योगिक ज्ञान का सम्बन्ध था, भारत के औद्योगिक विद्यालय शताब्दियों बाद तक भी अपना उत्तरदायित्व सफलतापूर्वक निभाते रहे ।*

---

* Yet as a vocational education it was not lacking in elements that made it really valuable. The affectionate family relationship between teacher and pupil, the absence of artificiality in the instruction, and the opportunity and encouragement to produce really good work which the protection of the guild or cast gave--these were not without their influence in helping to build up a spirit of good craftmanship, which was responsible for the production of really fine work.

Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 73.

बारहवाँ अध्याय

विश्वविद्यालय तथा शिक्षा-केन्द्र

तक्षशिला

भारतीय शिक्षा और संस्कृति का सुप्रसिद्ध केन्द्र तक्षशिला भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर पर गांधार प्रदेश की गौरवशालिनी राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित थी। लगभग एक हजार वर्षों तक तक्षशिला की ख्याति देश-विदेश में परिव्याप्त थी और सुदूर प्रदेशों से सैकड़ों विद्यार्थी प्रतिवर्ष तक्षशिला के शिक्षा-शिविरों में प्रविष्ट होते रहते थे। घने जंगलों, दुर्दम्य पहाड़ों, हिंस्र जन्तुओं, वर्षा, धूप, बिजली, बवंडर, आँधी-तूफान, कुछ की परवाह न कर चम्पा, मगध, कोशल आदि दूरस्थ प्रान्तों के उदीयमान छात्र इस ज्ञान-पुंज की ओर सतत आकृष्ट होते रहते थे। जातकों में ऐसे पिपासु छात्रों की यात्राओं की अनेक कथाएँ भरी हैं। भारत के अतिरिक्त मध्य एशिया, अफगानिस्तान, यूनान, सीरिया, फारस आदि देशों से भी बहुसंख्यक विद्यार्थी विशेषत: विज्ञान की शिक्षा के लिए तक्षशिला का शिष्यत्व ग्रहण करते थे। ७वीं शती ईस्वी-पूर्व में ही तक्षशिला को शिक्षा-केन्द्र के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हो गयी थी। छठी शती ईसवी पूर्व में सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के स्वप्न यहीं देखे थे। कुछ दिन बाद मौर्य साम्राज्य का महामात्य तथा अर्थशास्त्र के सुप्रसिद्ध लेखक चाणक्य ने भी अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक पाठ यहीं ग्रहण किये थे। बुद्ध के समसामयिक राजगृह के सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक ने औषधिशास्त्र की शिक्षा यहीं प्राप्त की थी। जीवक के जीवनवृत्त के सिलसिले में हम तक्षशिला के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों की जानकारी पहले ही प्राप्त कर चुके हैं।

अपने वैभव के सुदीर्घ इतिहास में तक्षशिला को कई बार दुर्दिन भी देखने पड़े। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण तक्षशिला को स्वभावत:

विदेशी आक्रन्ताओं के निर्मम प्रहार सहने पड़े । ई० पूर्व छ ी शताब्दी में यह पारसियों के द्वारा, ई० पूर्व दूसरी शताब्दी में भारतीय यूनानियों के द्वारा, ई० पूर्व १ली शताब्दी में शकों के द्वारा तथा कुशानों के द्वारा यह क्रमशः अधिकृत हुई । इन आक्रमणों तथा विदेशी प्रभुत्व में तक्षशिला की क्या दुर्दशा हुई होगी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसके खंडहरों की खुदाई से यह स्पष्ट है कि विद्वानों की यह नगरी कई बार उजड़ी तथा बसी। आक्रमण की पाशविक बर्बरता में स्वभावतः यह विध्वंस कर दी जाती होगी तथा राज्य-स्थापना के पश्चात् पुनः यह विजेताओं के द्वारा बसायी जाती होगी—खंडहरों के पर्यवेक्षण से यही निष्कर्ष निकलते हैं। ऐसे संकट-काल में तक्षशिला के शिक्षा-केन्द्र कुछ समय तक अवश्य ही विश्रृंखल हो जाते थे, किन्तु नगरी के पुनरुत्थान के पश्चात् फिर ये नयी ज्योति से जगमगाने लगते थे। यहाँ के शिक्षालयों का गौरव कुछ इतना महान था, कि लगातार भूचाल के पश्चात् भी ये न मिट सके, न मिटाये जा सके। हाँ, इनके स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए, जो कि अवश्यंभावी थे। फारसी-संसर्ग तथा आधिपत्य के कारण भारत की राष्ट्रिय लिपि 'ब्राह्मी' तक्षशिला से निष्कासित हुई। भारतीय यूनानियों के लगभग सवा सौ वर्ष के लम्बे आधिपत्य में तक्षशिला के पाठ्य-विषय तथा कार्य-क्रम दोनों ही में यथेष्ट रूपान्तर हुए। दो सुसमृद्ध सभ्यताओं के सम्मिलन में पारस्परिक आदान-प्रदान अपेक्षित ही था। तक्षशिला के शिक्षा-केन्द्रों में 'ग्रीक' भाषा की शिक्षा-दीक्षा होने लगी तथा यूनानी लेखक एवं दार्शनिक सम्मानित होने लगे। राज्य-भाषा होने के कारण यूनानी भाषा का व्यावहारिक महत्त्व भी था। इस तथ्य से तक्षशिला के शिक्षालय स्वभावतः विमुख न रह सकते थे। इनके छात्रों में ऐसे भी थे जो कि यूनानी राज्य में उच्च पदों की आकांक्षा रखते थे। इनकी आवश्यकता की पूर्त्ति भी शिक्षाकेन्द्रों को करनी थी। यूनानी कला-कौशल भी तक्षशिला में संभवतः सिखलाये जाने लगे थे। यहाँ के पाठ्य-विषयों के १८ 'शिल्पों में यूनानी शिल्पकला भी सम्मिलित थी। किन्तु, तक्षशिला का रंग-रूप अधिकतर भारतीय ही रहा। अपनी मातृभूमि से भारतीय यूनानी लगभग विच्छिन्न-से हो गये थे और फलतः उनकी सभ्यता और संस्कृति यूनान की अपेक्षा भारत से ही अधिक प्रभावित रही। इस तरह, तक्षशिला में यूनानी प्रभाव विशेष न पड़ सका। शकों तथा कुशानों के पास कुछ ऐसी संस्कृति की बातें न थीं, जिन्हें तक्षशिला के लिए सीखनी थी। सांस्कृ-

तिक क्षेत्र में इन्होंने भारत की अधीनता ही स्वीकार की और इसलिए तक्ष-शिला के आन्तरिक स्वरूप में इन विजेताओं के कारण कोई महत्त्वपूर्ण परि-वर्तन लक्षित न हुआ ।

तक्षशिला की कीर्त्ति का श्रेय उसकी किसी संस्था को न था, बल्कि तक्षशिला के उन शिक्षकों को था, जिनके पांडित्य का यश देश-विदेश में परिव्याप्त था । ये शिक्षक किसी एक विषय अथवा विषय-समूह के पूर्ण ज्ञाता तथा विशेषज्ञ होते थे । अपने विषय की उच्च शिक्षा ये स्वतन्त्र रूप से अपने निवासस्थान पर ही संचालित करते थे । इस तरह, तक्षशिला में अनेक ऐसे गुरुकुल अथवा विद्यालय थे, जहाँ विषय-विशेष की उच्च तथा विशेषीकृत शिक्षा प्रदान की जाती थी । ये विद्यालय अपने-अपने विशेषज्ञ शिक्षक के द्वारा ही आयोजित तथा व्यवस्थित रहते थे । किसी संस्था-विशेष से न ये संयोजित, थे, न संचालित न स्वीकृत। इस तरह, तक्षशिला एक विश्वविद्या-लय न था, बल्कि एक शिक्षा-केन्द्र था, जहाँ कि तत्कालीन सभी विषयों की उच्चतम शिक्षा प्रदत्त होती थी । तक्षशिला के खँडहरों में एक भी ऐसा लम्बा-चौड़ा कमरा अभीतक न मिला है, जो कि विश्वविद्यालय के छात्रों के व्याख्यान के लिए उपयुक्त था ।१ अत: यह स्पष्ट है कि तक्षशिला की शिक्षा वैयक्तिक रूप में वहाँ के शिक्षकों के द्वारा ही संचा-लित रहती थी । जातकों के अनुसार तक्षशिला के सुविख्यात शिक्षकों के पास ५०० शिक्षार्थी एकत्र रहते थे । श्री अल्तेकर की सम्मति में जातकों द्वारा वर्णित यह संख्या अतिशयोक्ति है तथा एक शिक्षक के संरक्षण में २० से अधिक छात्र न रहते थे ।१ किन्तु यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विशेषज्ञ के पास २० ही छात्र देश-विदेश से पढ़ने आते होंगे । अत: यह भी अनुमान किया जा सकता है कि परम-प्रसिद्ध शिक्षकों के पास ५०० या उसके लगभग शिक्षार्थी रहते होंगे । स्पष्टत: इतनी बड़ी संख्या की शिक्षा तथा देखरेख एक व्यक्ति के द्वारा असम्भव था। यह बहुत सम्भव है कि एक सुप्रसिद्ध शिक्षक के कई सहायक होते होंगे तथा बहुधा उसके अनुभवी एवं सुयोग्य विद्यार्थी भी उसकी सहायता

---

* Keay—Indian Education in Ancient and Later Times.—P. 143.

† Altekar—Ancient Indian Education.—Ps. 81 & 109.

किया करते होंगे । प्राचीन भारत में तो, जैसा कि पहले कई बार देख चुके हैं, यह पद्धति पूर्णतः प्रचलित थी । अतः जातकों के उपर्युक्त कथन सर्वथा असत्य नहीं दीख पड़ते। स्वयं डा० अल्तेकर ने सुतसोम जातक में वर्णित १०३ राजकुमारों को एक शिक्षक के अन्तर्गत धनुर्विद्या का सीखना संभव माना है ।† यह शिक्षक भी, उनकी सम्मति में, कई सहायकों के द्वारा, सम्बलित था । स्पष्टतः यह बात १०३ से अधिक छात्रों के लिए भी लागू हो सकती थी ।

तक्षशिला के पाठ्य-विषय, पाठन-शैली, विद्यालय-प्रबन्ध, छात्रावास-आदि बातों को पहले जातक-कथा के प्रसंग में उपस्थित किया जा चुका है ।

तक्षशिला का परवर्ती इतिहास पूर्णतः ज्ञात नहीं। सम्भवतः यह कुशान-वंश के अन्त तक क्रियाशील रही । कुशानों के उत्तराधिकारी यू-ची जंगली थे । उनके राजत्वकाल में तक्षशिला की दशा अवश्य ही काफी गिर गई थी । पाँचवीं शती ईसवी के प्रारम्भ में प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहि-यान ने तक्षशिला में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं पाया। स्पष्टतः तक्षशिला के शिक्षालय मृतप्राय हो गये होंगे। पाँचवीं शताब्दी ईसवी के मध्य में हूणों का प्रलयंकर आक्रमण हुआ । तक्षशिला की बची-खुची गु ता सर्वदा के लिए विलुप्त हो गई। हुएन-त्सांग को यहाँ के निकटस्थ विहारों के भग्नावशेष के अतिरिक्त कुछ देखने को नहीं मिला था।

बनारस

भारत में आर्य-सभ्यता बहुत दिनों तक पश्चिमी प्रान्तों में आबद्ध रही । पूर्वी प्रान्तों में उसके प्रसार में काफी समय लगा । अतः प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में बनारस का उल्लेख न धार्मिक क्षेत्र में है, न शिक्षा के क्षेत्र में। सर्वप्रथम उपनिषद्-काल में बनारस एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में परि-लक्षित होता है। ब्रह्मज्ञानी राजा अजातशत्रु के समय में यह औपनिषदिक ज्ञान के लिए सुविख्यात था ।१ किन्तु शिक्षा-केन्द्र के रूप में तक्षशिला ही अग्रणी

---

† Altekar—Education in Ancient India.—P. 103.

थीं। बनारस के भी राजकुमार तथा ब्राह्मण युवक उच्च शिक्षा के लिए तक्षशिला ही जाया करते थे। वस्तुतः बनारस के अधिकांश सुप्रसिद्ध शिक्षक तक्षशिला के ही विद्यार्थी होते थे।

तक्कसिलं गत्वा सब सिप्पाणि उगहित्वा वाराणसियं दिसापाभोक्त्वो आचारियो हुत्वा पंचमाणवकसतानि सिप्पं वाचेति २

किन्तु कालान्तर में बनारस भी शिक्षा-केन्द्र के रूप में सारे देश में प्रसिद्ध हो गया और यहाँ भी दूर-दूर प्रान्तों से लोग उच्च शिक्षा के लिए आने लगे। तक्षशिला की भाँति बनारस में भी वेदों के अतिरिक्त १८ शिल्पों की शिक्षा दी जाने लगी थी। महात्मा बुद्ध के समय में बनारस पूर्वी भारत का निस्सन्देह सबसे बड़ा सांस्कृतिक केन्द्र था। सम्भवतः इसलिए भी बुद्ध ने सारनाथ में ही सर्वप्रथम अपने मत का प्रचार प्रारम्भ किया।३ तब से सारनाथ बौद्धधर्म तथा बौद्ध शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र रहा। अशोक ने सारनाथ को समृद्ध बनाने की पूरी चेष्टा की। अनुमानतः १२ वीं शती ईसवी तक सारनाथ बौद्ध शिक्षा-केन्द्र के रूप में क्रियाशील रहा। इसी शताब्दी में बनारस के हिन्दू राजा गोविन्दचन्द्र की बौद्ध रानी कुमार देवी ने सारनाथ विहार को एक दानपत्र अर्पित किया। दुर्भाग्यवश सारनाथ की शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष बातें उपलब्ध नहीं। हुएन-त्सांग भी इसके बारे में मौन ही हैं।

ब्राह्मण-शिक्षा के क्षेत्र में बनारस शताब्दियों तक सर्व-प्रथम रहा। इसके पांडित्य की धाक सारे देश में पूर्णतः जमी हुई थी। शंकराचार्य को भी अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए बनारस के पंडितों की सहमति लेनी पड़ी थी। किन्तु बौद्ध शिक्षा-केन्द्र नालन्दा की तरह बनारस में कोई सुव्यवस्थित शिक्षा-संस्था विकसित न हो सकी। सुयोग्य शिक्षक ही व्यक्तिगत रूप में अपना-अपना विद्यालय चलाते रहे। ११वीं शताब्दी ईसवी में मुसलिम आतंक के कारण पंजाब से बहुत-से पंडित उत्तर तथा पूर्व की ओर खिसक गये। फलतः १२ वीं शती में काश्मीर तथा बनारस, ये ही दो सबसे प्रमुख शिक्षा-केन्द्र भारत में थे। सन् १२०० ई० में बनारस मुसलिम साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। इसका परिणाम स्वभावतः बनारस की शिक्षा पर बहुत ही बुरा पड़ा। किन्तु फिर भी यह शिक्षा-केन्द्र के रूप में अपना अस्तित्व किसी-न-किसी तरह बनाये रहा, जिसका पूर्ण विवेचन आगे यथास्थान प्रस्तुत किया जायगा।

---

२ जातक न० १५०

‡ Altekar—Education in Ancient India.—P. 113.

नालन्दा

राजगीर से ७ मील उत्तर वर्त्तमान बड़गाँव के सन्निकट ही प्राचीन नालन्दा विहार के भग्नावशेष आज भी अपने अतीत का गौरव बिखेर रहे हैं। एक छोटा-सा ग्राम किस तरह एक विश्व-विख्यात विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो गया था, इसकी कहानी काफी लम्बी तथा हृदयग्राही है। संक्षेप में इसका संकेत मात्र किया जाता है।

नालन्दा ग्राम महावीर तथा बुद्ध दोनों ही का प्रियपात्र था। जैन धर्म-ग्रन्थों के अनुसार महावीर ने यहाँ १४ वर्षा-ऋतु व्यतीत किये थे। स्वयं भगवान बुद्ध ने नालन्दा के प्रावारिक वन में रहकर कई बार धर्मोपदेश किया था।१ तारानाथ के अनुसार भदन्त सारिपुत्र का जन्मस्थान भी यही था। उनकी स्मृति में अशोक ने एक संघाराम (भिक्षु-निवास) बनवाया था और इस तरह नालन्दा विहार का संस्थापक अशोक ही कहा जा सकता है।२ किन्तु एक शिक्षा-संस्था के रूप में नालन्दा का उद्भव ३ री शताब्दी बाद हुआ। महायान शाखा के अभ्युदय के साथ-साथ नालन्दा की श्रीवृद्धि होने लगी। संभवतः इस शाखा के कुछ सुप्रसिद्ध विद्वान् यहाँ रहा करते थे। चौथी शताब्दी में इसकी ख्याति काफी दूर फैल चुकी थी। सुदूर दक्षिण से नागार्जुन तथा उनके शिष्य आर्यदेव क्रमशः ३०० तथा ३३० ई० ई० के लगभग यहाँ अध्ययन-अध्यापन के निमित्त आये थे।३

फाहियान ने नालन्दा ग्राम के दर्शन ४१० ई० में किये। उस समय इसका नाम 'नाल' था तथा यहीं सारिपुत्र ने जन्म तथा निर्वाण भी प्राप्त किया था। उनके भस्मों पर एक स्तूप बना हुआ था। फाहियान के अनुसार नालन्दा का दूसरा महत्त्व नहीं था। संभवतः फाहियान ने नालन्दा को देखा ही न था। उसने 'नाल' नामक किसी अन्य ग्राम को देखा था, जो कि जातकों में सारिपुत्र से सम्बन्धित था तथा सुदर्शन जातक में जिसकी चर्चा 'नालक' अथवा नलग्राम के नाम से की गई।१ यह भी सम्भव है कि नालन्दा उस समय तक बौद्ध शिक्षा का केन्द्र नहीं, अपितु ब्राह्मण-शिक्षा का केन्द्र था जिसके कारण फाहियान को यहाँ की शिक्षा से विशेष रुचि न रही होगी। जो भी

---

१ संयुत्त निकाय-४० : १ : ९

† Taranath—History of Budhism—P. 72.

‡ R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 557.

* R. K. Mookerji—P. 558.

हो, ५वीं शताब्दी के उपरान्त इसकी उन्नति दिन-दूनी रात चौगुनी होने लगी। हुएन-त्सांग (६२९—६४५) के समय में यह भारत का सबसे प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था।

हुएन-त्सांग के अनुसार नालन्दा-विहार की भूमि ५०० व्यापारियों ने "दस करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं" के मूल्य पर खरीद कर बुद्ध को समर्पित की थी। स्वयं ब्राह्मण धर्मानुयायी होते हुए भी गुप्त सम्राटों ने नालन्दा की समृद्धि में अपना योग दिया था।† हुएन-त्सांग ने ६ राजाओं के नाम दिये हैं, जिनमें प्रत्येक ने एक-एक संघाराम बनवाये थे, ये ६ राये कुमारगुप्त प्रथम, उनका पुत्र बुद्धगुप्त, तथागत गुप्त, बालादित्य, वज्र, मध्य भारत का एक राजा संभवतः हर्ष। इन राजाओं के ऐतिहासिक नाम तथा वंश पूर्णतः निश्चित नहीं। शक्रादित्य (कुमारगुप्त प्रथम) सम्भवतः कुमार-गुप्त प्रथम ही था (४१४—४५४)। ‡ बुद्धगुप्त, सम्राट् बुद्ध गुप्त ही था, जिसका राजत्व काल ४७५—५०० माना जाता है। बालादित्य गुप्त वंश का अन्तिम राजा हो सकता है। तथागतगुप्त तथा वज्र सर्वथा अनिश्चित हैं। सातवीं सदी में सम्राट् हर्षवर्द्धन ने नालन्दा में कई भवन बनवाये तथा विश्वविद्यालय के खर्च का आयोजन किया। हर्षवर्द्धन के पश्चात् पूर्णवर्मा ने ८० फीट ऊँची भगवान बुद्ध की तांबे की एक मूर्त्ति नालन्दा में प्रतिष्ठापित की थी, जिसके आच्छादन के लिए ६ स्तरों का एक विशिष्ट मंदिर बना हुआ था। इस तरह कई राजाओं के द्वारा नालन्दा को भवन, भूमि तथा अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुईं। बंगाल के पालवंश के राजाओं ने भी इसे विभिन्न रूपों में समृद्धिशील बनाया। धर्मपाल तथा देवपाल के नाम नालन्दा में प्राप्त विभिन्न अभिलेखों में अंकित हैं। ९ वीं शताब्दी के मध्य में सुवर्णद्वीप (जावा) के राजा बालपुत्र देव ने "नालन्दा में रहने वाले गुणी वृन्द की ओर आकृष्ट हो कर भगवान बुद्ध के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए सांसारिक संपत्ति को विनाशवान् जान नालन्दा में एक विशाल विहार बनवाया।" इन्हीं बालपुत्र के इच्छानुसार धर्मपाल देव ने नालन्दा के विहार के लिए ६ गाँव अर्पित किये थे। अन्य अभिलेखों के अनुसार गोपाल द्वितीय तथा रामपाल भी नालन्दा से सम्बद्ध थे। नालन्दा विहार के सभी भवन सुविशाल, भव्य तथा कलात्मक थे।

† Keay—Indian Education in Ancient & Later Times—P. 148.
‡ Altekar—Ancient Indian Education—P. 118.

विहार के भवनों के अतिरिक्त नालन्दा को विभिन्न राजाओं द्वारा प्रचुर भूमि भी प्राप्त हुई थी। हुएन-त्सांग के समय में देश के राजा ने १०० गाँव की आय संघ को समर्पित कर दी थी।" ईत्सिंग के समय में नालन्दा के बौद्ध संघ की सम्पत्ति में २०० गाँव सम्मिलित थे। इन गाँवों से संघ में नित्य ही सैकड़ों मन चावल और प्रचुर दूध-मक्खन आया करता था।*

खण्डहरों की खुदाई से स्पष्ट है कि नालन्दा विश्वविद्यालय के भवन तथा विश्रामागार आदि लगभग एक मील लम्बा तथा आधा मील चौड़ा एक समतल तथा सुरम्य भूखण्डपर अवस्थित थे। व्याख्यान भवन, छात्रावास तथा संघाराम आदि सभी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार अलग पंक्तियों में निर्मित थे। केन्द्रस्थ व्याख्यान भवन में सात बड़े-बड़े कमरे थे। कुछ छोटे परिमाण के ३०० अलग कमरे थे, जिनमें भी व्याख्यान दिये जाते थे। लगभग सभी भवन भव्य तथा सुन्दर थे। कई महलों की ऊँची-ऊँची गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ थीं। हुएनत्सांग के अनुसार इन अट्टालिकाओं के वातायन से बादलों के रंग-परिवर्त्तन सुगमता से देखे जा सकते थे। निम्नांकित श्लोक में भी इसकी पुष्टि हुई है।"†

यस्याम्बुधरावलेहिशिखरश्रेणी विहारावली।
मालेवोर्ध्वविराजिनी विरचिता कान्ता मनोज्ञाऽभुवः॥

अतिशयोक्ति की संभावना होते हुए भी यह निश्चित है कि नालन्दा के भवन बड़े ही भव्य तथा विशाल थे। विश्वविद्यालय के हरे-भरे प्रांगण में कई सुरम्य तड़ाग थे, जो सर्वदा स्वच्छ जल से परिपूर्ण रहते थे तथा जिनमें नीलकमल शोभायमान रहते थे। विश्वविद्यालय के उन्मुक्त वैभव को समेटती-सी एक चहारदीवारी थी, जिसके दक्षिण की ओर विद्यालय का सुरक्षित प्रवेश-द्वार था।‡

विश्वविद्यालय की ओर से छात्रों के लिए सुव्यवस्थित छात्रावास बने हुये थे। भिक्खु-विद्यार्थी विशेष प्रकार के संघारामों में आवासित किये जाते थे। नालन्दा की हाल की खुदाई में १३ ऐसे संघारामों का भग्नावशेष मिला है। संभवतः इससे अधिक संघाराम रहे होंगे जो कि छात्रावास के रूप में व्यवहृत होते थे। छात्रावास का भवन कम से कम दो

* Dr. A. S. Altekar—P. 117.
† Beal—The life of Huen-tsang—P. 109.
‡ Dr. A. S. Altekar—Ancient Indian Education.—P. 119.

महल का अवश्य रहा होगा। छात्रावास के कमरे अधिकांशतः दो तरह के होते थे—एक प्रकार के कमरे में सिर्फ एक ही छात्र रह सकता था; दूसरे में दो छात्र। प्रत्येक कमरे में प्रत्येक छात्र के लिए पत्थर की एक एक चौकी (cot) रखी रहती थी। पुस्तकें तथा दीप आदि को रखने के लिए स्तम्भ तथा ताखे बने हुये थे। प्रत्येक भवन के आंगन में एक कूप का प्रबन्ध था ताकि छात्रों को जल की कठिनाई न हो। कमरे का प्रबन्ध भिक्खु-विद्यार्थी की अवस्था तथा श्रेणी के अनुसार होता था। उच्च श्रेणी के भिक्खुओं को अधिक सुविधाएँ दी जाती थीं। प्रत्येक छात्रावास में भोजन की सामूहिक व्यवस्था थी, भोजन बनाने के बड़े-बड़े चूल्हे आज भी विद्यमान पाये जाते हैं। भिक्खु-विद्यार्थियों के लिए आवास तथा भोजन दोनों ही निःशुल्क थे। लौकिक विद्यार्थियों से निम्न-श्रेणी की सेवा सामान्यतः अपेक्षित रहती थी, सम्भवतः इन्हें भी निःशुल्क आवास मिल जाता करता था।†

निःशुल्क शिक्षा—

नालन्दा की शिक्षा सर्वथा निःशुल्क थी। विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र तथा औषधि के प्रबंध भी विश्वविद्यालय की ओर से ही होता था। हुएनत्सांग के जीवन-चरित्र के लेखक **श्रमण** ली के अनुसार विश्वविद्यालय में सदा दस हजार, 'आवासिक और नवागन्तुक" थे जिनमें आचार्य तथा अतिथि भी सम्मिलित थे। स्वयं हुएन-त्सांग के विवरण के अनुसार कई हजार आवासिक-भिक्खु थे। इन दस हजार विद्यार्थियों तथा आचार्यों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति संघ किया करता था। इत्सिंग के समय में संघ की ओर से ३००० विद्यार्थियों के भोजन आदि का प्रबन्ध था। डाक्टर अलतेकर के अनुसार ७ वीं सदी के मध्य में विश्व-विद्यालय में छात्रों की संख्या लगभग ५००० रही होगी। इनके मत में श्रमण ली के द्वारा दी गई संख्या प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती क्योंकि उन्होंने स्वयं नालन्दा नहीं देखा था।* जो भी हो, नालन्दा के विद्यार्थियों को अपने अध्ययन के सिवा किसी और बात की चिंता न रहती थी। स्वभावतः वे दत्तचित्त होकर विद्याध्ययन करते थे। हुएन-त्सांग के अनुसार उनकी सफलता का मुख्य कारण उनकी आर्थिक निश्चिन्तता था।

---

†Dr. A. S. Altekar—Ancient Indian Education.—Ps. 118-119.

* Dr. A. S. Altekar—Ps. 118-119.

नालन्दा की शिक्षा विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा थी। विभि स्थानों के उच्च शिक्षा प्राप्त प्रतिभाशाली व्यक्ति यहाँ अपनी अतृप्त ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए आते थे तथा यहाँ के आचार्यों की ज्ञान-प्रभा से अपनी शंकाओं को मिटा कर पूर्ण ज्ञानी होते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय का क्षेत्र स्वदेश तक ही सीमित न था। चीन, कोरिया, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों से परम ज्ञान की प्राप्ति के इच्छुक छात्र यहाँ आया करते थे।† अपने उच्चतम आदर्श की सुरक्षा के लिए विश्वविद्यालय को अपनी प्रवेशक-परीक्षा काफी कड़ी रखनी होती थी। हुएन-त्सांग के अनुसार इस परीक्षा में लगभग २० प्रतिशत परीक्षार्थी ही उत्तीर्ण होते थे।‡ इन्हीं २० प्रतिशत को ही विश्वविद्यालय में प्रवेश करने की अनुमति मिलती थी। बहुधा अन्य देशों के विद्वानों को भी प्रवेशक-परीक्षा में असफल होकर लौट जाना पड़ता था। किंतु इतनी कड़ाई के समक्ष भी लगभग दस हजार विद्यार्थी नालन्दा में थे। कितने विद्यार्थी यहाँ पढ़ने के लिए उत्सुक रहते होंगे—यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है। विश्वविद्यालय की प्रवेशक-अवस्था बीस से कम न रही होगी। स्पष्टत: इससे कम अवस्था में शायद ही कोई प्रतिभासम्पन्न छात्र प्रवेशक-परीक्षा में सम्मिलित होने के योग्य हो सकता था।

किंतु बौद्ध संघ के सामान्य नियमों के अनुसार नालन्दा में ऐसे छात्र भी पढ़ते थे जिनकी शिक्षा आधुनिक विद्यालयों के माध्यमिक दर्जों की कही जा सकती है।* संघ के नये भिक्खु, ब्रह्मचारी तथा मानवों की शिक्षा कम अस्वथा में ही प्रारम्भ होती थी। फलत: ऐसे छात्रों के लिए उपर्युक्त प्रवेशक परीक्षा व्यवहृत न होती थी। संघ के धार्म्मिक नियमों के अनुसार ही इन छात्रों के आचरण-संबंधी कुछ जांच होती थी, ताकि कुपात्र एवं संस्कारहीन छात्र संघ में प्रवेश न करने पावें।

शिक्षक—हुएन-त्सांग के समय में नालन्दा के आचार्यों की संख्या १५१० थी। योग्यता के अनुसार ये शिक्षक तीन श्रेणियों में बँटे हुए थे। उच्चतम श्रेणी में १० शिक्षक ऐसे थे जो कि सूत्र तथा शास्त्रग्रन्थों के पचास

† In course of time it became a truly international centre of learning—K. M. Panikkar—A Survey of Indian History.—P. 101.

‡ R. K. Mookerji—P. 564.

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education.—P. 565.

संग्रहों की व्याख्या कर सकते थे । हुएन-त्सांग ऐसे दस शिक्षकों में एक था । द्वितीय श्रेणी के शिक्षक ३० संग्रहों की व्याख्या कर सकते थे । इस मध्यम योग्यता के शिक्षकों की संख्या ५०० थी। सामान्य श्रेणी के १००० शिक्षक थे जो कि सूत्रों तथा शास्त्रों के केवल २० संग्रहों की व्याख्या कर सकते थे ।

विश्वविद्यालय के प्रधान थे शीलभद्र जिन्होंने सूत्रों तथा शास्त्रों के समस्त संग्रहों के पूर्ण अध्ययन किये थे तथा जिनकी व्याख्या वे भलीभांति कर सकते थे । हुएन-त्सांग के अनुसार इस योग्यता का कोई अन्य व्यक्ति न था । विश्वविद्यालय के सारे विद्वान शीलभद्र को बड़े ही सम्मान तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे । शीलभद्र की परिपक्व अवस्था, अवर्णनीय धर्मपरायणता तथा उनकी अतुलनीय विद्वत्ता में नालन्दा के समस्त आदर्श सतत मूर्त रहते थे । विश्वविद्यालय में सैकड़ों अन्य अध्यापक हुए थे जिनकी प्रसिद्धि देश-देशान्तर में फैली हुई थी। जिनमित्र, चंद्रपाल, स्थिरमति, धर्मपाल, नागार्जुन, ज्ञानमति आदि आचार्यों का ज्ञान अथाह समझा जाता था । वस्तुतः नालन्दा की ख्याति का श्रेय यहाँ के सुविज्ञ शिक्षकों को ही था ।

पाठ्य-विषय—विश्वविद्यालय की शिक्षा सिर्फ बौद्ध साहित्य के अध्यापन तक सीमित न थी । इस शिक्षा के वृत्त में तत्कालीन लगभग सभी ज्ञान सन्निविष्ट थे । महायान सम्प्रदाय के हिमायती होते हुए भी नालन्दा में हीनयानी विद्यार्थियों के लिए भी गुंजाइश थी । हीनयानी शाखा के प्रबल समर्थक इत्सिग ने भी नालन्दा की शिक्षा को उपादेय पाया था और दस वर्षों तक रहकर यहाँ की शिक्षा से पर्याप्त लाभ उठाया था । विश्व-विद्यालय में न केवल ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अध्यापन होते थे बल्कि सभी प्रमुख भौतिक विषयों की उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था भी यहाँ थी । भौतिक विद्याओं में व्यावहारिक ज्ञान-विज्ञान भी सम्मिलित थे । प्रमुख भौतिक विषय ये थे—हेतु-विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, तंत्र विद्या तथा अन्य विविध विषय । हुएन-त्सांग ने स्वयं जिन विद्याओं की शिक्षाएँ ग्रहण की थीं, उनकी सूची यह है:—(१) योग शास्त्र, जिसके श्रेष्ठतम आचार्य शीलभद्र (२) न्याय (३) हेतु-विद्या (४) शब्द विद्या (५) ब्राह्मण-विद्या के विषय—व्याकरण, ज्योतिष, विविध दर्शन आदि ।

एक सुप्रसिद्ध धर्माचार्य (Master of law) के लिए भी इतनी चीजें

पढ़ने को बाकी थीं। नालन्दा की शिक्षा के पश्चात् हुएन-त्सांग की ख्याति और भी बढ़ गई थी। वस्तुतः नालन्दा के स्नातक का नाम कुछ इतना अधिक था कि बहुधा लोग झूठ बोलकर इसके प्रमाण-पत्र से लाभ उठाना चाहते थे।

नालन्दा में प्रति दिन विभिन्न विषयों से संबंधित लगभग १०० व्याख्यान दिये जाते थे। इन व्याख्यानों में उपथित रहना छात्रों के लिए अनिवार्य तो था ही, स्वयं छात्र भी उनसे एक क्षण के लिए अनुपस्थित होना न चाहते थे। विद्यालय का अध्यापन केवल रात के शयन-काल में स्थगित रहता था।

शिक्षण-पद्धति :—विश्वविद्यालय में शिक्षण की तीन पद्धतियाँ प्रचलित थीं। प्रथम, छात्रों को मौखिक तथा पुस्तक से व्याख्या सहित पा दिया जाता था। छात्र उसका अभ्यास करते थे तथा अध्यापक को सुनाते थे। पाठ्य-विषय पर प्रश्नोत्तर तथा शंका-समाधान होता था। कठिन अंशों की विशद व्याख्या होती थी। दूसरी पद्धति थी व्याख्यान अथवा आधुनिक लेक्चर की। प्रत्येक विषय का व्याख्यान विशेषज्ञ के द्वारा अलग-अलग आयोजित होता था। व्याख्यान के उपरान्त छात्र व्याख्यान के प्रति अपनी शंकाओं का समाधान भी करते थे। तीसरी पद्धति थी शास्त्रार्थ की। हुएन-त्सांग तथा इत्सिंग दोनों ही प्रसिद्ध चीनी यात्री इस पद्धति से बहुत प्रभावित हुए थे। हुएन-त्सांग के अनुसार 'गंभीर प्रश्नों के पूछने और उत्तर देने के लिए दिन का समय पर्याप्त नहीं होता था। सुबह से लेकर रात तक वे शास्त्रार्थ में लगे रहते थे।'

प्रबन्ध—विश्वविद्यालय के प्रबन्ध का प्रधान उत्तरदायित्व यहाँ के कुलपति अथवा अध्यक्ष पर था। इनका चुनाव समस्त भिक्खुओं के द्वारा होता था। इस पद के लिए वे ही भिक्खु उपयुक्त समझे जाते थे, जो अपने अनुभव, सदाचार तथा विद्वता के कारण समस्त भिक्खुओं के सम्मान के पात्र समझे जाते थे। विश्व-विद्यालय के सुप्रबन्ध के लिए, दो सभाएँ भी संघ के द्वारा नियुक्त होती थीं, जो कि अध्यक्ष को उचित परामर्श दिया करती थीं। पहली सभा शैक्षणिक सभा (Academic council) की तरह थी तथा शिक्षा और शिक्षण संबंधी प्रश्नों पर अध्यक्ष को उचित परामर्श दिया करती थी। विद्यालय-प्रवेश, पाठ्य-क्रम निर्धारण, शिक्षकों के अध्यापन के विषय, आदि बातें इसी सभा के द्वारा परामर्शित होती थीं। यही सभा पुस्तकालय का प्रबन्ध भी किया

करती थी । विश्वविद्यालय का पुस्तकालय विभाग अत्यन्त महत्वपूर्ण था । आधुनिक पुस्तकालयों की अपेक्षा प्राचीन पुस्तकालयों के उत्तरदायित्व कहीं अधिक थे । मुद्रणालय के अभाव में पुस्तकालय न केवल पुस्तकों के संग्रहालय थे बल्कि पुस्तकों के संरक्षक तथा प्रकाशक भी थे । फलतः पुरानी जीर्णशीर्ण पुस्तकों को नया कलेवर देने का भार पुस्तकालय के प्रबन्धकों पर ही था । साथ ही उन्हें उन पुस्तकों को प्रतिलिपित करने की व्यवस्था भी करनी पड़ती थी, जिनकी मांग विभिन्न छात्रों से सतत रहा करती थी। प्रतिलिपित करने के कार्य में पुस्तकालय विभाग को बड़ी ही सतर्कता रखनी पड़ती थी, ताकि पुस्तकें सही रूप में ही प्रतिलिपित हों। इस कार्य में विश्वविद्यालय के प्राध्यापक तथा छात्र दोनों ही हाथ बँटाते थे । किंतु प्रतिलिपि लेने के लिए विशेष कर्मचारी भी नियुक्त होते थे ।

विश्वविद्यालय की दूसरी सभा विश्वविद्यालय के सामान्य प्रशासन तथा आर्थिक बातों से संबंद्ध रहती थी । विश्वविद्यालय के नये भवन का निर्माण, पुराने भवनों की मरम्मत, सभी भिक्खुओं के भोजन-वस्त्र की व्यवस्था, छात्रावास के कमरों का वितरण, संघ संबंधी सामान्य कार्यों की व्यवस्था आदि बातों के लिए यही सभा उत्तरदायी थी । सभा के समस्त कार्यों में अर्थ संबंधी कार्य अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण थे । लगभग १०००० सदस्यों के भोजन की दैनिक व्यवस्था आसान नहीं थी। इसके लिए संघ के समस्त आर्थिक साधनों की उचित व्यवस्था अपेक्षित थी, ताकि भोजन की आवश्यक वस्तुएँ सतत उपलब्ध रहें । हम देख चुके हैं कि विश्वविद्यालय को २०० गाँव प्रदत्त थे । इन गाँवों की भूमि, उसकी उपज, विश्वविद्यालय का कर, गौ, बाग-बगीचे आदि सभी विषयों को सभा को उचित देख-रेख करनी पड़ती थी ।

छात्रावास के कमरों का वितरण छात्रों की अवस्था के अनुसार होता था। पुराने भिक्खुओं को नये भिक्खुओं की अपेक्षा विशेष सुविधाएँ उपलब्ध थीं। विद्यालय तथा छात्रावास की व्यवस्था स्वयं छात्रों के द्वारा ही प्रबंधित रहती थी । किसी प्रकार के अपराध के दण्ड की व्यवस्था भी स्वयं छात्रों द्वारा ही आयोजित होती थी । स्वशासन की इस अद्भुत प्रणाली में दण्डनीय अपराध शायद ही कभी होता था । विश्वविद्यालय के समस्त कार्य शिक्षकों तथा छात्रों के सहयोग तथा सहानुभति से ही संचालित होते थे । शिक्षक और शिक्षित का पारस्परिक व्यवहार इतना स्निग्ध था कि विश्व-

विद्यालय के ७०० वर्ष के इतिहास में एक भी दृष्टान्त ऐसा नहीं मिलता जिसमें छात्रों को ओर से शिक्षकों के प्रति किसी प्रकार का अवज्ञा अथवा अवहेलना हुई हो ।*

विश्वविद्यालय का प्रबन्ध जनतंत्रात्मक पद्धति के अनुसार होता था । संघ के सभी सदस्यों के द्वारा निर्वाचित पुराने भिक्खु विभिन्न विभागों के अध्यक्ष थे, जिनके अनुशासन में ही विश्वविद्यालय के सारे सामान्य दैनिक कार्य संचालित होते थे । छात्रावास का प्रबन्ध स्वयं छात्रों के हाथ में था जो कि अपने विभाग के अध्यक्ष के सामान्य निर्देश के अनुसार ही इसे सम्पादित किया करते थे । किसी अपराधी छात्र के उचित दण्ड की व्यवस्था भी छात्रों के सम्मिलित संघ में ही होता था । आचार्यों की श्रेष्ठता तथा मानसिक योग्यता को उचित प्रतिष्ठा विद्यार्थी करते थे । साथ ही आचार्य भी विद्यार्थियों के स्वावलम्बन को प्रोत्साहित करने के लिए, उन सभी कार्यों का उत्तरदायित्व उन्हें सौंपे रहते थे, जिनको वे सामुहिक रूप में सम्हालने के लायक थे । शिक्षक और शिक्षित के पारस्परिक सहयोग से विश्वविद्यालय का कार्य बड़े ही सुन्दर ढंग से संचालित होता था ।

पुस्तकालय :—विद्यालय में एक सुसम्पन्न तथा सुसज्जित पुस्तकालय भी था । विश्वविद्यालय के जिस भाग में पुस्तकालय स्थित था वह धर्म-गंज के नाम से प्रसिद्ध था । पुस्तकालय के लिए तीन बड़े भवन अलग किये हुए थे जो कि रत्नसागर, रत्नोदधि तथा रत्नरञ्जक के नाम से विख्यात थे । रत्नसागर नौ महल का था । रत्नसागर में बहुमूल्य तथा अप्राप्य पुस्तकें रखी जाती थीं । तिब्बती विवरणों से यह भी पता चलता है कि मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् भी पुस्तकालय के कुछ भवन अवशेष रह गये थे । रत्नोदधि का विनाश तीर्थिकाओं के द्वारा हुआ जिन्होंने क्रोध में आकर इसमें आग लगा दी ।

नालन्दा के पुस्तकालय से हुएन-त्सांग ने ४०० संस्कृत की अप्राप्य पुस्तकें संगृहीत की थी, जिनमें पाँच लाख श्लोक थे । देश-विदेश के छात्र अपने अध्ययन के लिए अथवा साथ ले जाने के लिए प्रसिद्ध ग्रन्थों को

* R. K. Mookerji—Ancient Indian Education.—P. 571.

नकल करते थे । तिब्बत, चीन तथा मध्य एशिया के देशों में हजारों संस्कृत ग्रन्थ यहीं से नकल करके ले जाये गये ।

नालन्दा के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह विश्वविद्यालय एक प्रादेशिक अथवा एक राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था नहीं, अपितु एक अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र था, जहां सुदूर विदेशों से भी उच्च ज्ञान के अभीच्छुक छात्र निरन्तर आया करते थे । नालन्दा इन विदेशी विद्यार्थियों की मानसिक तुष्टि किया करता था । अपने संगठन, पाठ्य-वस्तु, शिक्षण-व्यवस्था, बौद्धिक औदार्य आदि सभी बातों के विचार से ७ वीं शती की भारतीय नालन्दा किसी भी अंश में विश्व के आधुनिक विश्वविद्यालयों—ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, पेरिस तथा हारवार्ड से हेय न था ।*

वलभी

आधुनिक काठियावड़ के काला नामक स्थान के सन्निकट भारत के पश्चिमी छोर पर वलभी का सुविख्यात विश्वविद्यालय नालन्दा के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में हीनयान का प्रमुख केन्द्र था । लगभग ३०० (४७५–७७५ ई०) वर्षों तक वलभी सुविख्यात मैत्रक राजाओं की राजधानी रही । व्यावसायिक क्षेत्र में वलभी एक अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह था ।† ध्रुव प्रथम की राजकुमारी 'दुद्दा' ने वलभी का प्रथम बिहार निर्मित किया था । ५८० ई० में धारसेन प्रथम ने एक और बिहार बनवाने का आदेश दिया । हुएन-त्सांग के समय में वलभी-बिहार बहुत उन्नत अवस्था में था, इसके विभिन्न संघों में ६००० श्रमण रहते थे । नालन्दा की तरह इसकी भी ख्याति फैली हुई थी । स्थिरमति तथा गुणमति जैसे अध्यापकों की कीर्ति देश-विदेश में परिव्याप्त थी । सारे देश से विद्याध्ययन के लिए विद्यार्थी यहाँ आया करते थे । वलभी के स्नातकों का सम्मान नालन्दा के स्नातकों के समान ही होता था । राजदरबारों में उपस्थित होकर बहुधा ये शासन तथा राज्य-प्रबन्ध संबधी अपनी कुशलता भी प्रदर्शित करते थे । इससे स्पष्ट है

---

* The University of Nalanda....was an educational centre of international fame comparable in the universalism of its thought, the wide range of its studies, the international character of its community to the greatest universities of modern times like Oxford, Cambridge, Paris and Harvard. Panikkar—Survey of Indian Histry—P. 101.

† Altekar—Education in Ancient India.—P. 125.

कि वलभी की शिक्षा में धार्मिक विषयों के अतिरिक्त भौतिक विषयों जैसे नीति चिकित्सा आदि की शिक्षाएँ भी सम्मिलित थीं। बहुधा ब्राह्मण विद्वान भी अपने पुत्रों को शिक्षा ग्रहण के लिए यहाँ भेजा करते थे। बनारस के एक ब्राह्मण वसुदत्त ने अपने पुत्र विष्णुदत्त को १६ वर्ष की अवस्था में उच्च शिक्षा के निमित्त वलभी भेजा था।† इस दृष्टान्त से यह भी स्पष्ट है कि ब्राह्मण शिक्षा के लिए वलभी का महत्व नालन्दा तथा बनारस से कम न था। नालन्दा की भाँति वलभी विश्वविद्यालय भी पुस्तकालय से सुसम्पन्न था। गुहसेन के दानपत्र (सन् ५५९ ई०) में पुस्तकों के क्रय के आदेश का स्पष्ट उल्लेख है।‡

विश्वविद्यालय का खर्च दो प्रमुख स्रोतों से चलता था। यहां के धनी व्यावसायिक तथा सौदागर इसके प्रधान आर्थिक संरक्षक थे। मैत्रक-वंश के राजाओं के द्वारा विश्वविद्यालय को समय-समय पर प्रचुर दान मिलता था। फलतः बहुत दिनों तक विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति अच्छी रही। अरबों के आक्रमण के फलस्वरूप वलभी के आश्रयदाता राजाओं की राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभुत्व विनष्ट हो गया। किंतु इसके समक्ष भी वलभी १२ वीं शताब्दी तक पश्चिम भारत का एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बना रहा।*

विक्रमशिला

पालवंश के सुप्रसिद्ध नृपति धर्मपाल (७७५–८८० ई०) ने श्री विक्रमशिला विहार की स्थापना "उत्तरी मगध में गंगा के किनारे एक सुरम्य पहाड़ी पर की थी।" सम्भवतः यह पहाड़ी वर्तमान कहलगाँव के सन्निकट 'पत्थर घाट' पहाड़ी ही है। विहार के भवन एक सुनिश्चित योजना के अनुसार निर्मित किये गये थे। ये भवन एक बाहरी चहारदीवारी से परिवेष्टित थे। भीतरी प्रकोष्ठ में एक सुविशाल मन्दिर था जिसमें कई महाबोधि मूर्त्तियाँ थी। अन्य छोटे-छोटे मन्दिरों की संख्या १०७ थीं। इन मन्दिरों के अध्यक्ष तथा

† तविष्णुदत्तो वयसा पूर्ण षोडशवत्सरः। गंतुं प्रववृते विद्याप्राप्तये वलभीपुरम्॥
—कथासरित्सागर–३२, ४२–३

‡ Ancient—Indian Education.—P. 586.

* A History of Education in Ancient India—N. N. Mazumdar —P. 98.

आचार्य के रूप में १०८ विद्वान नियुक्त किये गये थे । मन्दिरों की सामान्य व्यवस्था के लिए ६ अतिरिक्त पंडित नियुक्त थे । कुल मिलाकर ११४ विद्वान विश्वविद्यालय में निरन्तर रहा करते थे ।

कालान्तर में विक्रमशिला विश्वविद्यालय के विद्यालयों की संख्या ६ हो गई । प्रत्येक में १०८ शिक्षक नियुक्त थे । इन ६ विद्यालयों के भवनों के बोच में एक केन्द्रोय महाभवन था जिसमें ६ फाटक थे । प्रत्येक फाटक एक-एक विद्यालय को संयोजित करता था । केन्द्रोय महाभवन का नाम विज्ञान-गृह (House of Science) था ।† बाहरी अहाते की दोवारें कलापूर्ण चित्रों से सुसज्जित थीं । विहार के प्रधान फाटक के दाहिने स्तम्भ पर नागार्जुन तथा बायें पर अतिशा के चित्र अंकित थे । विश्व-विद्यालय के भवनों को दोवालों पर सुविख्यात आचार्यों के चित्र भी थे

विश्वविद्यालय के प्रमुख द्वार पर "द्वार पण्डित" नियुक्त थे जिनका कार्य था विश्वविद्यालय में प्रवेश करनेवाले विद्यार्थियों का जांच करना। उनको जांच के बिना कोई भो छात्र विश्वविद्यालय में भर्ती नहीं हो सकता था । ये सभी द्वार-पण्डित अपने विषय के विशेषज्ञ थे ताकि, संभावित छात्रों को पूरी परोक्षा ये ले सकें । वस्तुतः ये द्वारपण्डित विश्वविद्यालय की विद्वत्ता के संरक्षक थे ।

विश्वविद्यालय के प्रधान अथवा कुलपति बड़ी सावधानी के साथ चुने जाते थे । ये न केवल पूर्ण विद्वान् होते थे, बल्कि परम धार्मिक भी ये होते थे । यहाँ के सभी प्रधान, जिनका परिचय हमें उपलब्ध है, उच्चकोटि के विद्वान तथा श्रेष्ठतम धर्माचार्य थे । बुद्ध-ज्ञान-पाद को स्वयं धर्मपाल ने प्रधान नियुक्त किया था । दीपंकर श्री ज्ञान १०३४ ई० में यहाँ के प्रधान थे जिनके पांडित्य तथा धर्माचरण की ख्याति दूर-दूर देशों तक फैली हुई थी । ऐसे सुविज्ञ आचार्यों से उपदेश ग्रहण करने के लिए स्वभावतः विद्यार्थी लालायित रहते थे । १२ वीं शती ई० में विश्वविद्यालय की छात्र संख्या ३००० थी । विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में बहुमूल्य पुस्तकें संगहीत थीं, पुस्तकों के परिमाण को देखकर मुसलिम आक्रमकारी भी क्षुब्ध हो गये थे ।

प्रचलित रीति के अनुसार विश्वविद्यालय का प्रशासन एक अध्यक्ष अथवा कुलपति के द्वारा संचालित होता था । विभिन्न विभाग के शासन तथा

† A History of Education in Ancient India—N. N. Mazumdar —P. 98.

सुप्रबन्ध के लिए विभिन्न सभाएँ अथवा समितियाँ थीं। छात्रों के भोजन, आवास, पठन-पाठन आदि सभी विषयों का समुचित प्रबन्ध विश्वविद्यालय में आयोजित रहता था। आचार्यों का जीवन सीधा-सादा होता था। एक आचार्य का खर्च सामान्य भिक्खु के खर्च से चौगुना से अधिक न था।*

विक्रमशिला के पाठ्य-विषय नालन्दा की अपेक्षा न्यून थे। व्याकरण तर्क, दर्शन, तंत्र, तथा कर्मकाण्ड अध्ययन के प्रमुख विषय थे। कालान्तर में तंत्र विद्या की प्रधानता हुई प्रतीत होती है। आचार्य बुद्ध ज्ञान-पाद तंत्र विद्या के एक नयी शाखा के प्रवर्तक थे। तंत्र संबंधी उनकी ९ पुस्तकें तिब्बत में सुरक्षित हैं। विश्वविद्यालय के अध्यापन के संबंध में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है। तिब्बती स्रोतों से पता चलता है कि यहाँ के विद्यार्थियों के अध्ययन की समाप्ति पर उपयुक्त प्रमाण-पत्र (**Degree or Diploma**) दिये जाते थे। बहुधा यह प्रमाण-पत्र तत्कालीन नृपति द्वारा प्रदान किये जाते थे।† इससे स्पष्ट है कि विश्वविद्यालय की शिक्षण-पद्धति पूर्णतः संगठित तथा सुव्यवस्थित थी।

विक्रमशिला के आचार्यों में दीपंकर श्री ज्ञान अथवा आचार्य अतिशा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका संक्षिप्त जीवन-वृत्त अप्रासंगिक नहीं होगा।

दीपंकर का जन्म गौड़ के राजकीय परिवार में सन् ९८० ईसवी में हुआ था। संसार त्याग कर इन्होंने कृष्ण गिरी के राहुल गुप्त का शिष्यत्व ग्रहण किया। तदन्तर १९ वर्ष की अवस्था में ओदन्तपुरी के आचार्य शीलरक्षित से बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। आचार्य ने इनका नाम दीपंकर श्री ज्ञान रखा जिस नाम से ही ये विख्यात हुए। अपनी प्रतिभा तथा परिश्रम से इन्होंने बौद्ध साहित्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया तथा हीनयान एवं महायान दोनों ही शाखाओं के पूर्ण पंडित हो गये। इसके अतिरिक्त वैशेषिक तथा तंत्र में भी इनकी पहुँच असाधारण थी। विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति के विचार से इन्होंने स्वर्णद्वीप की समुद्री-यात्रा की। वहाँ आचार्य चन्द्रकीर्ति के शिष्यत्व में उन्होंने १२ वर्ष तक बौद्ध धर्म के रहस्यों के अध्ययन किये। तत्पश्चात् वे 'सिलोन' होते हुए भारत पहुँचे। बोध गया में उन्होंने तीर्थिकाओं को

---

* Bose—Indian Teachers.—P. 84.
† Bose—Indian Teachers.—P. 47.

परास्त किया। इस विजय के पश्चात् मगध तथा गौड़ के बौद्ध संघ के ये प्रधान चुने गये। साथ ही विक्रमशिला का प्रधान भी इन्हें ही नियुक्त किया गया। इसी समय, तिब्बत आने का निमन्त्रण इन्हें मिला। दीपंकर पहले अनिच्छुक थे। किन्तु अन्त में "तारा देवी" की प्रेरणा से ये वहाँ जाने को प्रस्तुत हुए।* १८ महीने के बाद इनकी यात्रा आरम्भ हुई। तीस बैलों पर यात्रा के सामान तथा पुस्तकादि लादे गये। अनेक धार्मिक स्थानों के दर्शन करते हुए ये तिब्बत पहुँचे। यहाँ इनका अपूर्व सम्मान हुआ। इनके स्वागत में सभी लोग सम्मिलित थे। राजा के समक्ष इन्हें तीन सौ घुड़सवार अनुगमन करते हुए ले गये। तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रतिष्ठापन तथा संस्कार के लिए ये १३ वर्ष तक निरन्तर (१०४०—१०५३ ई०) परिश्रम करते रहे। ७३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने तिब्बत में ही निर्वाण प्राप्त किया। तिब्बती में इनकी लिखी २०० पुस्तकें कही जाती हैं, जो कि अधिकांशतः 'वज्रयान' से सम्बधित थीं। लामा सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक वस्तुतः दीपंकर ही थे।†

दीपकर की तिब्बत यात्रा के प्रसंग में चाय के भारत में प्रचलन की एक आकर्षक कहानी है। तिब्बत की भूमि पर पदार्पण करते ही वहां के पुरोहित ने राष्ट्रीय पेय चा (*cha*) के साथ इनका स्वागत किया। इसकी प्रस्तावना में पुजारी ने यह कहा—"महामान्यवर! यह चा है... इसकी पत्तियां सोडा, नमक तथा मक्खन के साथ गर्म पानी में घोल दी जाती है और इस प्रकार मिश्रित रस पिया जाता है। इसके कई गुण हैं। इस तरह चाय का व्यवहार तिब्बत से ही भारत में आया हुआ प्रतीत होता है।‡

आगे चलकर में विक्रमशिला में तान्त्रिक बाम-मार्ग का पूर्ण प्रचलन हो गया था, जिसके फलस्वरूप अनेक भ्रष्टाचार धार्मिक आचारों में सम्मिलित हो गये थे। "गुह्य समाज" नामक एक तान्त्रिक ग्रन्थ भी वहाँ लिखा जा चुका था जिसमें भगवान बुद्ध परियों अथवा स्वर्ग-देवियों के साथ निरन्तर विहार करते दिखलाये गये थे।£ नर-बलि तथा महाप्रसाद के रूप में नर-मांस-भक्षण भी प्रचलित हो गया था। बहुधा मदिरा में मानव रक्त भी मिश्रित

* R. K. Mookerji—Education in Ancient India—P. 591.
† Buddhist Text Society Journal Part I 1893—P. 27.
‡ In this amazing book Buddha is represented in acts of continuous dehauchery with angels......
£ Pannikar—A survey of Indian History P. 132.

किया जाता था। मांस लो, मद्य तथा स्त्री-तान्त्रिक सिद्धि के प्रधान उपकरण समझे जाने लगे थे।३ विक्रमशिला विश्वविद्यालय का एक घटना इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। विश्वविद्यालय के छात्रावास के एक भिक्खु विद्यार्थी के पास मद्य की एक बातल पायी गयी। उक्त विद्यार्थी ने इस एक भिक्षुणो से प्राप्त की थी, जिससे वह बहुधा एकात में मिला करता था। विश्व-विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इस भिक्खु विद्यार्थी के विरुद्ध कठोर काररवाई करनो चाहो। किन्तु विश्वविद्यालय के सदस्य इस सम्बन्ध में दो दलों में विभक्त हो गये और बड़ा हो हल्ला मचा। इससे स्पष्ट है कि विक्रम-शिला विद्यालय के काफो छात्र इस वाम-मार्गो तांत्रिक मत के अनुयायो हो गये थे।

विक्रमशिला विहार को भो मुसलिम आक्रान्ताओं का कोप-भाजन बनना पड़ा। रेभर्टी के अनुसार यहां के सभी ब्राह्मण (भिक्खु) जिनके मस्तक मुड़े ए थे, कत्ल कर दिये गये। पुस्तकालय की पुस्तकों को पढ़ने के लिए उचित व्यक्ति खोजे जाने पर कोई न मिला। इन पुस्तकों के द्वारा मुसलमानों को पोछे पता चला कि जिस नगर तथा जिन इमारतों को उन्होंने ध्वस्त कर दिया था वे सभी एक बड़े विद्यालय के अंग थे।†

जगद्दला

पालवंश के राजा रामपाल (१०८४—११३०) ने जगद्दला विहार को स्थापना वारेन्द्र की नयी नगरो 'रामवतो' में की थी। शोघ्र हो यह विहार शिक्षा का एक सुप्रसिद्ध केन्द्र बन गया। इसके आचार्यों में कई विख्यात विद्वान् ने जिनका यश तिब्बत में आज भी फैला हुआ है। विभूतिचन्द्र, दानशोल, सुधाकर, मोक्षाकरगुप्त आदि जगद्दला के विद्वान् थे। विभूतिचन्द्र, था दानशोल ने कई संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बतो भाषा में किया था और ये महापण्डित को उपाधि से विभूषित थे। सुधाकर ने तंत्र तथा मोक्षाकर गुप्त ने न्याय पर एक-एक ग्रन्थ लिखे, जिनका कालान्तर में तिब्बतो भाषा में अनुवाद हुआ।

जगद्दला विश्वविद्यालय, एक सौ वर्ष के संक्षिप्त जोवन के उपरान्त हो, १२०३ ई० में मुसलमानो आक्रमण में विनष्ट हो गया।

ओदन्तपुरी

इस विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारो प्राप्त है। सम्भवतः यह पालवंश के उत्थान के बहुत पहले हो एक सुप्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र के रूप

† Raverty—P. 552.

में विख्यात हो चुका था। पालवंश के राजाओं ने विश्वविद्यालय में एक सुसम्पन्न पुस्तकालय का प्रबन्ध भी किया था जिसमें ब्राह्मण तथा बौद्ध साहित्य की बहुमूल्य पुस्तकें थीं। ओदन्तपुरी के बिहार के नमूने के अनुसार ही तिब्बत का प्रथम बुद्ध मठ सन् ७४९ ई० में निर्मित हुआ था।

मिथिला *

राजर्षि जनक के समय में विदेह औपनिषदिक ज्ञान का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। रामायण, महाभारत तथा बौद्ध साहित्य में भी मिथिला के विद्वानों की ख्याति बनी रही। इसका परवर्ती इतिहास कुछ धूमिल-सा लगता है किन्तु १२ वीं शताब्दी के लगभग इसका सांस्कृतिक पुनरुत्थान आरम्भ हुआ। कामेश्वरवंश के राजाओं के शासनकाल में (१३५०-१५१५) मिथिला ने साहित्य के क्षेत्र में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। जगद्धर नामक सुप्रसिद्ध विद्वान ने गीता, देवी महात्म्य, मेघदूत, गीतगोविन्द, मालती-माधव आदि ग्रंथों के भाष्य लिखे। रसिक-सर्वस्व-संगीत-सर्वस्व जैसे कई मौलिक ग्रन्थों की रचना उन्होंने की। शीघ्र ही मैथिल कोकिल विद्यापति की सरस वाणी ने सारे पूर्वी भारत को एक अपूर्व आनन्द-रस में विभोर कर दिया।

किन्तु मिथिला की बहुमुखी प्रतिभा केवल भक्ति तथा शृंगार के क्षेत्र में ही सीमित न रही। मानस जगत के सूक्ष्म विश्लेषण की ओर प्रवृत्त होकर उसने न्याय साहित्य को अपूर्व गौरव-प्रदान किया। १२ वीं तथा पंद्रहवीं शताब्दी के भीतर न्याय शास्त्र के कई प्रकांड पंडित इस भूमि में अवतीर्ण हुए, जिन्होंने न्याय शास्त्र का एक नया स्वरूप उपस्थित किया जो नव्य-न्याय के नाम से विख्यात है। 'नव्य-न्याय' के प्रवर्तक थे पंडित श्री गंगेश उपाध्याय (१०९३-११५०) जिनकी "तत्व चिंतामणि" ने न्याय साहित्य में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। ३०० पृष्ठ की इस पुस्तक के भाष्य में दस लाख से अधिक पंक्तियां लिखी गयी हैं। गंगेश उपाध्याय के पुत्र वर्धमान ने न्याय साहित्य पर ८ पुस्तकें लिखीं। पक्षधर मिश्र, उनके शिष्य वासुदेव मिश्र तथा महेश ठाकुर मिथिला के तीन और विद्वानों ने न्याय साहित्य की और भी श्री

---

* History of Mithila—Manmohan Chakravartee.
History of Nava Nyaya—Manmohan Chakravartee.
History of Indian Logic.—Satishchandra Vidya Bhusan.

वृद्धि की। महेश ठाकुर के शिष्य रघुनन्दन दास राय ने अकबर की आज्ञा से बौद्धिक दिग्विजय के हेतु भारत के कई प्रान्तों में परिभ्रमण कर अपनी अपूर्व योग्यता का परिचय दिया। अकबर ने प्रसन्न होकर मिथिला की सारी जमीन उन्हें जागीर में दे दी। किंतु शिष्य ने इस भूमि को गुरु महेश ठाकुर को गुरु दक्षिणा के रूप में अर्पित कर दिया। इस तरह सुप्रसिद्ध दरभंगाराज का संस्थापन हुआ महेश ठाकुर के द्वारा।

मिथिला के अन्य विद्वानों में शंकर मिश्र तथा वाचस्पति मिश्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने न्याय तथा स्मृति पर कई सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। पदार्थ-चन्द्र नामक वैशेषिक संबंधी एक मौलिक ग्रन्थ चन्द्रसिंह की विदुषी पत्नी महारानी लखिमा देवी की लिखी कही जाती है।

न्याय विद्या के लिये मिथिला की ख्याति भारत में सर्वत्र फैली हुई थी और सभी प्रान्तों से इस विद्या के उच्च अध्ययन के लिये विद्यार्थी यहाँ आया करते थे। मिथिला के स्नातकों की परीक्षा बड़ी कड़ी होती थी तथा इस में उत्तीर्ण होने के पश्चात् ही उन्हें उचित प्रमाण पत्र मिलता था। "शलाका परीक्षा" की पद्धति में किसी हस्तलिखित पुस्तक की पृष्ठों को सूई से भोंक दिया जाता था। जिस पृष्ठ पर सुई की नोंक रुक जाती थी उसी पृष्ठ की व्याख्या छात्र को करनी होती थी। उद्देश्य यह था कि छात्रों को समस्त पुस्तक की पूरी जानकारी रहे ताकि वह इसके संबंध में किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकें।

नदिया

भागीरथी तथा जलांगी के संगम पर अवस्थित नवद्वीप बहुत दिनों तक एक सुप्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। पालवंश के राजाओं का भी यह कृपा-पात्र था। इसके प्रमाण कुछ पुराने मकानों तथा स्तम्भों के ध्वंसावशेष हैं, जो कि सुवर्णविहार ग्राम में आज भी देखे जा सकते हैं। १०६३ ई० में नवद्वीप गौड़ के राजा लक्ष्मण सेन ने इसे अपनी राजधानी बनायी। इसके बाद ही इसकी सांस्कृतिक ख्याति फैलने लगी। लक्ष्मण सेन का राजदरबार विद्या का एक बड़ा केन्द्र था। सुप्रसिद्ध हलायुध राजा के प्रधान मंत्री थे, जिनकी रची कई पुस्तकें कही जाती हैं। ब्राह्मण सर्वस्व, स्मृति सर्वस्व, मीमांसा सर्वस्व इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। हलायुध के ज्येष्ठ भ्राता ने भी पशुपति पद्धति नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। सुविख्यात कवि जयदेव की 'गीत गोविन्द'

भारतीय साहित्य की एक अमूल्य निधि है। धोयी, तथा उमापति दो अन्य सुप्रसिद्ध कवि भी यहीं समुत्पन्न हुए थे। साहित्य के अतिरिक्त न्याय शास्त्र के एक बड़े पण्डित ने "स्मृति-विवेक" नामक ग्रन्थ लिखा था।

सम्भवतः सन् ११९७—११९८ ई० के लगभग बख्तियार खिलजी ने नवद्वीप पर आक्रमण किया।‡ राजा लक्ष्मण सेन ने भाग कर शरण ली। नवद्वीप मुसलिम आधिपत्य में आ गया। किन्तु नदिया का सांस्कृतिक महत्व कम न हुआ, अपितु और भी बढ़ गया। बंगाल के मुसलिम शासकों ने नदिया के सांस्कृतिक जीवन में किसी तरह की रुकावटें न दीं, नालन्दा तथा विक्रमशिला के ध्वंस के कारण नदिया को अपनी समृद्धि के उपयुक्त अवसर मिले।

मिथिला के पंडितों की संकीर्णता भी नदिया के विकास की एक बड़ी प्रेरणा सिद्ध हुई। कहा जाता है कि मिथिला के पंडित अपनी किसी पुस्तक की प्रतिलिपि बाहर ले जाने की अनुमति नहीं देते थे। फलस्वरूप यहां के स्नातकों को प्रमाण-पत्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता था। नदिया के प्रतिभावान छात्र वासुदेव सार्वभौम ने मिथिला में जाकर "तत्त्व चिन्तामणि" तथा "कुसुमांजलि" (पद्य भाग) को घोंक डाला और नदिया वापस लौटकर उसे पुस्तक के रुप में उतार लिया। उन्हीं पुस्तकों के आधार पर वासुदेव के शिष्य रघुनाथ शिरोमणि ने नदिया में न्याय शास्त्र के अध्ययन का एक नया विभाग खोल कर मिथिला का दर्पचूर्ण कर दिया। तब से नवद्वीप न्याय शास्त्र की शिक्षा का एक सुप्रसिद्ध केन्द्र हो गया। मथुरानाथ, रामभद्र तथा गदाधर भट्टाचार्य नदिया के न्याय विभाग के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। इसके आचार्यों की परम्परा हाल तक कायम रही।

न्याय के अतिरिक्त नदिया में स्मृति की उच्च शिक्षा भी होती थी। इस शिक्षा के प्रवर्त्तक रघुनन्दन नामक विद्वान् थे, जिनकी ख्याति १७ वीं शताब्दी में बड़ी थी। तंत्र विद्या का एक विभाग भी नदिया में कृष्णानन्द -वागीश ने खोला था। ज्योतिष शास्त्र का अध्यापन सन् १८१७ ई० में रामभद्र विद्यानिधि ने प्रारम्भ किया था। इस ज्योतिष-विभाग का प्रधान

---

‡Advanced History of India foot-note..2.—P. 279.

A recent writer considers the theory of blochmann that Nadia was captured in A.H. 594-595—A.D. 1197-1198 to be "the most plausible one". Indian Historical Quarterly March 1936.—Ps. 148-51.

उद्देश्य था मुर्शिदाबाद के नवाब तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए 'पत्रा' अथवा 'यंत्री' तैयार करना ।

नदिया विश्वविद्यालय की शिक्षा तीन केन्द्रों में दी जाती थी—नवद्वीप, शान्तिपुर तथा गोपालपाड़ा। राजा द्र के समय में (सन् १६८० ई०) नवद्वीप केन्द्र के छात्रों की संख्या ४ हजार तथा शिक्षकों की संख्या ६०० थी। कोई कोई विद्यार्थी यहां २० वर्ष तक विद्याध्ययन किया करते थे । शिक्षण पद्धति वाद विवाद की पद्धति थी, जिसमें दो शिक्षक किसी प्रसंग पर विवाद प्रारम्भ करते थे । इस विवाद को छात्र ध्यानपूर्वक सुनते तथा स्वयं भाग लेते थे । इस विवाद के सिलसिले में सूक्ष्म प्रश्नों का विश्लेषण होता था ।

विश्वविद्यालय के शिक्षक के लिए न केवल विद्वत्ता आवश्यक थी, बल्कि उसे वाद-विवाद के कला में भी पूर्ण दक्ष रहना पड़ता था। शिक्षक को, नियुक्ति के पहले, इस कला में अपनी योग्यता सिद्ध करनी होती थी।*

कांची—पल्लव राज्य की रागधानी कांची दक्षिण भारत की सबसे प्रमुख सांस्कृतिक नगरी थी । हम देख चुके हैं कि हुएन-त्सांग ने भी स नगरी के दर्शन, अपने भारत भ्रमण में, किये थे। उनके अनुसार यह दक्षिण भारत का सबसे बड़ा शिक्षा-केन्द्र था । तर्क-शास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् वात्सायान, जिन्होंने न्याय भाष्य की रचना की थी, सम्भवतः कांची के ही आचार्य थे । दिङ्नाग ने भी शायद यहीं अपनी क्षिक्षा प्राप्त की थी । पांचवी शती ईस्वी में कादम्ब वंश के मयूर वर्मा उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिये कांची गये थे । वस्तुतः कांची से ही दक्षिण भारत तथा सुदूर पूर्व के भारतीय उपनिवेशों में संस्कृत का प्रसार आ। इस तरह प्राचीन भारत के सांस्कृतिक उन्नयन में कांची का महत्त्वपूर्ण स्थान था ।

---

* R. K. Mookerji—P. 601.

It can be legitimately claimed that Kanchi of the Pallava was the great centre from which the Sanskritisation of the South as well as the Indian colonies in the Far East proceeded.

- Panikkar—A Survey of Indian History—P. 113.

तेरहवाँ अध्याय
मठ-विद्यालय

वौद्ध शिक्षा-पद्धति के विवेचन में हम देख चुके ह कि वौद्ध संघों में शिक्षा की व्यवस्था बहुत पहले हो चुकी थी। वौद्ध संघ केवल धार्मिक संस्था न था, वल्कि लगभग शुरू से ही वह शिक्षा-संस्था भी था। संघों के इस स्वरूप से हिन्दु धार्मिक संस्थाएँ भी प्रभावित हुईं और हिन्दु मन्दिरों तथा मठों में भी शिक्षा आयोजित होने लगी। मन्दिरों में शिक्षात्मक कार्य कब प्रारम्भ हुआ इसका ठीक पता नहीं। सम्भवतः यह बौद्ध संघों के अनुकरण में वहुत पहले ही शुरू हो गया था। किन्तु इस सम्वन्व में निश्चित प्रमाण दसवीं शती ईसवी के बाद ही उपलब्ध होते हैं। इन प्रमाणों में दक्खिन भारत के शिलालेख तथा दानपत्र प्रमुख हैं। इनसे दक्खिन भारत के मठ विद्यालयों का सुव्यवस्थित परिचय प्राप्त होता है। दुर्भाग्यवश उत्तर-भारत के मठ विद्यालयों के सम्वन्ध में कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। अनुमानतः ये सभी सामग्रियां मुसलिम काल में मन्दिरों के विध्वंस के साथ साथ विनष्ट हो गयीं। इन समग्रियों के अभाव में हम केवल इतना अनुमान कर सकते हैं कि दक्खिन भारत की तरह उत्तर भारत में भी सुसंपन्न मठों से संलग्न सुसमृद्ध विद्यालय भी क्रियाशील रहे होंगे। सम्भवतः ये विद्यालय भी दक्खिन भारत के विद्यालयों से विशेष भिन्न न थे। दक्खिन भारत में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर वहां के प्रमुख मठ-विद्यालयों का विवरण नीचे उपस्थित किया जा रहा है।

सलोत्गि——राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के मंत्री नारायण ने सलोत्गि में त्रयीपुरुष का एक मन्दिर सन् ९४५ ई० में बनवाया था। इसी मन्दिर के एक बड़े कमरे में एक विद्यालय भी स्थापित था, जो कि कालान्तर में समस्त भारत में विख्यात हो गया था। देश के सभी प्रान्तों

से यहां विद्यार्थी अध्ययन के लिए आया करते थे। यहां की छात्र-संख्या ठीक ठीक ज्ञात नहीं है, किन्तु यहाँ के छात्रावासों की संख्या २७ थी। जिससे स्पष्ट है कि यहाँ के छात्रों की संख्या काफी रही होगी।

विद्यालय के खर्च के लिए दान के रूप में भूमि अर्पित की हुई थी। खर्च के विभिन्न मदों के लिए विभिन्न दानपत्र थे, जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) छात्रों के भोजन आदि के लिए—५०० निवर्त्तन।
(२) छात्रावास की रोशनी के लिए—१२ ,,
(३) अध्यक्ष के खर्च के लिए— ५० ,,

इनके अतिरिक्त गांव की ओर से विद्यालय को कई प्रकार की आय थी। इनमें प्रमुख ये थी:—

(१) प्रत्येक विवाह के अवसर पर ५ रु०
(२) प्रत्येक उपनयन के अवसर पर— २॥ ०
(३) प्रत्येक चूड़ाकर्ण के अवसर पर— १। रु०

साथ ही, गांव के प्रत्येक भोज में विद्यालय के अधिक से अधिक छात्र तथा शिक्षक आमंत्रित होते थे।

एन्नारियम्—दक्खिन आरकोट जिले में एन्नारियम का सुप्रसिद्ध मठ-विद्यालय ११ वीं शती ईसवी के प्रारम्भ में अवस्थित था। राजेन्द्र चोल प्रथम के एक अभिलेख (सन् १०२३ ई०) में इस विद्यालय का विवरण है। विद्यालय में ३४० विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। यहाँ के शिक्षकों की संख्या १६ थी। विद्यालय में प्रत्येक विषय के अध्ययन के लिए छात्र-संख्या निर्दिष्ट थी। इससे अधिक छात्र किसी विषय के लिए दाखिल न किये जाते थे। प्रत्येक विषय के लिए निम्नलिखित छात्र संख्या निर्दिष्ट थी।

ऋग्वेद के लिए—	७५
यजुर्वेद (शुक्ल)—	७५
सामवेद—	४०
यजुर्वेद (कृष्ण)—	२०
अथर्ववेद—	१०
बौधायन धर्म सूत्र—	१०
वेदान्त—	१०
व्याकरण —	२५

मीमांसा—	३५
रूपावतार—	४०
	३४०

विषयानुसार शिक्षकों का वर्गीकरण इस प्रकार था :—

ऋग्वेद—	३
कृष्ण यजुर्वेद—	३
मीमांसा—	२
अन्य विषय प्रत्येक—	१

विद्यालय के सामान्य खर्च के लिए ४५ वेलि—लगभग ३०० एकड़ भूमि दान में अर्पित की हुई थी। विद्यालय की ओर से विद्यार्थियों के निःशुल्क भोजन का प्रबन्ध रहता था। प्रत्येक वैदिक विद्यार्थी को लगभग १ सेर (६ नालि) चावल नित्य दिया जाता था। उसके अतिरिक्त उसे प्रतिवर्ष $\frac{1}{2}$ तोला ($\frac{1}{2}$ कलन्जु) सोना दिया जाता था। सम्भवतः यह छात्र के कपड़े के खर्च के लिए था। व्याकरण तथा दर्शन के विद्यार्थी को (श्री राधाकुमुद के अनुसार उच्चस्थ विद्यार्थियों को) सामान्य विद्यार्थी से ६६ प्रतिशत अधिक अन्न तथा सोना दिया जाता था।

विद्यालय के शिक्षकों के खर्च के लिए प्रति शिक्षक को १६ सेर (१ कलम) चावल प्रतिदिन दिया जाता था। एक व्यक्ति के एक दिन के भोजन के लिए १ सेर चावल पर्याप्त था। इस तरह विद्यालय की ओर से शिक्षक को १६ व्यक्तियों का भोजन मिलता था। अन्य खर्च के लिये उन्हें भी प्रतिवर्ष १।२ कलन्जु ($\frac{1}{2}$ तोला) सोना मिलता था। वेदान्त के शिक्षक को अन्य शिक्षकों से २५ प्रतिशत अधिक पारिश्रमिक मिलता था। स्पष्टतः वेदान्त की शिक्षा अन्य विषयों की शिक्षा से अधिक कठिन समझी जाती थी। इस तरह, विद्यालय के शिक्षकों का पारिश्रमिक अथवा भत्ता आजकल के सामान्य शिक्षकों की अपेक्षा कहीं अधिक था।

तिरुभुक्कुदल—११ वीं शती में चिंगलेपत जिले में वेकंटेश पेरुमल मन्दिर में एक विद्यालय अवस्थित था, जिसके छात्रावास में ६० विद्यार्थियों के निःशुल्क भोजन का प्रबन्ध था। इन्हें प्रत्येक शनिवार को स्नान के लिए तैल भी निःशुल्क दिया जाता था। छात्रावास के इन ६० जगहों में, १० ऋग्वेद के विद्यार्थियों के लिए निर्दिष्ट थे, १० यजुर्वेद के विद्या-

थियों के लिए, २० व्याकरण के विद्यार्थियों के लिए, १० पंचतंत्र के विद्यार्थियों के लिए, ३ शैवागम के विद्यार्थियों के लिए, ७ वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के लिए ।

यहाँ के शिक्षकों को रान्नाइचरम विद्यालय के शिक्षकों से कम पारिश्रमिक मिलता था । वैदिक शिक्षक को लगभग ३ सेर चावल प्रतिदिन मिलता था । सम्भवतः ये शिक्षक अंश-कालिक के रूप में ही नियुक्त थे । व्याकरण के शिक्षक को ८ सेर चावल प्रतिदिन मिलता था । अनुमानतः ये शिक्षक पूर्ण-कालिक होते होंगे ।

तिरुवोर्रियूर विद्यालय—१३ वीं शती ईसवी में दक्खिन भारत का यह मठ-विद्यालय व्याकरण की शिक्षा के लिए सुप्रसिद्ध था । स्थानीय शिव-मन्दिर के एक विशाल कमरे में यह विद्यालय क्रियाशील रहता था। जनश्रुति के अनुसार स्वयं योगीराज शिव ने इसी मन्दिर में सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि को अपने दर्शन दिये थे तथा उन्हें लगातार १४ दिनों तक अष्टाध्यायी के प्रथम १४ सूत्रों की शिक्षा दी थी । इस शुभ घटना के संस्मरण-स्वरूप इस विद्यालय की स्थापना हुई थी । १९१२ के अभिलेख नं० २०२ के अनुसार विद्यालय को १० वेलि (लगभग ४१० एकड़) जमीन प्राप्त थी। * विद्यालय में सम्भवतः ४५० विद्यार्थी १५–२० शिक्षकों के अन्तर्गत विद्याध्ययन किया करते थे ।† १९१२ के अभिलेख नं० ११० के अनुसार यह विद्यालय १४ वीं शती ई० तक वर्त्तमान था । इस अभिलेख में विद्यालय के खर्च के लिए कुछ विशेष कर निर्दिष्ट थे ।‡

मलकपुरम मठ-विद्यालय—१९१२ के अभिलेख न० ११० में एक ऐसे मन्दिर का विवरण है, जिसमें एक विद्यालय, एक छात्रावास तथा एक अस्पताल भी संलग्न थे । विद्यालय के ८ अध्यापकों में ३ वेद की शिक्षा के लिए नियुक्त थे तथा ५ व्याकरण, साहित्य, न्याय, आगम आदि भौतिक विषयों की शिक्षा के लिए । दक्षिण भारत के विद्यालयों में सामान्यतः एक शिक्षक के अन्तर्गत २० छात्र अध्ययन करते थे । अतः ८ शिक्षक से संबलित इस विद्यालय की छात्र-संख्या अनुमानतः १५० के लगभग रही होगी ।§

* Inscription No. 202 of 1912. (S. I. E. R..)
† Altekar—Education in Ancient India.—P. 136.
‡ Inscription No. 110 of 1912. (S. I. E. R.)
§ Altekar—Education in Ancient India.—P. 137.

इन छात्रों के प्रचलित प्रथा के अनुसार, आवास, भोजन, शिक्षा आदि सभी निःशुल्क उपलब्ध थे ।

यहां के प्रत्येक शिक्षक को २ 'पुट्टि' भूमि दी हुई थी । मन्दिर के सामान्य कर्मचारी जैसे कर्मकार आदि को १ पुट्टि जमीन दी जाती थी । स्पष्टतः शिक्षक का पारिश्रमिक अथवा भत्ता सामान्य कर्मचारी से दुगुना था । विद्यालय के अध्यक्ष का वेतन १०० निश्क था। इस तरह विद्यालय के अध्यापकों का पारिश्रमिक एक सामान्य सुखद जीवन व्यतीत करने के लिये पर्याप्त था ।

उपरोक्त पांच सुप्रसिद्ध मठ-विद्यालयों के अतिरिक्त दक्खिन भारत में अनेक ऐसे मठ-विद्यालय थे, जिनकी जानकारी हमें एकदम नहीं अथवा बहुत कम है । इनमें से कई तो एन्नारियम् मठ-विद्यालय से भी बड़े तथा संपन्न थे । कई छोटे भी थे । ऐसे कुछ विद्यालयों का परिचय मात्र ही उपलब्ध है, जो कि निम्नांकित है ।

१. घरवर जिले के भुन्नावेश्वर मन्दिर में एक विद्यालय संलग्न था, जिसके छात्रों के भोजनादि के लिए २०० एकड़ भूमि दी हुई थी । संभवतः यहां २०० विद्यार्थी विद्याध्ययन करते होंगे ।

२. आधुनिक हैदराबाद राज्य के नगई नामक स्थान में ११ वीं शती ईसवी में एक विशाल मठ-विद्यालय था, जिसमें ५०० से अधिक छात्र विद्याध्ययन करते थे । इन छात्रों में २०० वेद के विद्यार्थी थे, २०० स्मृति के, १०० महाभाष्यों के तथा ५२ दर्शन के । विद्यालय के पुस्तकालय के प्रबन्ध के लिए ६ पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त थे ।

३. श्री योगेश्वर ंडित नामक एक सुप्रसिद्ध विद्वान मीमांसा की निःशुल्क शिक्षा बीजापुर के एक मन्दिर में प्रदान किया करते थे । इनके छात्रों तथा आगन्तुक संन्यासियों के भोजन तथा वस्त्र के लिए ईसवी सन् १०७५ में १२०० एकड़ भूमि प्रदान की गई थी ।

४ तंजोर जिले के पुन्नवायिल नामक स्थान में एक बड़ा मठ-विद्यालय था, जिसमें व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी । विद्यालय के खर्च के लिए ४०० एकड़ भूमि दी हुई थी, जिससे स्पष्ट है कि यहाँ की छात्र-संख्या ५०० के लगभग अवश्य थी ।

५. १२ वीं शती ईसवी में शिमोग जिले के प्राणेश्वर मन्दिर में एक विद्यालय था, जिसमें वेद तथा अन्य विषयों के ४८ विद्यार्थी

निःशुल्क शिक्षा पाते थे । छात्रावास में भोजन बनाने के लिए दो रसोइया नियुक्त थे ।

अग्रहार

दक्खिन भारत, विशेषतः मैसूर, में प्राप्त अभिलेखों से एक विशेष प्रकार के शिक्षा-केन्द्र का पता चलता है, जिसे अग्रहार कहा जाता था। अग्रहार विद्वान ब्राह्मणों की बस्ती होता था, जो शिक्षा-प्रसार के कार्य में संलग्न रहता था । प्रत्येक अग्रहार स्वाश्रयी तथा स्वशासित रहता था । गाँव के विद्वान ब्राह्मणों के भरण-पोषण के लिए राज्य अथवा धनीमानी व्यक्तियों के द्वारा पर्याप्त भूमि दी हुई रहती थी । इस भूमि तथा अन्य बातों का प्रवन्ध अग्रहार के एक 'सभा' के द्वारा होता था, जिसकी कुछ कार्यवाही भी अभिलेख में अंकित पायी जाती है । इस तरह सभी प्रकार की आर्थिक चिन्ताओं से विमुक्त होकर अग्रहार के ब्राह्मण निःशुल्क शिक्षा के वितरण में दत्त-चित्त रहते थे । नीचे दो सुप्रसिद्ध अग्रहारों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है ।

कादिपूर—कर्नाटक के इस अग्रहार में २०० ब्राह्मण परिवार १० वीं शती ईसवी से ही शिक्षा-प्रसार में क्रियाशील था । राष्ट्रकूट राज्य की ओर से इस अग्रहार को पर्याप्त भूमि प्राप्त थी । कुछ शिक्षकों के पारिश्रमिक के लिए भी भूमि दी हुई थी । अग्रहार में न केवल वेद की शिक्षा होती थी, बल्कि व्याकरण, छन्द, तर्कशास्त्र, पुरान तथा राजनीति-शास्त्र आदि विषयों की शिक्षाएँ भी यहां प्रदान होती थीं । साधनहीन विद्यार्थियों के भोजन के लिए अग्रहार में एक निःशुल्क भोजनालय भी संचालित था । दक्खिन भारत के पश्चिम भाग से इस अग्रहार में विद्यार्थी आया करते थे ।

सर्वज्ञपुर अग्रहार—मैसूर के हस्सन जिले में अवस्थित यह अग्रहार, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अपनी विद्या-बुद्धि के लिए चारों ओर विख्यात था। अग्रहार के कोने-कोने से वैदिक ध्वनि गूंजरित होती रहती थी । इसके अतिरिक्त स्मृति, पुराण, छन्द आदि विषयों की शिक्षा भी यहाँ होती थी। यहाँ के सभी ब्राह्मण निष्ठावान तथा सचरित्र होते थे । अपना समय वे अध्ययन-अध्यापन में ही व्यतीत करते थे ।

टोल

बंगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में संस्कृत टोल बहुत प्राचीन काल से ही विद्या-प्रसार के कार्य में संलग्न रहे हैं । अग्रहार बस्तियों की नाईं

टोल को भी भूमि उपलब्ध रहती थी, जिसकी आय से टोल के शिक्षक तथा छात्र दोनों ही का निर्वाह होता था। जिस टोल को ऐसी भूमि प्राप्त नहीं रहती थी, उस टोल के पण्डित अड़ोंस-पड़ोस के धनीमानी व्यक्तियों से चन्दा लेकर अपना तथा अपने विद्यार्थियों के भोजन का प्रबन्ध किया करते थे। सामान्य जनता की ओर से भी उन्हें पर्व-त्योहार, विवाह आदि के अवसर पर कुछ आय हो जाती थी। चाहे, जिस तरह हो टोल के विद्यार्थियों के भोजन का प्रबन्ध उसके पण्डित का ही उत्तरदायित्व था। आज भी टोल लगभग अपने पुराने रूप में ही बंगाल, बिहार तथा उत्तर-प्रदेश में अवस्थित हैं। राज्य-सरकारों की ओर से कतिपय टोलों को वार्षिक सहायता भी मिलती रहती है।

———o———

चौदहवाँ अध्याय

प्राचीन भारत की शिक्षा के गुण-दोष

पिछले अध्यायों में प्राचीन भारत की शिक्षा का इतिहास संक्षेप में वर्णित किया गया है। हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत की शिक्षा एक विशिष्ट उद्देश्य से संचालित रहती थी। यह उद्देश्य था मानव व्यक्तित्व का उच्चतम विकास। इस विकास के दो पहलू थे—एक लौकिक तथा दूसरा पारलौकिक। पहले का लक्ष्य मानव जीवन के समस्त भौतिक संबंधों के सम्यक् परिज्ञान तथा निर्वाह से था; दूसरे का लक्ष्य परम ज्ञान की उपलब्धि था, जिसके द्वारा मनुष्य अपने वैयक्तिक अस्तित्व को पारमार्थिक अखिल विश्व-सत्ता में अन्तर्भूत कर दे। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत के प्राचीन विद्यालय इन्हीं मूल उद्देश्यों की पूर्ति की ओर सचेष्ट रहते थे, ताकि मनुष्य एक सफल एवं सुखमय जीवन व्यतीत करता हुआ भगवत-प्राप्ति अथवा मोक्ष-प्राप्ति कर सके। भारत के प्राचीन विद्यालयों की शिक्षा के उद्देश्य, जैसा कि भ्रमवश बहुधा समझा जाता है, कोरा पंडित अथवा संन्यासी उत्पन्न करना नहीं था, बल्कि एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न करना था, जो कि अपने परिवार, अपने समाज तथा अपने देश को गौरवान्वित कर सके।† वस्तुतः आत्म-ज्ञान की प्राप्ति भौतिक संबंध के विच्छेद में नहीं, अपितु भौतिक संबंध के सम्यक् परिज्ञान एवं निर्वाह में था।

इस तरह भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में भारत के प्राचीन विद्यालयों ने ऐसे ज्ञान आविष्कृत किये जिनके ऋणी आज विश्व के दार्शनिक तथा वैज्ञानिक भी हैं। प्राचीन जगत में भारत को बौद्धिक तथा सांस्कृतिक

---

† Their aim was to produce not mere recluses or scholars but whole men,, ideal house-holders, who would perfect family, society and country.

R. K. Mookerji—Ancient Indian Education—P. 206.

क्षेत्र में जो गौरव प्राप्त था उसका श्रेय भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति को ही है। अपनी विशिष्ट शिक्षा-पद्धति के कारण ही भारत ने सदियों तक न केवल विश्व का सांस्कृतिक नेतृत्व किया, बल्कि उद्योग-धन्धों, कला-कौशल आदि में भी वह अग्रणी रहा। भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की विजय पताका जावा, सुमात्रा, स्याम, चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत, तथा मध्य एशिया के देशों में सहस्रों संवर्ष तक लहराती रही।* भारतीय-कला का आलोक भारत की सीमा में ही आवद्ध नहीं थी, इसकी ज्योति से पूर्वी एशिया के समस्त देश जगमगा उठे थे। वस्तुतः भारतीय-कला के पूर्ण दर्शन भारत के बाहर ही उपलब्ध हैं।† भौतिक ज्ञान के क्षेत्र में भारतीय विद्वानों की ख्याति दूर-दूर देश में फैली हुई थी। अंकगणित, बीजगणित, न्यायमिति औषधि-शास्त्र आदि विषयों में भारत नये ज्ञान का

---

* In the high plateau of eastern Iran, in he oases of Serindia, in the arid wastes of Tibet, Mongolia, and Manchuria, in the ancient civilized lands of China and Japan, in the lands of the primitive Mono and Khemrs and other tribes in Indo-China, in the countries of the Malayo-Polynesians, in Indonesia and Malaya, India left the indeliable impress of her culture, not only upon religion, but also upon art and literature, in a word all the higher things of the spirit.

Rene Grousset—Civilizations of the East—Vol. II, P. 276.

From Persia to the Chinese Sea, from the icy regions of Siberia to the islands of Java and Borneo, from Oceania to Socotra, India has propagated her beliefs, her tales, and her civilization. She has left indeliable imprints an one-fourth of the human race in the course of a long succession of centuries—Syivan Levi quoted in U. N. Ghosal—Progress of Greater India, Research—1917-42.

Referred to in Nehru's Discovery of India—P. 188.

† To know Indian art in India alone is to know but half it's story, to apprehend it to the full, we must follow it in the wake of Buddhism, to Central Asia, China, and Japan, we must watch it assuming new forms and breaking into new beauties as it spreads over Tibet and Burma and Siam, we must gaze in awe at the unexampled grandeur of its creations in Cambodia and Java.

Sir John Mashall....

quoted in....*Ibid*—P. 188.

अन्वेषक तथा नये विचारों का प्रवर्त्तक था । आधुनिक अंकगणित तथा बीजगणित के अंकुर भारतभूमि में ही प्रस्फुटित हुए * । भारत ही के गणितज्ञ ने सर्वप्रथम शून्य (०) संख्या की कल्पना की । गणित शास्त्र के इतिहास में इस संख्या के अन्वेषण तथा निर्धारण से बढ़कर अन्य कोई घटना नहीं †। शून्य की सृष्टि ने गणितज्ञों को अपूर्व शक्ति प्रदान की । इसी तरह दशमलव के अन्वेषण से भी अंकगणित की बड़ी अभिवृद्धि हुई । ज्यामिति के क्षेत्र में भारतीय ऋग्वैदिक युग से ही प्रयत्नशील थे । आपस्तम्ब, बौधायन तथा कात्यायन की कृतियों में त्रिकोण, चतुर्भुज, वर्ग आदि के विवरण हैं । किंतु ज्यामिति के क्षेत्र में भारतीयों की अपेक्षा यूनानी वैज्ञानिक आगे बढ़ गये । गणित तथा बीजगणित में भारतीय उत्तरोत्तर प्रगतिशील होते गये । आर्यभट्ट (५ वीं ईस्वी शती) भास्कर (५२२ ई०), ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०), भास्कर (१११४ ई०) गणित तथा ज्योतिष शास्त्र के ज्वलन्त रत्न हैं । भारत से ही गणित-संबंधी ज्ञान अरब तथा अरब से होकर समस्त यूरोप में प्रसारित हुआ । भारतीय संख्याएँ अरबी भाषा में 'हिन्दसा' के नाम से प्रसिद्ध हुईं, जो कि 'हिन्द' से की पर्यायवाची है । भारतीय विद्यालयों में शिक्षित पाणिनि तथा कौटिल्य की विद्वत्ता तथा प्रतिभा का कायल आज समस्त विश्व है । पाणिनि का व्याकरण "मानव-मस्तिष्क की श्रेष्ठतम कृतियों में एक है" ‡ तक्षशिला के एक ब्राह्मण-विद्यार्थी ने न केवल एक अपूर्व अर्थशास्त्र की रचना की, बल्कि वह एक सफल राजनीतिज्ञ हुआ, जिसने एक विशाल साम्राज्य की संस्थापना की । औषधि-शास्त्र में भारतीय चिकित्सकों ने अपूर्व क्षमता उपलब्ध की थी ।

---

* The foundations of modern arithmatic and Algebra were laid long ago in India

† No single mathematical creation has been more potent for the general on-go of intelligence and power.

G. B. Halsted quoted in History of Indian Mathematics by B. Dutta and A. N. Singh.

‡ One of the greatest productions of human mind—Prof. Th. Stecherbatsky—Nehru—P. 97.

भारतीय चिकित्सक बगदाद में पूर्णतः सम्मानित थे । मनक तथा ६ अन्य भारतीय वैद्य वहां बस ही गये थे ।

जहां तक नैतिक गुणों का संबंध है, भारतीय जनता विदेशी ऐतिहासिकों तथा परिव्राजकों के द्वारा सर्वदा प्रशंसित होती आयी है । वे ऐतिहासिक तथा परिव्राजा विधर्मी भी थे, जिन्हें भारतीयों से किसी प्रकार का प्राकृतिक मेल-जोल न था, जिसके कारण वे प्रशंसात्मक शब्द लिखने के लिए प्रेरित हुए हों। ई० पू० ३०० वर्ष पहले ग्रीक-राजदूत मेगास्थनीज ने लिखा था "किसी भारतीय को झूठ बोलने का अपराध न लगा । सत्यवादित तथा सदाचार उनकी दृष्टि में बहुत ही मूल्यवान वस्तुएँ हैं"* स्ट्राबों ने मेगास्थनीज की पुष्टि करते हुए लिखा है "किसी प्रकार की धरोहर रखने में गवाहों तथा मुहरों की जरूरत नहीं होती । लोगों का पारस्परिक विश्वास ही पर्याप्त है । भारतीयों को अपने घरों की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती" । ७ वीं शती ईसवी में हुएन-त्सांग ने भारतीय चरित्र का विश्लेषण करते हुए कहा था "भारतीयों का आचरण निर्मल होता है । अनाधिकार रूप में वे किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करते तथा दूसरों की तुष्टि के लिए आवश्यकता से अधिक विनम्र होते हैं । भारतीय धोखेबाजी नहीं करते तथा अपने वचन का पूर्ण निर्वाह करते हैं"† ११ वीं शती ईसवी में अल-इद्रिस नामक एक मुसलिम अरब भौगोलिक ने कहा था "भारतीय स्वभावतः न्याय-प्रिय होते हैं, न्याय-पथ से वे कभी भी विचलित नहीं होते । उनकी विश्वासपात्रता, उनकी ईमानदारी, उनकी वफादारी सुप्रसिद्ध हैं । इन गुणों के कारण उनके देश में चारो ओर से लोग जुटे रहते हैं । "‡ १२ वीं शती ई० में मार्कोपोलो ने पश्चिम भारत के ब्राह्मण-व्यापारियों के सम्बन्ध में कहा था "ये ब्राह्मण संसार के सबसे कुशल व्यापारी हैं । साथ ही, ये सबसे अधिक सच्चे भी हैं । संसार की कोई भी वस्तु उन्हें सत्य से विचलित नहीं कर सकती । विदेशी व्यापारियों का माल ये, अपने ही माल की तरह, बड़ी सावधानी से रखते हैं तथा इनके विक्रय में अधिकतम लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं । अपने श्रम का कोई भी कमीशन ये नहीं चाहते, केवल उतना ही प्रसन्नता से ग्रहण

---

* Megasthenes-Fragment—P. 35.
† Watters—Travel....1,—P. 17.
‡ Elliot—"History of India" Vol. I.—P. 88.

करते हैं, जो कि विदेशी व्यापारी स्वेच्छा से देते हैं ।" * ऐसा था भारतीय व्यापारियों का आचरण । सामान्य भारतीयों के नैतिक स्तर का अंदाज हम लगा सकते हैं । इब्न-बतूता ने देवगिरि के मराठे के संबंध में लिखा है "वे स्पष्ट, धार्मिक तथा विश्वासपात्र हैं ।"†

इन प्रमाणों के आधार पर हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा पद्धति ने भारतवासियों का नैतिक-स्तर बहुत ही ऊँचा उठा रखा था ।‡

सामाजिक क्षेत्र में भारतीय शिक्षा-पद्धति ने प्रतिष्ठित मान्यताओं को व्यवस्था तथा सम्बल प्रदान किया । प्राचीन शिक्षा-पद्धति में वैयक्तिक उत्कर्ष सामाजिक मान्यताओं की आधारभूमि पर ही पल्लवित होता रहा । प्राचीन विद्यालयों में शिक्षित प्रत्येक गृहस्थ अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों से पूर्णतः परिचित रहता था, तथा इसके सम्यक् निर्वाह में ही वह अपने वैयक्तिक उत्कर्ष की परिणति पाता था । अपने परिवार, अपने ग्राम, अपने समाज, अपने व्यावसायिक समुदाय के दायित्वों की पूरी परख प्राचीन भारत के नागरिक को रहती थी । इन दायित्वों की उपेक्षा वह एक क्षण के लिए भी नहीं कर सकता था । वस्तुतः प्राचीन भारत की सांस्कृतिक समृद्धि की तह में यहाँ की सामाजिक सुव्यवस्था थी, जो कि देश की विशिष्ट शिक्षा-पद्धति के द्वारा निरन्तर परिपुष्ट होती रहती थी । £ प्राचीन भारत के विद्यालय छात्र को उसके सामाजिक जीवन से पृथक् नहीं करते थे, अपितु उसे संयोजित करते थे । शिक्षा सामाजिक विश्रृंखलता की पर्यायवाची नहीं, अपितु सामाजिक सुव्यवस्था की पर्यायवाची थी । अस्तु प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में व्यक्ति और समाज के वैषम्य का प्रश्न ही न था ।

भारतीय शिक्षा के धार्मिक शिलाधार के कारण कालान्तर में भारतीय शिक्षा रूढ़ीवादी तथा प्रगतिहीन हो गई । भारत की जिन विशिष्ट सामाजिक व्यवस्थाओंने भारतीय शिक्षा को सुदृढ़ आधार प्रस्तुत किया था, उन्हीं व्यवस्थाओं

* Yule, Marco Polo—Vol. II—P. 363.

† Iobn Battuta—P. 228.

‡ The educational system of the country had succeed ed remarkably in the ideal of raising in the national charecter.
Altekar—Education in Ancient India—P. 246 .

£ It was the success of the educational system in promoting social efficiency, which enabled Hindu Society to be in he vanguard of the march of civilization for several centuries.

Altekar—Education in Ancient India—P. 249.

में इसके विनाश के किटाणु छिपे थे ।† भारतीय शिक्षा के विशिष्ट शिक्षा दर्शन, धार्मिक रूढ़िवादिता तथा संकीर्णता के फलस्वरूप कलुषित तथा अप्रतिभ हो गए । जिन विशिष्ट अध्यात्मिक भावनाओं ने भारतीय शिक्षा का सुन्दर स्वरूप चित्रित किया था, वे ही भावनाएँ परवर्ती धर्माचार्यों के द्वारा विकृत होकर भारतीय शिक्षा को निस्तेज तथा जड़वत बनाने लगी। धर्म की उर्बरा भूमि पर लहलहानेवाली शिक्षा-लतिका जीवन और आर्द्रता से वंचित होकर स्वभावतः शुष्क तथा वृद्धिगत हो गई । चेतना-शून्य सी होकर यह अपनी जीवन-रक्षा के निमित्त अधोगामिनी होने लगी । जबतक धर्म भारतीय समाज की भौतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं को संगुफित करता रहता, जब तक धार्मिक मान्यताओं में लोक तथा परलोक "अर्थकाम तथा धर्म मोक्ष" का समन्वय होता रहा, तब तक शिक्षा मानव जीवन के लोकिक तथा आध्यात्मिक पक्षों की पूर्ति सुन्दरतापूर्वक करती रही । धर्म के अलौकिक स्वरूप के एकांगीकरण के कारण शिक्षा के विषय स्वभावतः प्रगतिहीन हो गये । इस का प्रभाव भारतीय शिक्षा-पद्धति में पर ो रूपों में घातक पड़ा । एक तो शिक्षा के विषय पारलौकिक विषयों से ही अधिक सम्बन्धित होने लगे : भौतिक विषयों के अध्ययन तथा अध्यापन की ओर से भारतीय विद्यालय उदासीन से रहने लगे । तिहास अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, गणित ज्योतिष आदि भौतिक विषयों की उपेक्षा होने लगी । वाणिज्य व्यवसाय, उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित शिक्षाएँ भी रूढ़िवादी हो गयीं । अपने व्यावसायिक समुदाय के कुछ बंधी-बंधायी लीकों पर ही व्यावसायिक ज्ञान संचरित होने लगे । औद्योगिक क्षेत्र में नये अन्वेषण, नयी उद्भावनाएँ, नयी सृष्टियां लगभग शून्यवत् हो गयीं ।

इससे भी अधिक हानि भारतीय मस्तिष्क के शैथिल्य के कारण हुआ । धार्मिक लीक-बंदी के कारण भारतीय शिक्षा-पद्धति शास्त्रीय बातों के अनुसरण में ही अधिकाधिक लग्नशील रहने लगी । लगभग ७ वीं शती के अन्त होने के पश्चात् वेद के अतिरिक्त स्मृतियां तथा पुराण भी ब्रह्म वाक्य के रूप में गृहीत होने लगे । सभी परवर्ती दार्शनिक तथा पण्डित अपने विचारों की कसौटी उन्हीं ग्रन्थों को मानने लगे । वे ही बातें सही तथा मान्य समझी जाने लगीं, जो कि किसी न किसी रूप में वेद, स्मृति अथवा पुराणों से

† For all its virtues and the stability it had given to Indian society, it carried within it the seeds of destruction.

2. Nehru—Discovery of India—P. 204.

सम्बन्धित तथा अनुमोदित हो सकती थीं। शंकर तथा रामानुज जैसे स्वतन्त्र एवं निर्भीक विचारकों को भी यह सिद्ध करने के लिए काफी श्रम करना पड़ा कि उनके दार्शनिक सिद्धान्त भी औपनिषदिक तत्व-ज्ञान से ही प्रस्फुटित थे। भारतीय मस्तिष्क की इस परतंत्रता का फल स्वभावत: देश की सांस्कृतिक गतिविधि पर बहुत ही बुरा पड़ा। लगभग सभी क्षेत्रों में भौतिक चिन्तन तथा नवीन उद्‌भावनाएँ कुण्ठित सी हो गई। विद्वानों की सारी चेष्टाए पुरानी कृतियों के भाष्य तथा उनसे सम्बन्धित निबन्धों की सृष्टि में ही केन्द्रीभूत रहने लगी। प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित तथ्यों तथा मान्यताओं के विपरीत जाने की हिम्मत किसी भी विद्वान् में न रह गई। कई पौराणिक बातों के मिथ्यात्व पूर्णत: सिद्ध हो जाने पर भी, इतनी हिम्मत किसी पण्डित में न थी कि वह इसका विस्फोट करे। उदाहरणार्थ, आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, बराह मिहिर तथा भास्कराचार्य जैसे ज्योतिष के विद्वानों को चन्द्रग्रहण के वास्तवि कारण का पूर्ण परिज्ञान था, किन्तु पुरानों में प्रतिपादित राहु-केतू के सिद्धान्त को असत्य ठहराने की साहस वे न कर सके थे। ब्रह्मगुप्त ने तो आर्यभट्ट तथा बराहमिहिर आदि को उनके नये सिद्धान्तों के लिए घोर निन्दा भी की है यद्यपि उन्हें स्वयं भलीभांति ज्ञात था कि राहु-केतू सिद्धान्त सर्वथा गलत है। भारतीय चिन्तन की परवर्ती परांगमुखता तथा भीरूता के कारण ग्रहण सम्बन्धी राहु-केतु का सिद्धान्त भारतीय जनसामान्य में आज भी प्रतिष्ठित है।*

भारतीय मस्तिष्क के शैथिल्य का एक बड़ा कारण यह भी था कि लगभग ५०० वर्षों (छठी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी) तक भारत वाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहा।† इतनी लम्बी अवधि तक संसार का कोई भी देश खतरों से निश्चिन्त न रहा है। इस निश्चिन्तता का प्रभाव भारतवासियों पर

---

* If the Rahu-Ketu theory of eclipses has continued to retain its hold over the popular mind for the last 1,500 years and more inspite of the scientific discovery of eclipses the reasion is that Hindu scholarship of later times was too much in the leading strings of religion to carry an active propaganda against its hypothes.

Altekar—Education in Ancient India.—P. 254.

† No known country was isolated from the rest of the world for so long a time as India was for five hundred years.

Panikkar—Survey of Indian History—P. 131.

कई रूपों में घातक पड़ा। निरन्तर जागरूकता तथा क्रियाशीलता जो कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए आवश्यक है, भारतीय चरित्र से लुप्त सी हो गयीं। वाह्य दुनिया के संसर्ग बन्द हो जाने के कारण, भारतीय विद्वान् अहंकारी तथा दम्भी हो गये। कूप-मंडूक की तरह वे अपने पांडित्य को ही ज्ञान की परिणति मानने लगे। अल बरूनी के शब्दों में हिन्दुओं का यह दृढ़ विश्वास है कि "उनके देश के जैसा दूसरा देश नहीं, उनके राष्ट्र के जैसा दूसरा राष्ट्र नहीं, उनके राजाओं के जैसे दूसरे राजा नहीं, उनके धर्म के जैसा दूसरा धर्म नहीं, उनके विज्ञान के जैसा दूसरा विज्ञान नहीं"।* भारतीय पण्डितों का दम्भ इस पराकाष्ठा को पहुँच गया था कि वे विदेशी विद्वानों के साथ साहित्य तथा विज्ञान की चर्चा भी हेय मानने लगे थे। किन्तु, ५वीं शती ईसवी के प्रारम्भ में बराहमिहिर ने यवनों के सम्बन्ध में कहा था कि "यवन म्लेच्छ हैं, किन्तु वे ज्योतिष में दक्ष हैं, अत: ऋषि-सदृश्य सम्मान तथा पूजा के पात्र हैं।"† ५वीं एवं ७ वीं शती ईस्वी तक न जाने कितने विदेशी विद्वान भारत में समादृत हुए, उनके साथ तर्क-वितर्क करने में भारतीय विद्वानों ने किसी प्रकार का संकोच न अनुभव किया। किन्तु ११वीं शती में भारतीय मस्तिष्क की विनम्रता तथा उत्सुकता संकीर्णता तथा दम्भ में परिणत हो गई थीं। वाह्य संसर्ग के अभाव में हिन्दू समाज भी रूढ़िवद्ध हो गया था। प्रारम्भिक हिन्दू समाज ने अनेकानेक यवनों तथा हुणों को अपने विशाल बाहु में सहर्ष स्वीकृत किया था। किन्तु १० वीं शती के बाद हिन्दू-समाज की यह उदारता सर्वथा विनष्ट हो गई। इस तरह, १० वीं शती के पश्चात् के भारतीय वाह्य दुनिया के संसर्ग से रहित होने के कारण प्रगतिहीन तथा अप्रतिभ हो गये।‡ सभ्यता तथा संस्कृति जड़वत हो गई। विकास

---

* Alberuni—I, Pp. 22-23.

† म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत्तेपि पूजयन्ते। वृहतसंहिता।

‡ Completely insular in ideas, without any knowledge of what was happening in the rest of the world, the Indian people ceased to grow, civilization became decadent and inbred for lack of fertilising contacts with dissimilar cultures. Society became static and the systematization of previous ages, which were more academic than real at the time of their conception like Chaturvarna—the four castes—and food and drink taboos came to be accepted as divine regulations

की प्रेरणा न पाकर भारतीय बौद्धिकता पतनोन्मुख हो गयी। पतन की प्रवृत्तियां धर्म, साहित्य, कला सभी में परिलक्षित होने लगी।

धार्मिक क्षेत्र में देवदासी प्रथा तथा यौगिक वाम-मार्ग जनसामान्य की नैतिकता को विश्रृंखल कर रहे थे। साहित्य के क्षेत्र में बाण जैसे महाकवि भी साहित्यिक आदर्शों की पूर्ण सुरक्षा न कर सके थे। माघ तथा हर्ष में साहित्यिक स्तर और भी नीचे गिर गया। परवर्ती काव्य-साहित्य में योन-चित्रण तथा भ्रष्टाचारों के विशद वर्णन ही कवियों के प्रधान विषय हो गये। वास्तु कला में एल्लोरा, खजुराहो तथा भुवनेश्वर की परम्परा लुप्त-सी होने लगी। शिल्पकला के इन सुन्दरतम कृतियों के स्थान में पत्थरों पर नैतिक भ्रष्टाचार चित्रित होने लगे।

उपर्युक्त परिस्थितियों में, भारतीय मस्तिष्क की सृजनात्मक शक्ति लगभग विलुप्त हो गई। ऐसा लगता था, मानो सैकड़ों वर्ष के अथक परिश्रम के बाद भारतीय मस्तिष्क श्रान्त सा हो गया था, ऐसा लगता था मानो पूर्वार्जित निधियां कुछ इतनी बड़ी हो गई थीं कि उनके संरक्षण के अतिरिक्त नवीन संग्रह संभव ही न था। ऐसे संक्रान्ति-काल में भारतीय विद्यालय नयी दिशा का संकेत न कर सके, नये युग का आह्वान न कर सके। किन्तु, इसमें वस्तुतः शिक्षा-पद्धति का दोष नहीं। ऐतिहासिक प्रभावों से शिक्षा कैसे अछूती रह सकती थी। समाजिक गतिहीनता, धार्मिक रूढ़िवादिता, विदेशी आक्रमण, आदि मिले-जुले परिस्थितियों के वशीभूत होकर भारतीय चेतना हतप्रभ सी हो गई थी। भारतीय चिन्तन में एक नई स्फूर्ति, एक नये झकझोर की आवश्यकता थी, जो कि प्रादुर्भूत न हो सकी। देश की राजनीतिक अधोगति के कारण उपयुक्त अवसर बहुत दिनों तक स्थगित रहे। दसवीं शती ईसवी के पश्चात् भारतीय शिक्षा सर्वथा शिथिल हो गई। देश के नवनिर्मित मठ-विद्यालय, विशेषतः दक्षिण भारत में, उच्च शिक्षा के अवसर प्रदान करते रहे। किन्तु इनके शिक्षण के द्वारा भारत में वे विभूतियां निर्मित नहीं हो सकी, जो कि तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला तथा रांची के द्वारा निर्मित हुई थीं। वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक प्रयोग निरन्तर उपेक्षित होने लगे। चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन में शल्य-क्रिया, जो कि प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, भारतीय विद्या-

---

and conformed to with a rigidity which would have surprised Manu & Yajnavalkya.

* Panikkar—A Survey of Indian History—P. 131.

लयों से निष्कासित सा हो गया । अहिंसा के विकृत दृष्टिकोण के कारण चीर-फाड़ की क्रियाएँ अधार्मिक समझी जाने लगी थीं । फलतः चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन एकांगी तथा निष्प्राण हो गया । जातिगत रूढ़ियों के कारण हस्तकला के विषय हेय समझे जाने लगे थे । समाज की कुदृष्टि वर्ण के लोगों के साथ साथ उनके व्यवसाय पर भी पड़ने लगी थी । चूंकि वैश्य तथा सूद्र-ब्राह्मण-क्षत्रियों की अपेक्षा निम्न थे, इसलिए उनके व्यवसाय भी निम्न तथा घृणास्पद थे । इस तरह भारतीय दृष्टिकोण में हाथ के कार्यों के प्रति उस अश्रद्धा तथा हेय भावनाओं का उदय हुआ, जो उच्च वर्णों के अभिशाप के रूप में आज भी प्रतिष्ठित है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि लगभग १५०० वर्ष तक भारतीय शिक्षा-पद्धति प्रगतिशील रहकर भारतीय समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्त्ति भलीभांति करती रही । व्यापकता तथा सौष्ठव दोनों ही के विचार से भारतीय शिक्षा पद्धति अत्यन्त ही समुन्नत थी । हम देख चुके हैं कि उपनिषद् तथा सूत्र काल में जन-सामान्य में शिक्षा का पूर्ण प्रसार था ।१ सूत्र काल में तो ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य तीन वर्णों के लिए शिक्षा अनिवार्य थी ।२ बौद्धधर्म के द्वारा शिक्षा प्रसार की गतिविधि को और भी सम्बल मिला । बोलचाल की भाषाओं के प्रयोग के द्वारा बौद्ध काल में जन सामान्य की साक्षरता को बड़ा प्रश्रय मिला । यह कहा जा चुका है कि २री ३री शती ईसवी में भारत की साक्षरता ८० प्रतिशत थी । शिक्षा का द्वार स्त्रियों के लिए भी बहुत दिनों तक पूर्ण रूप से खुला हुआ था । दलित तथा सुद्र वर्ण के लोग भी शिक्षाग्रहण के पूर्ण अधिकारी थे । केवल वैदिक शिक्षा उनके लिए वर्जित थी, वह भी सैद्धान्तिक रूप में । व्यवहारतः ये वैदिक उपदेशों को ग्रहण करते तथा लाभ उठाया करते थे । जहां तक पाठ्य-विषयों का सम्बन्ध है, प्राचीन भारत के विद्यालयों में लगभग सभी ज्ञात विषयों की उच्चत्तम शिक्षा प्रदान की जाती थी । विशेषीकृत शिक्षा प्राचीन भारत में अपने परमोत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी । विषयों के अध्यापन सुयोग्य शिक्षकों के द्वारा सुन्दर ढंग से सम्पादित होती थी । लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक भारतीय विद्यालयों से अनेकानेक छात्र पूर्ण पण्डित होकर निकलते रहे, जिनकी विद्वता तथा जिनके मौलिक विचारों ने विश्व को चकाचौंध कर दिया था । दर्शन, साहित्य, गणित, विज्ञान, औषधि आदि कई क्षेत्रों में भारतीय विद्वान आज भी जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में प्रतिष्ठित हैं । औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र

में पारिवारिक विद्यालयों में उद्योग-सम्बन्धी विशेषीकृत शिक्षा उच्चतम स्तर पर प्रतिष्ठित थी। अपनी विशिष्ट शिक्षा के कारण ही भारत अपने उत्पादन द्वारा न केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा, बल्कि अन्य देशों में भी इसके औद्योगिक उत्पादन सम्मानपूर्वक स्वीकृत होते रहे। कपड़े की कारीगरी में तो भारत का अद्वितीय स्थान था। भारतीय शिक्षा के ह्रास के पश्चात् भी बहुत दिनों तक भारत की औद्योगिक निपुणता कायम रही। १३ वीं शती ईसवी में मार्कोपोलो ने दक्षिण भारत के कपड़ों की बुनावट के सम्बन्ध में लिखा था—"यह मकड़े की जाल की तरह सूक्ष्म होता है"।[१] शाही महलों की रूपसियों की यौवन श्री को निखार देनेवाली जड़ीदार रेशमी शताब्दियों तक भारतीय कारीगर की कुशल उँगलियों से निर्मित होती रही। ढाका का सुविख्यात मलमल शताब्दियों तक भारतीय कारीगरों के हस्तलाघव तथा व्यावसायिक नैपुण्य को प्रतिबिम्बित करता रहा। सहस्रों वर्षों से भारत भूमि में जमे हुए ये प्राथमिक उद्योग, जो कि गृह-शिक्षा के द्वारा निरन्तर संवलित होते रहते थे, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निर्मम प्रहारों के पश्चात् ही मृत किये जा सके। अपने प्रिय उद्योग के विनाश के फलस्वरूप हजारों कारीगर बेकार होकर अन्ततः काल-कवलित हुए। लार्ड विलियम बेन्टिक के शब्दों में "बुनकरों की अस्थियों से भारत के मैदान आच्छादित हो गये थे।"[२] दुर्भाग्यवश, भारत की विशिष्ट शिक्षा-पद्धति धार्मिक रूढ़िवादिता के कारण गतिहीन तथा जड़वत हो गई। भारतीय शिक्षा को जीर्ण बनानेवाली विध्वंसक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा चुका है। देश की शिक्षा पद्धति में एक और भी विनाशकारी प्रवृत्ति क्रियाशील हो रही थी। वह थी शिक्षण-पद्धति में बोलचाल की भाषा का निष्कासन। जबतक संस्कृत मातृभाषा की आवश्यकताओं की पूर्ति करती रही, तब तक भारतीय शिक्षा का वृत्त स्वभावतः विस्तीर्ण रहा। संस्कृत के पुस्तक-बद्ध हो जाने से भारतीय विद्यालय एक

---

1. He also mentions the very fine muslins, which "look like tissues of spider's web".

Nehru—Discovery of India—P. 217.

2. 'The misery hardly finds a parallel in the history of commerce. The bones of the cotton weavers are bleaching the plains of India."

Lord Bentinck quoted in Nehru—Discovery of India —P. 277.

अप्राकृतिक भाषा को अपने शिक्षण का माध्यम बनाते रहे। ऐसी परिस्थिति में भारतीय शिक्षा विशिष्ट वर्ग की शिक्षा मात्र रह गई। *

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय शिक्षा की परवर्ती एकांगिकता तथा गतिहीनता परिस्थित-जन्य थी; स्वतः प्रादुर्भूत नहीं। प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति उन सिद्धान्तों पर आधारित थीं, जो आज भी सर्वमान्य हैं। अतः, प्राचीन काल में, भारतीय शिक्षा पद्धति की उपलब्धियां प्रशंसनीय रही। संक्षेप में इन उपलब्धियों का विवेचन किया जा चुका है। इन उपलब्धियों को दृष्टि में रखते हुए यह मानना पड़ता है कि प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति ने भारत तथा विश्व को जो भी दिया वह शिक्षा के इतिहास के लिये गौरव का विषय है। इस शिक्षा-पद्धति के सामान्य सिद्धान्त—बौद्धिक स्वतन्त्रता, छात्रों की वैयक्तिक देखरेख, बालचट प्रणाली, गुरुकुल आदर्श, सादा रहन उन्नत विचार, जनशिक्षा, सांस्कृतिक तथा औद्योगिक शिक्षा का सम्मिश्रण, शिक्षा-संस्थाओं का शान्त स्थान में आयोजन—अत्यन्त उपयोगी है। उचित संशोधन के साथ इन सिद्धान्तों के प्रयोग से आज भी शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है।" †

---

* Altekar—Ancient Indian Education—P. 261.

† The general principles, which underlay the system—e.g., intellectual freedom, individual attention to student, the monitarial system, gurukul ideal, plain living and high thinking, mass education, combination of useful and liberal education, the locatng of educational institutions away from the din and dust of city life etc.—are inherently sound and capable of yielding excellent results even in modern times, if applied with due regard to changed circumstances.

Altekar—Education in Ancient India.—P. 265

खंड–२

मध्य काल

पहला अध्याय
मुसलिम शिक्षा पद्धति
सामान्य परिचय

ईस्वी सदी सातवीं के प्रारम्भ में अरब देश में एक नये धर्म का उदय हुआ, जो कि इस्लाम के नाम से विख्यात हुआ। इस धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद थे। इस्लाम धर्म के अनुयायी मुसलमान कहलाये। अपने आविर्भाव के कुछ ही दिन बाद इस्लाम का प्रभुत्व दुनिया के एक बड़े भाग पर कायम हो गया। सन् ७११ ई० तक मुस्लिम साम्राज्य अतलांतिक के पूर्वी किनारे को स्पर्श करता हुआ चीन की पश्चिमी सीमा तक विस्तृत हो गया था।

आठवीं सदी ईस्वी के प्रारम्भ में मुसलमानों के आक्रमण भारत पर भी शुरू हो गये। सन ७१२ ई० में मुहम्मद-बिन-कासिम के नेतृत्व में अरबों ने सिन्ध को जीत लिया। किन्तु इसके आगे वे न बढ़ सके। गुर्जर राजा नागभट्ट ने अरबों की एक विशाल सेना को बुरी तरह हरा दिया, जिसके फलस्वरूप भारत लगभग २७५ वर्षों तक मुसलिम आक्रमणों से बचा रहा।*

अरबों की सिन्ध विजय का प्रभाव भारतीय राजनीति पर नहीं के बराबर पड़ा।† हाँ, भारतीय साहित्य तथा संस्कृति से मुसलिम जगत अत्यन्त प्रभावित हुआ। हम कह चुके हैं कि सिन्ध विजय के पश्चात् अनेक भारतीय विद्वान बगदाद आमंत्रित हुए थे, तथा अनेक भारतीय ग्रन्थों का

* He crushed the mighty hosts of the Mlechhas, those foes of godly deeds.—Baladitya, quoted in Panikkar's "A Survey of Indian History"—P. 140.

† An episode in the history of India asd Islam, a triumph without results—Lanepoole—quoted in Advance History of India—P. 275.

अरबी में अनुवाद हुआ था । अरबों के द्वारा भारतीय ज्ञान-विज्ञान का प्रसार यूरोप के देशों में भी हुआ ।

अरबों के आक्रमण के लगभग ३०० वर्ष बाद तक भारत में मुसलमानों का कोई भी महत्त्वपूर्ण आक्रमण न हुआ । इनका दूसरा आक्रमण दसवीं सदी के अन्त में गजनी की ओर से शुरू हुआ । वहाँ का शासक सुबुक्तगीन ने सीमान्त के शाही राजा जयपाल को हराकर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया । सुबुक्तगीन के लड़के सुल्तान महमूद ने भारत पर कई चढ़ाइयाँ कीं, जिनमें सोमनाथ की चढ़ाई सन् (१०२४ ई०) सब से प्रसिद्ध है । इन आक्रमणों में भारत के अनेक नगर ध्वंस कर दिये गये, सुन्दर-सुन्दर इमारतें मिट्टी में मिला दी गयीं तथा यहाँ से विपुल धनराशि गजनी ले जायी गई । किन्तु, महमूद के आक्रमण का उद्देश्य भारत की सम्पत्ति को लूटना था । अतः पंजाब के सिवा, उसने भारत के किसी प्रान्त को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न न किया । यद्यपि महमूद ने भारत में मुसलिम राज्य की स्थापना न की, फिर भी उसने परवर्ती आक्रमणकारियों के लिये पंजाब होकर भारत आने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।* सुल्तान महमूद के लगभग १६० वर्ष बाद गजनी की गद्दी पर एक महत्वाकांक्षी शासक मुहम्मद गोरी आरूढ़ हुआ। सन ११९१ ई० में उसने भारत पर अपना पहला आक्रमण किया । किन्तु, चौहान वीर पृथ्वीराज ने उसे बुरी तरह हरा दिया । दूसरे ही वर्ष मुहम्मद गोरी ने उसी तराइन के मैदान में पृथ्वीराज को हराकर भारत में मुसलिम राज्य का बीजारोपण किया। सन् ११९४ ई० में उसने कन्नौज के राजा जयचन्द को हरा दिया और भारत में अपनी सत्ता सुदृढ़ बना ली। इसके सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक तथा बख्तियार खिलजी ने भारत के अन्य प्रान्तों को अपने वश में किया। बख्तियार खिलजी ने, बिहार तथा बंगाल की विजयों में, भारतीय शिक्षा को भारी क्षति पहुँचाया, जिसका उल्लेख हम आगे भी करेंगे ।

सन् १२०६ ई० में मुहम्मद गोरी की मृत्यु हो गई । उसके बाद कुतुबुद्दीन ऐबक मुहम्मदगोरी के भारतीय राज्य का स्वामी हुआ । सन् १२०६ ई० से सन् १५२६ ई० तक भारत में दिल्ली सुल्तानों का राज्य रहा । इस अवधि में पांच राजघरानों ने शासन किया, जो कि गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद तथा लोंदी के नाम से भारतीय इतिहास में विख्यात

* Panikkar—A Survey of Indian History—P. 145.

हैं। सन् १५२६ ई० में तैमूरलंग के वंशज बाबर ने लोदी वंश के शासक इब्राहिम लोदी को पानीपत की पहली लड़ाई में हराकर भारत में मुगल राज्य की स्थापना की। लगभग ३० वर्षों तक नवागत मुसलमानों तथा अफगानों में भारत के आधिपत्य के लिये संघर्ष चलता रहा। इस बीच में बिहार (ससराम) के शेरशाह ने कुछ दिनों तक मुगलों के हाथ से दिल्ली छीन लिया और सूर साम्राज्य की स्थापना की। सन १५५६ ई० में पानीपत की दूसरी लड़ाई में मुगलों ने अफगानों पर अन्तिम विजय पायी। इस विजय ने भारत में मुगस राज्य को सुदृढ़ कर दिया। औरङ्गजेब के समय (सन् १७०६ ई०) तक यह साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर रहा। उसकी मृत्यु के बाद इसका पतन प्रारम्भ हो गया और भारत में मुगल सत्ता नाम-मात्र की रह गयी। सन् १८५८ में अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह को, सन् १८५७ की क्रान्ति में भाग लेने के अपराध में, अंग्रेजों ने गद्दी से उतार दिया और रंगून भेज दिया। भारत से मुगल सत्ता का नामोनिशान मिट गया।

इस तरह, भारत में मुसलिम आधिपत्य लगभग साढ़े ६ सौ (१२०६-१८५८ ई०) वर्षों तक कायम रहा। इस लम्बी अवधि में लगभग ३२५ वर्षों तक अफगानों ने राज्य किया और लगभग ३२५ वर्षों तक मुगलों ने। अफगानों के पांच राजवंशों का उल्लेख किया जा चुका है। मुगलों का राज्य इसके संस्थापक बाबर के वंशजों के ही अधीन रहा। इन ६५० वर्षों के बीच की भारतीय शिक्षा का इतिहास अगले पृष्ठों में वर्णित किया गया है। जैसा कि हम अभी देखेंगे, मुसलिम काल में भारतीय शिक्षा सम्राट् विशेष की व्यक्तिगत विशेषताओं से पूर्णतः प्रभावित थी। अतः इस काल की शिक्षा का इतिहास प्रत्येक सम्राट् के अधीन अलग-अलग वर्णित किया गया है। यहाँ भारत में मुसलिम शासकों के अधीन भारतीय शिक्षा के इतिहास की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है।

मुसलिम आक्रमण तथा आधिपत्य के फलस्वरूप भारत में न केवल राजनीतिक परिवर्त्तन हुए, बल्कि भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता भी कई रूपों में प्रभावित हुई। भारत के नये शासक न केवल भिन्न भाषा-भाषी विदेशी थे, बल्कि उनकी सभ्यता और संस्कृति भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति से बहुत भिन्न थी। मध्ययुगी धार्मिक असहिष्णुता के कारण इन भिन्नताओं का परिणाम भारतीय संस्कृति तथा सांस्कृतिक संस्थाओं पर बहुधा

बहुत ही बुरा पड़ा । मुसलिम सम्पर्क के प्रारम्भिक युग में, धार्मिक प्रतिक्रिया का प्रवाह स्वभावतः अधिक वेगवान था, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय शिक्षा तथा शिक्षालयों को भारी क्षति हुई । धार्मिक कट्टरपन की वह्नि में अनेक भारतीय विद्यालय विध्वंस हो गये, हजारों पुस्तकें जलकर खाक हो गयीं तथा कितने ही हिन्दु एवं बौद्ध विद्वान हताहत एवं निर्वासित हुए ।* हम आगे देखेंगे कि बख्तियार खिलजी के नालन्दा-संहार से भारतीय शिक्षा को जो आघात पहुँचा वह अकथनीय है । विक्रमशिला महाविहार में एक भी ऐसा व्यक्ति जीवित न रहा, जो वहाँ के पुस्तकालय की पुस्तकों को पढ़ सके ।† किन्तु मुसलिम राज्य के दृढ़ हो जाने के बाद, इस तरह की निर्मम घटनाएँ प्रायः नहीं होती थीं । हाँ, कभी-कभी शासक-विशेष के धार्मिक कट्टरपन का कुफल भारतीय विद्यालयों को अवश्य भोगना पड़ता था ।‡ मन्दिर के स्थान में मस्जिद तथा विद्यालय के स्थान में मकतब के निर्माण की परम्परा एकदम लुप्त न हुई ।

मुसलिम राज्य-सत्ता के प्रतिष्ठापन का महत्त्वपूर्ण परिणाम भारतीय शिक्षा के स्वरूप पर भी पड़ा । अबतक भारतीय विद्यालयों के पाठ्यक्रम में वैदिक मन्त्रों तथा बौद्ध सुत्तों का प्रभुत्व था । अब कुरान तथा इस्लाम के अन्य धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन भी भारतीय शिक्षा के अंग बन गये । साथ ही विद्यालयों में संस्कृत तथा पाली का प्रभाव क्षीण होने लगा । राज्यभाषा होने के नाते फारसी के अध्ययन की ओर भारतीय छात्र स्वभावतः आकृष्ट होने लगे । फलतः संस्कृत का अध्ययन सिर्फ पंडितों तक सीमित रहने लगा । राज्याश्रय के अभाव में भारतीय विद्यालय क्रमशः विलुप्त होने लगे । इनका अस्तित्व, विशेषतः, तीर्थ-स्थानों तथा मठादि में ही सीमित रह गया । छोटे-छोटे विद्यालय स्थानीय साधनों पर किसी तरह लुढ़कते चलने लगे ।

हम कह चुके हैं कि मुसलिम शासन एकतन्त्रात्मक था । फलतः राज्य के सभी कार्यों में तत्कालीन सम्राट् की वैयक्तिक रुचियों एवं क्षमताओं का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था । शिक्षा के क्षेत्र में भी, मुसलिम शासन-काल में, सम्राटों की वैयक्तिक विशेषताओं का प्रभाव बराबर पड़ता रहा । वस्तुतः मुसलमानों के राज्यकाल में, भारतीय शिक्षा की स्थिति तत्कालीन

---

* N. N. Law—Promotion of Learning in India during Muhammadan Rule....Preliminary—XLV.

† Panikkar—A Survey of Indan History—P. 146.

‡ Keay—Indian Education in Ancient and Later Times—P. 10.

शासक की रुचियों तथा प्रवृत्तियों की प्रतिबिंब मात्र थी।* उदारचित्त तथा विद्यानुरागी सम्राटों के राज्यकाल में भारतीय शिक्षा की कुछ-न-कुछ उन्नति अवश्य हुई। इसके विपरीत, कोरे साम्राज्यवादी तथा संकीर्णहृदय शासकों के राजत्व-काल में, भारत में शिक्षा की अवनति हुई। भारतीय शिक्षा की यह प्रवृत्ति, मुसलिम शासन-काल में, कम या अधिक मात्रा में, बराबर वर्त्तमान रही।

इस सामान्य प्रवृत्ति के विरुद्ध कुछ दृष्टान्त भी हैं। उदाहरणार्थ, अलाउद्दीन खिलजी के समय में भारत में शिक्षा की दशा अच्छी थी, यद्यपि अलाउद्दीन को न शिक्षा के प्रति किसी तरह की दिलचस्पी थी, न उसने शिक्षा-प्रसार के लिये कुछ यत्न ही किया। इस स्थिति का कारण यह था कि अलाउद्दीन के समय में देश में कुछ ऐसे अमीर-उमरांव थे, जिन्हें शिक्षा के प्रति पर्याप्त अभिरुचि थी और जिन्होंने शिक्षा-प्रसार के लिये भरपूर चेष्टा की। अतः, अलाउद्दीन की उदासीनता के समक्ष भी, उसके राजत्व-काल में, भारत में शिक्षा की प्रगति हुई। ऐसे अपवादों को छोड़कर, मुसलिम शासन-काल में, भारत में शिक्षा की उन्नति या अवनति सामान्यतः इस बात पर निर्भर करती थी कि तत्कालीन शासक कितना शिक्षा-प्रेमी और उदार-हृदय था। वस्तुतः, मुसलिम शासन-काल में, भारतीय शिक्षा की प्रगति का सम्बन्ध शासकविशेष के व्यक्तित्व से था, न कि शासन-व्यवस्था से। इसका फल यह हुआ कि मुसलमानों के राज्यकाल में शिक्षा शासन-व्यवस्था की स्थायी अंग न बन सकी और लगभग सात सौ वर्षों के दीर्घ शासन-काल में भी भारत में जन-शिक्षा पद्धति का निर्माण न हो सका। नितान्तः गैरसरकारी संस्था की तरह, भारतीय शिक्षा, शासकविशेष की रुचियों के अनुसार कभी गिरती, कभी उठती, डगमगाती चली। उसे वह सुदृढ़ आधार प्राप्त न हो सका, जिसपर आश्रित रहकर वह उत्तरोत्तर समृद्धिशील होती।

इन कठिनाइयोंके होते हुए भी, मुसलिम शासन-काल में भारत में शिक्षा की प्रगति कई रूपों में हुई। यह प्रगति, विशेषतः, मुसलिम शिक्षा के प्रसार से ही संबंधित रही। भारत के प्राचीन विद्यालय, जैसा कि

---

* Emperor's taste was, so to speak, a barometer of the the then literary atmosphere.

† N. N. Law—Promotion of Learning in India during Muhammadan Rule—Preliminary—XL.VII.

पहले कहा जा चुका है, प्राय: उपेक्षित रहे। मुसलिम शिक्षा का प्रसार निम्नलिखित रूपों में हुआ।

१. मुसलिम राज्य के प्रतिष्ठापन के बाद बहुत से मुसलमान भारत में बस्तियाँ बनाकर रह गये। बहुत से देशवासी इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गये। इन दोनों प्रकार के मुसलमानों की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मस्जिदें स्थापित हुईं। इन मस्जिदों के साथ, सामान्यत मकतब तथा मदरसे संलग्न होने लगे। इस तरह लगभग सभी मुसलिम बस्तियों में मस्जिद और इनसे संलग्न मकतब कायम हुए। प्राय: सभी मुसलिम शासक अपने धर्म के पालन तथा प्रसार में आस्था रखते थे। मस्जिदों का निर्माण, वे अपने धर्म-पालन का आवश्यक अंग मानते थे। फलत: इन शासकों ने नये-नये मस्जिदों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया। मस्जिदों की वृद्धि के साथ-साथ मकतब तथा मदरसों की भी वृद्धि हुई। देश के कोने-कोने में मस्जिद स्थापित हुए और इन मस्जिदों के साथ देश में मकतब तथा मदरसे भी आच्छादित हो गये।

ख—बहुत से मुसलिम शासक विद्यानुरागी व्यक्ति थे तथा विद्या-प्रसार के कार्य में हार्दिक रुचि रखते थे। शिक्षा-प्रसार के निमित्त इन शासकों ने मकतब तथा मदरसे खुलवाये। जगह-जगह पर छोटे-बड़े पुस्तकालय भी खोले गये। इन शासकों के अनुकरण में देश के अमीर-उमराव छोटे-बड़े विद्यालयों एवं पुस्तकालयों के स्थापन कार्य में लग गये। इनके द्वारा भी देश में अनगणित मुसलिम शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण हुआ।

ग—मुसलिम शासक विद्वानों, कवियों तथा साहित्यिकों को बहुधा पुरस्कृत तथा सम्मानित किया करते थे। देश-विदेश के प्रसिद्ध कवि तथा साहित्यिक शाही दरबार की शोभा बढ़ाया करते थे। शाहनशाह की देखा-देखी देश के अमीर-उमराव भी अपने दरबार में विख्यात विद्वानों को रखा करते थे। इस तरह, राजधानी तथा प्रान्तीय नगरों में एक विद्वद् मण्डली की स्थापना हो जाती थी, जिनके द्वारा ज्ञान-प्रसार का कार्य होता रहता था।

घ—कहीं-कहीं सरकार की ओर से अनाथालय भी खोले जाते थे। अनाथालय में बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता था। प्रतिभा-सम्पन्न तथा साधनहीन छात्रों को शाही खजाने से अक्सर छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती थीं, जिनसे गरीब विद्यार्थियों को शिक्षाग्रहण करने में सहूलियत हुआ करती थी।

मुसलिम काल में भी, भारतीय शिक्षा की प्रमुख धारा कई रूपों में, अखण्डित रही।

मुसलिम विद्यालयों की शिक्षा भी, भारत की प्राचीन विद्यालयों की नाईं प्रधानतः वैयक्तिक रही। गुरु शिष्य का संबंध, प्राचीन वैयक्तिक संबंध, मुसलिम शासन-काल में भी अक्षुण्ण रहा। मकतब तथा मदरसों के विद्यार्थी भी प्राचीन विद्यार्थियों की तरह अपने शिक्षक से सम्बन्धित थे, न कि निर्जीव विद्यालयों से। शिक्षण के पात्र अमुक विद्यार्थी अथवा अमुक थे, न कि एक वर्ग अथवा अवैयक्तिक समूह। धनीमानी सरदार अथवा अमीर अपने बच्चों की शिक्षा का भार सुविख्यात शिक्षक को सौंप देते थे। ये शिक्षक सामान्यतः एक ही बच्चे की देख-रेख किया करते थे। सामान्य शिक्षक भी १०—१२ बच्चों से अधिक का उत्तरदायित्व ग्रहण न करते थे। इस तरह हर शिक्षक अपने छात्रों से वैयक्तिक संबंध रखने में समर्थ रहता था। अपने शिष्यों को वह अपने परिवार के सदस्य के रूप में ही ग्रहण करता था, जिसकी शिक्षा-दीक्षा में वह पूर्ण दिलचस्पी लेता था। मुसलिम विद्यालयों के छात्र भी अपने शिक्षक के निरन्तर साहचर्य में सामान्यतः रहते थे तथा उसके द्वारा पर्यवेक्षित तथा निर्देशित होते रहते थे।

साथ ही शिक्षा का धार्मिक दृष्टिकोण मुसलिम शिक्षा-पद्धति में भी, पहले की तरह, विद्यमान रहा। मुसलिम विद्यालयों में भी धार्मिक शिक्षा, पाठ्य-क्रम की रीढ़ थी। वस्तुतः मकतब तथा मदरसों का निर्माण ही, धार्मिक शिक्षा के आयोजन के उद्देश्य से होता था। जहाँ तक देश के प्राचीन विद्यालयों का संबंध था, मुसलिम शासकों ने इन विद्यालयों के पाठ्य-क्रम अथवा शिक्षण-पद्धति में किसी तरह की रुकावट न पैदा की। यह सही है कि राज्याश्रय के अभाव में तथा धार्मिक कट्टरपन के कारण देश के बहुत से प्राचीन विद्यालय मृत हो गये। किन्तु, जो भी बचे, उनके आन्तरिक कार्य में सरकार की ओर से किसी तरह का हस्तक्षेप न किया गया। फलतः अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर ये विद्यालय मुसलिम काल में भी क्रियाशील रहे। इस तरह, शिक्षा के क्षेत्र से धर्म अथवा धार्मिक शिक्षा का निष्कासन मुसलिम काल में भी न हुआ। धार्मिक उलझनों के समाधान के रूप में

---

* But one feature of Indian Education was maintained throughout this long and dark period: it was personal and based on the family system.

† Siqueira—The Education of India—P. 24.

विद्यालयों से धर्म के निष्कासन का नुस्खा उस समय तक ईजाद न हो सका था।* फलत: हिन्दू तथा मुसलिम दोनों ही विद्यालयों में छात्र अपने धर्म संबंधी बातों की शिक्षा ग्रहण करते रहे। सरकार अथवा शासकों की ओर से इस दिशा में किसी तरह के प्रतिबन्ध उपस्थित न हुए।

मुसलिम काल में भी शिक्षा का प्रधान उद्देश्य अर्थोपार्जन न था। फलत: शिक्षण के वैयक्तिक एवं पारिवारिक दृष्टिकोण, के उपयोग में किसी तरह की बाधा न पहुँची। अपने शिक्षक की देखरेख में विद्यार्थी ज्ञानार्जन की क्रिया में निर्विघ्न संलग्न रहते थे।† यह कहने की आवश्यकता नहीं की कि शिक्षण की वैयक्तिक पद्धति, सुव्यवस्थित तथा ठोस न होते हुए भी, आधुनिक यांत्रिक तथा वर्गीय पद्धति से कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

मुसलिम विद्यालय:—मुसलिम विद्यालय अधिकांशत: मस्जिदों से संलग्न रहते थे। इन विद्यालयों के संस्थापन की मूल प्रेरणा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, धार्मिक थी। कालान्तर में उच्च धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत बहुत से उपयोगी विषय सन्निविष्ट हो गये। मुसलिम विद्यालय दो प्रकार के होते थे—(क) मकतब (ख) मदरसा।

मकतब मुसलिम शिक्षा के प्राथमिक विद्यालय थे। इनकी शिक्षा का उद्देश्य बालकों को कुरान के उन आयतों अथवा अंशों को कण्ठस्थ कराना था, जो कि एक मुसलिम के लिए नमाज तथा अन्य मजहबी बातों के सम्पादन के लिये आवश्यक थे।† बहुधा इन विद्यालयों में कुरान की शिक्षा के अतिरिक्त पढ़ना, लिखना तथा सामान्य अंकगणित की शिक्षा भी दी जाती थी। सामान्यत: मकतब मस्जिदों से ही संलग्न रहते थे, किन्तु कभी-कभी ये शिक्षकों (मौलवियों) के घर अथवा अन्य स्थानों में भी क्रियाशील रहते थे। मदरसा मुसलिम शिक्षा-पद्धति के उच्च विद्यालय थे। कुछ मदरसे तो विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण कर लेते थे। इनके पाठ्य-

---

* None of them advocated a religionless or neutral education to cut the Gordian knot of multiplicity of religions.

† Siqueira— The Education of India —P. 24.

And since earning for a living had not yet become the principal goal of education, this possibly less businesslike but certainly more scientific attitude was followed unmolested siqueira—The Education of India.—P. 25.

† Keay—Indian Education in Ancient and Later Times——P. 111.

क्रम में धार्मिक विषयों के अतिरिक्त साहित्य, व्याकरण, छन्द-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, आइन (कानून), विज्ञान आदि भी सम्मिलित रहते थे।* मदरसों के पाठ्य-क्रम में इतिहास (तवारीख) का बहुधा प्रमुख स्थान रहता था। वस्तुतः मुस्लिम काल में बहुत से ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना हुई।† कुछ मदरसे किसी खास विषय अथवा खास-खास विषयों की विशेषीकृत शिक्षा के लिये सुप्रसिद्ध हो जाते थे। मदरसों की शिक्षा का माध्यम फारसी था। किन्तु प्रत्येक मुसलिम के लिये अरबी का अध्ययन अनिवार्य था। मदरसे भी, मकतबों की नाई, अधिकतर बड़े-बड़े मस्जिदों से ही संलग्न रहते थे।

मुसलिम शिक्षा-पद्धति प्रधानतः उन भारतीयों के लिए निर्मित हुई थी, जिन्होंने इसलाम धर्म स्वीकार किया था। फलतः प्रारम्भ में मकतबों तथा मदरसों की शिक्षा मुसलिम छात्रों तक ही सीमित रहती थी; किन्तु मुसलिम राज्य-सत्ता के पूर्ण प्रतिष्ठापन के बाद मकतबों तथा मदरसों में हिन्दू छात्र भी दाखिल होने लगे। राज्य में पद तथा प्रतिष्ठा के लिये फारसी का ज्ञान अत्यावश्यक था, जो कि मुसलिम शासकों की राज्य भाषा थी। अरबी मुसलमानों की धार्मिक भाषा थी, इस भाषा का ज्ञान भी, उनलोगों के लिये अपेक्षित था, जो कि मुसलिम शासन से अपना संसर्ग स्थापित करना चाहते थे। इन भाषाओं की शिक्षा मुसलिम विद्यालयों के अतिरिक्त अन्यत्र न मिल सकती थी। अतः कालान्तर में मकतबों तथा मदरसों में हिन्दू छात्र भी शिक्षा ग्रहण करने लगे। मकतबों तथा मदरसों का द्वार सभी जाति अथवा श्रेणी के हिन्दुओं के लिए खुले हुए थे। श्री जफर की सम्मति में मुसलिम विद्यालयों ने भारत में जाति-बन्धन को बहुत-कुछ शिथिल कर दिया तथा सांस्कृतिक एकता का मार्ग प्रशस्त किया।‡

मुसलिम विद्यालयों की शिक्षण-पद्धति प्रधानतः रटन्त थी। ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति की तरह मुसलिम शिक्षा-पद्धति में भी छात्रों को पाठ्य-वस्तुओं को रटने की आवश्यकता रहती थी। शिक्षक का प्रधान कार्य यह था कि

* Adam's report—P. 215.

† Keay—Indian Education in Ancient and Later Times P. 139.

‡ S. M. Jaffar-Education in Muslim India—Pp. 14, 15.

वह इसलाम धर्म के परम्परागत उपदेशों और आदेशों को अपने छात्रों को सुपुर्द कर दे। ‡

शिक्षक :—ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति की तरह, मुसलिम शिक्षा-पद्धति में भी शिक्षकों का सामाजिक स्थान सम्मानपूर्ण था। शिक्षकों की योग्यता ऊँची होती थी। अपनी योग्यता तथा चरित्र के कारण वे समाज में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे।

शिक्षक और शिक्षित का पारस्परिक संबंध, ब्राह्मण-शिक्षा-पद्धति की तरह, श्रद्धा और स्नेह का था। मुसलिम छात्र भी अपने शिक्षक को लगभग उतनी ही श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे, जितनी श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से ब्राह्मण विद्यार्थी अपने गुरु को देखा करते थे। शिक्षक भी अपने शिष्य को पुत्रवत् समझते थे।

मुसलिम विद्यालयों में भी अनुभवी तथा सुयोग्य छात्रों को, शिक्षक की अनुपस्थिति में, विद्यालय का कार्य सम्हालने का भार दिया जाता था। इस तरह मुसलिम शिक्षा-पद्धति में भी भारत की प्राचीन बालचट-प्रथा प्रचलित रही।

---

‡ Keay—Indian Education in Ancient and Later Times —P. 140.

दूसरा अध्याय

तुर्क-अफगान काल

(१२०६–१५६० ई०)

गुलाम वंश

कुतुबुद्दीन—गुलाम वंश का संस्थापक कुतुबुद्दीन ऐबक अपनी विद्वत्ता तथा विद्याप्रेम के लिए प्रसिद्ध था। अपने संक्षिप्त राज्यकाल में इसने सैकड़ों मस्जिदें बनवायीं, जिनमें मकतब का प्रबन्ध स्वभावत: रहता था। इस तरह कुतुबुद्दीन ने मुसलमानों की शिक्षा को बड़ा प्रश्रय दिया। किन्तु वह हिन्दुओं के प्रति कुछ अनुदार था, जिसके फलस्वरूप उसके राज्य-काल में अनेक मन्दिर गिराये गये तथा उनके स्थान में मस्जिदें बनायी गई। इन मन्दिरों के ध्वंस के परिणामस्वरूप भारतीय शिक्षा को बड़ा आघात पहुँचा। बख्तियार खिलजी के नालन्दा-संहार से भारतीय शिक्षा की रीढ़ टूट गई। बिहार के सुरम्य विद्यालय के विध्वंस से ही बख्तियार को तुष्टि न हुई। आगे बढ़कर उसने बंगाल के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र नदिया को भी क्षत-विक्षत कर दिया।† इन दो सुप्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों के विनाश से भारतीय शिक्षा तथा संस्कृति को जो क्षति हुई उससे इतिहास के विद्यार्थी अवगत हैं। बख्तियार ने इनके भग्नावशेष पर मस्जिद-निर्माण के द्वारा मुसलिम शिक्षा को अवश्य आगे बढ़ाया।

अलतमश:—(इल्तुतिमश) राज्य की सुव्यवस्था तथा विस्तार में विशेष संलग्न रहने के कारण अलतमश ने शिक्षा की समुन्नति की ओर किसी तरह के ठोस प्रयत्न नहीं किये। किन्तु वह उदार तथा शिक्षा-प्रेमी

---

† The atrocities of Bukhtiyar did not leave a single scholar alive.

N. N. Law—Promotion of Learning in India during Muhammadan Rule—P. 20.

शासक था और उसके दरबार में अनेक विद्वान थे । दिल्ली में उसने एक मदरसा भी बनवाया, जो कि सुलतान फिरोज के समय में नष्ट हो गया ।

रजिया—फेरिस्ता के अनुसार रजिया कुरान में पारंगत एक सुशिक्षित महिला थी । उसने अपने दरबार में विद्वानों को समादृत किया । उसके राज्य में दिल्ली में "मुईज्जी मदरसा" के नाम से एक बड़ी मुसलिम शिक्षा-संस्था थी ।

नासिरुद्दीन—सुलतान नासिरुद्दीन न केवल एक विद्वान बादशाह था, बल्कि विद्या-प्रसार उसके जीवन का एक प्रमुख ध्येय था । अपनी लेखनी से उसने अपनी रोटी कमा कर भविष्य के समक्ष विद्या-प्रेम तथा मित-व्ययिता का एक ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया । उसके २० वर्ष के राजत्व-काल में मुसलिम शिक्षा की शान्तिमय प्रगति हुई और भारत में फारसी साहित्य की श्रीवृद्धि हुई । सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ "तबकाती-नासिरी" उसकी देखरेख में उसके दरबार में लिखी गई । उसके राज्य-काल में जालन्धर नगर में एक बड़ा विद्यालय भी सम्भवतः था ।

बलबन—नासिरुद्दीन का दामाद एवं उत्तराधिकारी बलबन भी साहित्य-प्रेमी सुल्तान था । उसका दरबार सदा विद्वानों से भरपूर रहता था । इसका एक कारण यह भी था कि उस समय चंगेज खां के आक्रमण से भारत के पश्चिमी सरहद के देश आक्रान्त हो रहे थे । उन देशों से भागकर छोटे-बड़े राजा-महराजाओं ने प्राण-रक्षा तथा शान्ति के निमित्त दिल्ली में शरण ली । इनमें बहुत से विद्वान तथा साहित्यिक भी थे । इस तरह बलबन के समय में दिल्ली में विद्वानों तथा साहित्यिकों का जमघट सा रहता था ।

बलबन के राज्यकाल में साहित्य-सभा आदि संस्थाओं का बाहुल्य था । सुलतान का सबसे बड़ा पुत्र राजकुमार मुहम्मद एक होनहार तथा विद्या-व्यसनी युवक था । उसके नेतृत्व तथा प्रोत्साहन से साहित्य-संस्थाओं को बहुत बल मिला । सुप्रसिद्ध कवि अमीर खुशरो उसके उस्ताद थे तथा अपने शिष्य के साथ साहित्यिक जलसों में बहुधा भाग लिया करते थे । उनके अतिरिक्त शाहजादे को अन्य भी साहित्यिक विद्वानों का सहयोग प्राप्त था । अमीर हसन एक दूसरे बड़े कवि थे, जिन्हें मुहम्मद ने काफी सम्मान दिया था । मुहम्मद ने विदेशी विद्वानों को भी दिल्ली को सुशोभित करने के लिए आमंत्रित किया । उसने शेख उसमान तुरानी तथा सिराज के सुविख्यात कवि शेख सादी को बुलाने की बड़ी चेष्टा की, किन्तु असफल रहा ।

बलबन के द्वितीय पुत्र ने भीए क सांस्कृतिक संस्था का जन्म दिया। इस संस्था के सदस्य सम्मानित गायक, नर्तक तथा कहानीकार आदि थे। देश के अमीर उमरांव भी इस संस्था को प्रश्रय देने लगे। दिल्ली की सांस्कृतिक प्रभा से बलबन का सारा राज्य आलोकित हो उठा।

स्वयं बलबन भी विद्वानों की बड़ी प्रतिष्ठा करता था। अपने पुत्र मुहम्मद को उसने जो सम्मति दी थी, वह उसकी विद्या-प्रेम की परिचायक है। "विद्वानों की खोज के लिए कुछ भी बाकी न रखो" ऐसा था उसका मुहम्मद को आदेश। बंगाल की विजय के पश्चात् उसने स्थानीय विद्वानों के पास जाकर उनसे मुलाकात की और उन्हें विभिन्न उपहारों से आभूषित किया। बलबन के दीर्घकालीन राज्य में दिल्ली की बड़ी सांस्कृतिक समुन्नति हुई। अमीर खुशरो ने सगर्व अपने कुछ पद्यों में दिल्ली को मध्य एशिया के सुप्रसिद्ध मुसलिम शिक्षा केन्द्र बुखारा के समकक्ष माना है।*

खिलजी वंश

खिलजी वंश का संस्थापक जलालुद्दीन साहित्य-प्रेमी बादशाह था। इसने विद्वानों की पूरी प्रतिष्ठा की थी। इसके दरबार में अमीर खुशरो, ताजी-उद्दीन इराकी, ख्वाजा अहसन आदि विद्वान वर्त्तमान थे। अमीर खुशरो शाही पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष भी थे; किंतु अशिक्षित, क्रूर तथा साम्रा-ज्यवादी आलाउद्दीन को विद्या के प्रति अभिरुचि न थी न किसी तरह की सहानुभूति। अल-बरुनी के अनुसार वह पूर्णतः अशिक्षित था तथा विद्वानों की संगति से सर्वदा दूर रहा करता था। अलबरुनी के इस कथन में अतिशयोक्ति होते हुए भी यह निश्चित है कि अलाउद्दीन शिक्षा तथा साहित्य से न केवल उदासीन रहता था, बल्कि उसने इन्हें बहुधा हानि भी पहुँचाई। उदाहरणार्थ, रनथंभौर के विजयोपरान्त उसने "वकफ जमीन" तथा अन्य जायदादों को जप्त कर लिया, जिनसे कई शिक्षण संस्थाएँ संचालित थीं।

किन्तु अलाउद्दीन की उदासीनता के समक्ष भी दिल्ली की सांस्कृतिक अवस्था काफी समुन्नत थी। इसका प्रमाण हमें फेरिस्ता के इस उद्धरण से मिलता है—"महल, मस्जिद, विद्यालय जादू की तरह अकस्मात् उठ खड़े हुए। किसी जमाने में दिल्ली में विद्वानों की इतनी जुटान नहीं हुई थी।"

---

*Amir Khurav declared with pride that Delhi developed into an intellectual competitor of Bukhara, the famous University- city of Central Asia.
—Advanced History of India—P. 409.

अलाउद्दीन के चरित्र को ध्यान में रखते हुए दिल्ली का यह सांस्कृतिक वैभव आश्चर्यजनक दीख पड़ता है। किन्तु बात यह थी कि अलाउद्दीन के राज्यकाल में भी बहुत से ऐसे अमीर-उमरांव थे जिन्हें साहित्य के प्रति अभिरुचि थी। विद्वानों की जो मंडली स्थापित हो चुकी थी, अलाउद्दीन की उदासीनता उसे विशृंखल करने में समर्थ न हो सकी। अमीर खुशरो, अमीर हसन आदि व्यक्तियों का प्रभाव अब भी अक्षुण्ण था। इनके अतिरिक्त अन्य भी बड़े विद्वान थे जिन्हें मुसलिम जगत बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। सुप्रसिद्ध विद्वान तथा फकीर निजामउद्दीन औलिया इसी समय में थे। उनका एक निजी पुस्तकालय था, जिसमें अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें थीं। साहित्यिकों के अतिरिक्त अन्य श्रेणी के विद्वान भी अलाउद्दीन के राज्य में प्रचुर थे। इतिहास, न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि विषयों के विशेषज्ञ भी अनेक थे *। बारनी के अनुसार विद्वानों की ४६ श्रेणियाँ थीं, जिनमें ज्यौतिषी, संगीतज्ञ, कलाकार, आदि भी सम्मिलित थे। मुबारक खिलजी के समय शिक्षा की अवस्था अच्छी न थी, किन्तु, मुबारक ने बड़ा काम यह किया कि अपने पूर्वज के द्वारा अधिकृत जायदादों को उपयुक्त संस्थाओं को लौटा दिया। इससे अनेक मृतप्राय धार्मिक संस्थाएँ तथा विद्यालय जीवित हो उठे।

तुगलक वंश

भारतीय शिक्षा के इतिहास में तुगलक वंश का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस वंश के प्रायः सभी सुलतान उत्कट शिक्षा-प्रेमी थे। दो एक तो ऐसे थे जिनकी शिक्षा-सम्बन्धी चेष्टाएँ मध्ययुगी इतिहास में ज्वलन्त रत्न के सदृश हैं।

गियासुद्दीन—इस वंश का प्रतिष्ठापक गयासुद्दीन एक शान्त तथा विद्यानुरागी व्यक्ति था। उसने विद्वानों को अपने दरबार में आमन्त्रित किया तथा उन्हें अनेक तरह से सम्मानित किया। राजधानी के बाहर रहने वाले

---

* The most wonderful thing, which people saw in Ala-ud-din's reign was the multitude of great men of all nationalities, masters of every science, and experts of every art. The capital of Delhi, by the presence of these unrivalled men of great talents, had become the envy of Baghdad, the rival of Cairo, and the equal of Constantinople.— Barni— quoted in Advanced History of India.—P. 409.

विद्वानों को उसने वृत्ति तथा अन्य सहूलियतें दीं । कुरान तथा प्रचलित रीतियों के आधार पर उसने विधान-सम्बन्धी एक ग्रंथ तैयार करवाया जिसके नियम के पालन की चेष्टा वह स्वयं करता था । वास्तव में "गयासुद्दीन के शान्तिमय राज्य में उस सांस्कृतिक भवन की नींव पड़ी, जिसका निर्माण आगे चलकर फिरुज तुगलक ने किया ।"

मुहम्मद तुगलक—मुहम्मद तुगलक की विद्वत्ता सुविख्यात है । न वह केवल विद्वान् था, बल्कि वह एक सफल लेखक भी था । उसकी प्रतिभा केवल साहित्य तक ही सीमित न थी । औषधि, तर्कशास्त्र, गणित ज्यौतिष आदि विषयों में भी वह पारंगत था । ग्रीस देश के दार्शनिक पुस्तकों का अध्ययन भी उसे था । ऐसे सुशिक्षित तथा प्रतिभावान सुलतान के समय में शिक्षा की उन्नति होनी स्वाभाविक थी । मुहम्मद तुगलक के प्रारम्भिक काल में दिल्ली में अनेक सुप्रसिद्ध विद्वान् वर्त्तमान थे । मुहम्मद ने इन्हें विभिन्न तरह से प्रोत्साहित किया । उसकी उदारता तथा दानशीलता से आकृष्ट होकर कई विदेशी विद्वान् भी उसके दरबार में पहुँचे । किन्तु दिल्ली को शीघ्र ही बुरे दिन देखने पड़े । मुहम्मद शक्की तथा क्रुद्ध प्रकृति का शासक था । सन्देह में पड़ कर उसने अनेक विद्वानों को कत्ल करा दिया । दिल्ली की मंडली इस नये प्रहार से आक्लान्त हो उठी । व्यथित राजधानी के ऊपर दूसरा जबर्दस्त प्रहार पड़ा । वह था दौलताबाद को राजधानी-परिवर्त्तन । दिल्ली का हरा-भरा सुरम्य उद्यान अकस्मात् विजन तथा उजाड़ हो गया । जब लोग ही नहीं, तो शिक्षा और साहित्य क्या ? वर्षों की संयोजित सम्पत्ति पल भर में विलुप्त हो गई । सांस्कृतिक केन्द्र विश्रृंखल हो गया । साहित्यिक, कवि, गायक, सभी तितर-बितर होकर भटकने लगे । दिल्ली की विनष्ट समृद्धि बहुत दिन बाद पुन: लौटी । मुहम्मद ने अपनी नयी राजधानी को सुसज्जित करने की पूरी चेष्टा की । विद्वानों तथा कलाकारों को नव-निर्माण के लिए आमन्त्रित किया गया । अनेक आये भी । किन्तु दौलताबाद को वह गौरव स्वभावत: न प्राप्त हो सका जो दिल्ली को प्राप्त था । दिल्ली के पतन का दुष्परिणाम समस्त देश पर पड़ा । कुछ दिनों के लिए सारे देश में आतंक-सा छाया रहा । ऐसे वातावरण में शिक्षा-दीक्षा की समृद्धि असंभव थी ।

फिरोज तुगलक:—भारतीय शिक्षा के इतिहास में फिरोज तुगलक का स्थान स्वर्णाक्षरों में अंकित है । शिक्षा-प्रसार, शान्ति-संस्थापना, समुन्नत दृष्टिकोण आदि के विचार से फिरोज तुगलक बहुत अंशों में अकबर का

अग्रगामी था ।* अपनी उदारता तथा विद्वता के अतिरिक्त वह एक सुयोग्य शासक भी था, जिससे उसकी सांस्कृतिक संस्थाओं को परिपुष्ट तथा सुदृढ़ होने के लिए सुव्यवस्थित राजनीतिक आधार प्राप्त हो सका ।

बचपन ही से फिरोज को गियासुद्दीन जैसे सुयोग्य शिक्षकों की संरक्षणता तथा सौहार्द प्राप्त हुआ । मुहम्मद तुगलक स्वयं भी फिरोज की शिक्षा-दीक्षा की ओर काफी सतर्क रहता था ।

इस तरह फिरोज का बचपन शिक्षा तथा स्नेह से परिपुष्ट होकर एक संयत तथा सुसमृद्ध व्यक्तित्व में परिस्फुटित हुआ । साहित्य और कला के उस प्रेमी ने अपने राज्य भर में इनकी एक सरिता बहा दी जिसकी आनन्द-लहरी में सारा देश निमग्न हो गया । साहित्य के अलावे फिरोज को इतिहास से भी बड़ी रुचि थी । सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक बारनी तथा सिराज अफीफ उसके प्रिय-पात्र थे । बारनी के निधन के पश्चात् उसने उसके रिक्त स्थान को समकक्ष ऐतिहासिक से भरना चाहा, किन्तु असफल रहा । फिरोज की आत्म-कहानी "फुतूहात-इ-फीरूज-शाही" अपनी भाषा तथा शैली के लिए सुविख्यात हैं ।* सम्भवतः फिरोज शाह प्रथम मुस्लिम शासक था, जिसने ऐति-हासिक स्मारकों की खोज तथा सुरक्षा का प्रबन्ध किया । अशोक के दो सुविशाल स्तम्भों को उसने तिपरा तथा मेरठ से बड़े परिश्रम तथा सावधानी से हटवा कर अपनी राजधानी में लाया । एक को उसने फिरोजबाद में मस्जिद के निकट गड़वाया तथा दूसरे को राजमहल के निकट गड़वाया ।* अशोक-स्तम्भों के प्रति फिरोज का यह स्नेह न केवल उसके ऐतिहासिक प्रेम का परिचायक है, बल्कि यह फिरोज की हिन्दू-संस्कृति के प्रति उस उदारता का परि-चायक है, जो कि उस युग में दुर्लभ था ।

विद्वानों तथा साहित्यिकों के लिए फिरोज के हृदय में पहला स्थान था । स्वागत के लिए तीन निर्मित महलों में, सुन्दरतम महल इन्हीं के लिए अलग किया हुआ था । दान के १३६ लाख रुपयों में उसने ३६ लाख सिर्फ

---

* If peace hath her virtues no less than war, Firoz Tuglaque stands in the forefront of Muhammadan rulers of India, anticipating in many ways the crowning works of Akbar.

N. N. Law—41.

* V. A. Smith—Asoka—P. 121.

विद्वानों तथा महात्माओं को दिया । फिरोज की अपने गुलामों की शिक्षा के प्रति खास अभिरुचि थी ।

इन गुलामों की संख्या बहुत बड़ी थी। फिरोज की व्यवस्था के अनुसार कुछ को कुरान पढ़ने तथा लिखने की शिक्षा दी जाती थी; कुछ अन्य धार्मिक ग्रंथों की नकल करते थे तथा कुछ निपुण विशेषज्ञों की देखरेख में विभिन्न व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करते थे । इस तरह १२००० गुलाम सुयोग्य कलाकार निकले जो कि सुलतान के आज्ञानुसार विभिन्न उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में संलग्न रहते थे ।

प्रजा की शासन-सुव्यवस्था के लिए फिरोज ने अनेक नियम बनाये । इन नियमों में एक पूर्णत: शिक्षा से सम्बन्धित था। इसमें जोरदार शब्दों में स्पष्ट किया गया था कि राज्य की जिम्मेदारियों में शिक्षा प्रसार भी एक है तथा इसके लिए देश के विद्वानों को शिक्षण कार्य के लिए प्रोत्साहन मिलना चाहिये । एक दूसरे नियम में सुलतान ने यह घोषित किया कि "मैं उन सभी जन-संस्थाओं के पुनरुद्धार को अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्हें हमारे पूर्वजों ने बनवाया है, उदाहरणार्थ, कारवां, सराय, मस्जिद, मकतब आदि ।" फेरिस्ता के अनुसार सुलतान द्वारा निर्मित जन-संस्थाओं में ३० कालेज थे, जो कि मस्जिद में संलग्न थे । फिरोज ने अपनी आत्मकथा में इन शिक्षालयों के निर्माण का वर्णन आकर्षक शब्दों में किया हैं।

फिरोज ने निर्धन विद्वानों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए भी समुचित प्रबन्ध किया । उसने सभी कोतवालों तथा अन्य कर्मचारियों को ऐसे विद्वानों को खोजने का आदेश दिया जो अर्थाभाव के कारण संकट में थे । इन विद्वानों को वह अपने दरबार में रखकर, उनकी योग्यतानुसार, काम दिया करता था ।

फिरोज द्वारा संस्थापित प्रमुख विद्यालयों में फिरोजशाही-मदरसा (फिरोजाबाद) का विशिष्ट स्थान है । बारनी ने इसकी बड़ी तारीफ की है । विद्यालय का भवन एक सुविस्तृत उद्यान में अवस्थित था, जिसमें एक सुरम्य तड़ाग भी था । गोल गुम्बदों से सुशोभित विद्यालय का विशाल भवन अत्यन्त रमणीय था । विद्यालय के अध्यापक सुयोग्य तथा सुविख्यात विद्वान् थे । मौलाना जलालुद्दीन रूपी जैसे विद्वान् व्यक्ति कुरान के अध्यापक थे ।

---

* N. N. Law—Promotion of Learning in India during the Muhammadan Rule—P. 61.

अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों ही विद्यालय के अहाते में ही रहते थे। धार्मिक अध्ययन पर विशेष बल था। विद्यार्थियों को मस्जिद के पांचों नमाज में सम्मिलित होना अनिवार्य था। यात्रियों तथा मेहमानों के स्वागत तथा रहने का उत्तम प्रबन्ध था। विद्यालय की ओर से दान-पुण्य भी होता था। विद्यार्थियों को वृत्ति तथा पारितोषिक दिये जाते थे। शिक्षकों तथा शिक्षितों के दैनिक खर्च का प्रबन्ध सरकार की ओर से था। अन्य खर्च भी सरकारी कोष से मिलते थे। फिरोज के प्रायः सभी विद्यालय मस्जिद से संलग्न रहते थे। इनमें मुसलिम धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी। स्वभावतः इन विद्यालयों में हिन्दु मतालम्बवयों के लिए स्थान न था।

किन्तु फिरोज के समय में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सांस्कृतिक सम्मिश्रण के प्रमाण हैं। खान-इ-जहान का उच्च पद एक हिन्दु राजा के द्वारा सुशोभित था। अवश्य वह राजा फारसी तथा अरबी भाषाओं में दक्षरता होगा। इसी तरह भारतीय सांस्कृतिक पुस्तकों के अध्ययन की ओर मुसलिम भी सचेष्ट दिखलाई पड़ते हैं। नगरकोट के एक मन्दिर की १३०० पुस्तकों में फिरोज के आदेशानुसार कई फारसी में रूपान्तरित किये गये। "दलैली-फिरुजशाही" इन रूपान्तरों में से एक था। इलियट के अनुसार फिरोज के राज्यकाल में ज्यौतिप-सम्बन्धी एक संस्कृत ग्रन्थ का भी फारसी में अनुवाद हुआ था। पशु-चिकित्सा शास्त्र 'सालोतर' का भी अनुवाद सम्भवतः फिरोज के समय में हुआ था, जो कि कुरु-तुल के नाम से प्रसिद्ध था।

फिरोज के उत्तराधिकारी प्रायः सभी निकम्मे निकले; जिससे फिरोज के शिक्षा सम्बन्धी कार्यों को स्थायित्व प्राप्त न हो सका। गियासुद्दीन, अबुबकर तथा नासिरुद्दीन के संक्षिप्त राज्यकाल पारस्परिक वैमनस्य के कारण अन्धकारपूर्ण रहे। मुहम्मद तुगलक के समय में तैमूरलंग का विध्वंसक आक्रमण हुआ, जिसके अत्याचार इतिहास-प्रसिद्ध हैं। किन्तु तैमूर ने शेख, सैयद तथा विद्वानों को कत्लेआम से बरी कर अपने शिक्षा प्रेम का परिचय दिया था। इस तरह फिरोज की मृत्यु के पश्चात् लगभग ५० वर्षों तक देश में हलचल-सी रही, जिससे शिक्षा की प्रगति सर्वथा अवरुद्ध हो गई।

---

† N. N. Law—Promotion of Learning is India during the Muhammadan Rule—P. 60—62.

सैयद वंश

शिक्षा के इतिहास के लिए इस वंश का कोई महत्त्व नहीं । इस वंश का अन्तिम सुलतान लगभग ३० वर्षों तक बदौन में रहा, जिसके फलस्वरूप दिल्ली के स्थान पर बदौन ही सांस्कृतिक केन्द्र रहा ।

लोदी वंश

बहलोन लोदी—बहलोन लोदी के राज्यकाल में देश में पुनः शान्ति तथा सुव्यवस्था आई । फलतः सांस्कृतिक संस्थाओं को पुनरुत्थान के अवसर मिले । स्वयं सामान्य शिक्षित होते हुए भी बहलोन ने विद्वानों को सम्मानित किया उसने कुछ विद्यालय भी स्थापित किये ।

सिकन्दर लोदी—सिकन्दर लोदी स्वयं एक कवि था और इसलिए उसका साहित्य प्रेम स्वाभाविक था । वह शेख जमाल का शिष्य था तथा गुल-रुख के उपनाम से कविता किया करता था । उसका 'दीवान' लगभग ९ हजार पद्यों का हैं । उसने विद्वानों की खूब प्रतिष्ठा की और शिक्षा-प्रसार को विभिन्न रूप में प्रश्रय दिया । उसने इस बात पर बल दिया कि सैनिक विभाग के सभी पदाधिकारी शिक्षित हों । इससे युद्ध विभाग के लोगों में शिक्षा-प्रसार को बड़ा प्रोत्साहन मिला ।

सिकन्दर की संरक्षणता में अनेक पुस्तकें लिखीं, अनूदित तथा संक-लित हुईं । औषधि की सुविख्यात आरगर-महावेद का अनुवाद तीबी-सिक-न्दरी नामक ग्रंथ में हुआ ।

सिकन्दर ने विदेशी विद्वानों को भी अपने राजधानी आगरे में रहने के लिए आमन्त्रित किया । अरब, फारस तथा बुखारा आदि मुसलिम देशों से अनेक विद्वान् आकर आगरे में रहने लगे । इनके संसर्ग से मुसलिम विद्या की काफी समृद्धि हुई ।

सिकन्दर के राज्यकाल में हिन्दू फारसी भाषा की ओर विशेष झुकते हुए दिखाई पड़ते हैं । फेरिस्ता ने भी इसकी पुष्टि की है । सैनिक अथवा बाजारी भाषा उर्दू का भी प्रादुर्भाव भी लगभग इसी समय हुआ ।

किन्तु, सिकन्दर के धार्मिक कट्टरपन से हिन्दु संस्कृति तथा शिक्षा को बड़ा आघात पहुँचा । उसने अनेक मन्दिरों को विध्वंस कर दिया तथा उनके स्थान पर मस्जिद तथा मकतब बनवाये । मथुरा के अनेक विद्यालय मटि-यामेट कर दिये गये और उनके भग्नावशेष पर मकतबों की नीव पड़ी ।

बुधन नामक सुविख्यात हिन्दु दार्शनिक मुल्लाओं से तर्क के लिए आमन्त्रित किया गया और इसलाम धर्म के अस्वीकार करने पर कत्ल कर दिया गया ।

इब्राहिम लोदी के राज्यकाल में तुर्क अफकान वंश का भाग्य-सूर्य सदा के लिए इतिहास से अस्त हो गया, यद्यपि शेरशाह ने कुछ दिनों के लिये भारत में अफगानों की शक्ति का पुनरुद्धार किया । सन् १५२६ की पानीपत की पहली लड़ाई ने भारतीय इतिहास का एक नया पृष्ठ खोल दिया ।

तीसरा अध्याय

अन्य मुसलीम राज्यों में शिक्षा

केन्द्रीय शासन के अतिरिक्त तुर्क-अफगान काल में अन्य भी मुसलिम राज्य थे, जहां मुसलिम शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई। उन राज्यों में प्रमुख ये हैं।

बहमनी राज्य

मुहम्मद शाह बहमनी एक विद्वान् तथा विद्या-प्रेमी शासक था। अरब तथा फारस के अनेक विद्वान् उसके दरबार को सुशोभित करते थे। सन् १३७८ ई० में सुलतान ने अनाथों की शिक्षा के लिए एक बड़ा मदरसा खोला। इस मदरसे में सुयोग्य शिक्षक नियुक्त किये गये। अनाथों की देखरेख तथा शिक्षा के लिए मुहम्मद ने अन्य भी अनेक मकतब खोले, जिनके गुलवर्गा, एलिचपुर, दौलतानाबाद आदि स्थानों के मकतब सुप्रसिद्ध थे। इन विद्यालयों के निर्वाह के लिए उसने जमीन इत्यदि अलग कर दिये, जनकी आय से विद्यालयों का खर्च चलता था।

शिराज के सुप्रसिद्ध कवि हाफिज को बुलाने के लिए मुहम्मद ने एक जहाज भेजा, किन्तु अनुकूल समय न होने के कारण वह न आ सका। अपनी वद्वत्ता तथा विवेक के कारण मुहम्मद को बहुधा लोग 'अरस्तु' कहा करते थे।

फिरोज बहमनी—१३०६—१४२२—विद्या-प्रेम तथा विद्या-प्रसार में फिरोज बहमनी फिरोज तुगलक का समकक्ष था। विद्वत्ता के विचार से कुछ ऐतिहासिक उसे मुहम्मद तुगलक से भी उच्च मानते हैं। बह न केवल अरबी फारसी का विद्वान् था, बल्कि उसे कई अन्य भाषाओं की जानकारी भी थी। फेरिस्ता के अनुसार उसके अन्त:पुर में विभिन्न देशों की रमणियां थीं, जिनसे वह उनकी मातृभाषा में अच्छी तरह वार्त्तालाप कर सकता था। उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी और वह बहुधा तर्कशास्त्र, ज्यामिति आदि विषयों पर व्याख्यान सुना करता था। एक कुशल कवि के अतिरिक्त फिरोज एक उच्च कोटि का वैज्ञानिक भी था। प्राकृतिक दर्शन में उसकी विशेष अभिरुचि

थी । नक्षत्रों के—अन्वीक्षण के लिए उसने दौलताबाद के समीप एक पहाड़ी की चोटी पर एक प्रयोगशाला बनवाने की आज्ञा दी । किन्तु इसके निरीक्षक खगोल-शास्त्री हुसैन जिलनी की मृत्यु के कारण यह पूरा न हो गया । धार्मिक साहित्य से भी उसे पूरा स्नेह था । कुरान की १५ पंक्तियाँ लिखना उसका नित्य का कार्य था ।

सुदूर देशों के विद्वानों को बुलाने के लिए फिरोज प्रति वर्ष जहाज भेजा करता था । यह उसके उत्कट विद्या-प्रेम का परिचायक है । किन्तु, मध्ययुगी धार्मिक असहिष्णुता के प्रभाव से फिरोज भी वंचित नहीं था, जिसके कारण इसके द्वारा कई शिक्षा संस्थाओं को हानि भी पहुँची ।

फिरोज के बाद बहमनी वंश का सबसे विद्वान् शासक मुहम्मद शाह द्वितीय था । इसके मंत्री मुहम्मद गावां का शिक्षा-प्रेम सुविख्यात है । गावां ने देश-विदेश के विद्वानों को अपने दरबार में आमन्त्रित कर उनका बड़ा सम्मान किया । अपने निजी साधनों से उसने अनेक जन-संस्थाएँ स्थापित कीं । मुहम्मद गावां ने बीदर में मदरसे के लिये एक सुविशाल भवन बनवाया था । इसे बनवाने में लगभग ३ वर्ष लगे थे तथा लाखों रुपये खर्च हुए थे । मदरसे के प्रांगन में एक भव्य मस्जिद थी, जिसके चारों ओर शिक्षकों तथा छात्रों के आवास के लिए कमरे बने हुए थे । मदरसों में एक बड़ा पुस्तकालय भी अवस्थित था, जिसमें लगभग तीन हजार प्रतियां थीं । बहमनी के आक्रमण में औरंगजेब ने मदरसे के भवन का एक अंग अपने सैनिकों के रहने के लिये दिया । इसी अंग में, बारूद में आग लग जाने से भवन का अधिकांश ध्वंस हो गया । किन्तु, आज भी इस सुविशाल भवन के भग्नावशेष अपने अतीत की कथा कह रहे हैं ।

बहमनी वंश के अन्य राजाओं को शिक्षा से खास दिलचस्पी न थी । किन्तु इस वंश के शासन काल में दक्खिन भारत में मुसलिम शिक्षा का काफी प्रसार हुआ । फरगसन के अनुसार "फारसी" और "अरबी" भाषाओं का दक्षिण भारत में खूब प्रसार हुआ । राज्य में अनेक छोटे-छोटे मकतब थे जो कि मस्जिद से संलग्न रहते थे । राज्य की ओर से उन मकतबों खर्च के लिए जायदाद अलग की हुई थी ।

बीजापुर राज्य

बीजापुर संभवतः विद्यापुर का अपभ्रंश है । चालुक्य वंश के राज्य काल में विद्यापुर को राज्याश्रय प्राप्त था जो कि स्तम्भ-लेखों से स्पष्ट है । हिन्दु

राज्य के पतन के साथ विद्यापुर की सांस्कृतिक समुन्नति समाप्त न हुई और यह बीजापुर के नाम से सैकड़ों वर्ष तक मुसलिम संस्कृति का केन्द्र बना रहा ।

बीजापुर राज्य का संस्थापक मुहम्मद आदिल एक साहित्यक तथा सुसंस्कृत व्यक्ति था । पद्य तथा गद्य दोनों ही वह अच्छी भाषा में लिख सकता था । संभीत में भी उसकी पहुँच अच्छी थी । फलतः उसके दरबार में साहित्यिकों तथा संगीतज्ञों का बड़ा सम्मान था । फारस, तुर्किस्तान, रूस आदि देशों के विद्वान उसके दरबार में वर्त्तमान थे । इनमें कई कलाकार भी थे । ऐसे शिष्ट वातावरण में मुसलिम शिक्षा का अभ्युदय स्वाभाविक था ।

बीजापुर का द्वितीय सुलतान इसमाइल आदिल साहित्यिक तथा कलाकार था। संगीत, कविता तथा चित्रकारी में यह निपुण था । फलतः विद्वानों तथा कलाकारों से बीजापुर पूर्ववत् समृद्ध रहा ।

इसके शासन-काल की एक प्रमुख घटना यह है कि राज्य के हिसाब-किताब फारसी में न लिखकर हिन्दी में लिखे जाने लगे । इस कार्य के लिए अनेक सुयोग्य ब्राह्मण लेखकों की नियुक्ति हुई । युसूफ आदिल शाह के समय में भी ब्राह्मणों का प्रमुत्व था, जिससे हिन्दु शिक्षा को काफी प्रश्रय मिला । युसूफ आदिलशाह ने एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया, जिसके फलस्वरूप सांस्कृतिक सम्मिश्रण को प्रश्रय मिला और भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ । तारीखी-फेरिस्ता का सुप्रसिद्ध लेखक मुहम्मद कासिम इसी सुलतान के दरबार में था । आदिलशाही राजकीय पुस्तकालय की स्मृति अब भी बीजासुर के असीरी महल में अवशेष हैं । फरगसन के अनुसार इस पुस्तकालय की अधिकांश पुस्तकों को औरंगजेब ने दिल्ली मंगवा लिया था । जो कुछ भी बच पाईं, वे ऐतिहासिकों के लिए महत्त्व रखती हैं ।

४ गोलकुण्डा

मुहम्मद कुली कुतूब शाह का नाम शिक्षा के इतिहाह में उल्लेखनीय है । हैदराबाद नगर में इसने एक सुन्दर मस्जिद तथा चार मीनार बनवाये । इन मीनारों में मस्जिद से संलग्न मदरसे के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए जगहें निर्धारित थीं । मस्जिद की इमारत अत्यन्त कलापूर्ण

इसके अतिरिक्त कुतुबशाह ने अन्य भी कई बड़े तथा छोटे मदरसे संस्थापित किये । प्रायः सभी मदरसों में सुयोग्य अध्यापक नियुक्त थे । मदरसों की सजावट आदि भी प्रशंसनीय थी । इन बड़े विद्यालयों के साथ ही साथ राज्य में अनेक छोटे-छोटे शिक्षालय थे, जो कि बहुधा शिक्षकों के घर ही में अवस्थित थे ।

मालवा

मालवा राज्य का प्रतिष्ठापक, सुलतान महमूद-खिलजी एक विद्यानुरागी शासक था । अपने ३० वर्ष के दीर्घ शासनकाल में उसने अनेक रूप में शिक्षा-प्रसार को प्रोसाहित किया । देश-विदेश के साहित्यिक तथा दार्शनिक आमन्त्रित किये गये तथा उन्हें पूरी तरह सम्मानित किया गया । महमूद के शासनकाल में मालवा मुसलिम संस्कृति का एक सुप्रसिद्ध केन्द्र था । राज्य के विभिन्न प्रान्तों में अवस्थित मदरसे तथा मकतब महमूद के विद्या-प्रेम के ज्वलन्त प्रमाण थे । फेरिस्ता के अनुसार साहित्यिक क्षेत्र में मालवा शिराज तथा समरकन्द की प्रतिस्पर्द्धा कर सकता था ।

गियासुद्दीन के समय में मालवा के अन्तःपुर से विद्या की ज्योति निख-रती दिखलाई पड़ती है । अन्तःपुर की महिषियों तथा कुमारियों की शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध गियासुद्दीन ने बड़ी तत्परता से किया । महल की ७० रमणियों को कुरान जबानी याद था । सुलतान समय समय पर उनके मुख से कुरान की आयतों को सुनकर प्रसन्न होता ।

अकबर के समकालीन बाजबहादुर के समय में मालवा संगीत का एक सुविख्यात केन्द्र था ।

खानदेश

१४ वीं शताब्दी के अन्त से लगभग ५० वर्षों तक खानदेश की राज-नीतिक समुन्नति रही । इस काल में देश में शिक्षा की प्रगति भी अच्छी हुई । राजधानी बुरहानपुर के मदरसे का भग्नावशेष इसका प्रमाण है । नसिर खाँ फरुकी एक विद्यानुरागी शासक था । उसके ४० वर्षों के लम्बे राज्यकाल में विदेश के अनेक विद्वान् उनके दरबार में रहते थे । उन्हें शिक्षा प्रसार के कार्य के लिए फरुकी ने विभिन्न तरह के प्रोत्साहन दिये ।